मानस प्रकाशन
मानस मन्दिर, करौलबाग नई दिल्ली-5

विषय-सूची

प्रकाशक | **मानस प्रकाशन**
मानस मन्दिर, देशबन्धु गुप्ता रोड, करोल बाग, नई दिल्ली-५
मूल्य | ३० रुपया
मुद्रक | रूबी प्रिन्टिंग प्रेस दिल्ली-६

निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता की अनेक संस्कृत और भाषा टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से ज्ञानेश्वर महाराज-कृत भावार्थ-दीपिका नामक व्याख्या, जो पुरानी मराठी भाषा में लिखी है, दक्षिण में अत्युच्च श्रेणी में गिनी जाती है। यह ग्रन्थ साहित्य की दृष्टि से अनुपम है तथा सिद्धान्त की दृष्टि से भी अनोखा है। इसमें गीता के प्रत्येक श्लोक का केवल भाव ही दिया है पर सम्पूर्ण व्याख्यान अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति से भरा हुआ है। इस ग्रन्थ की यही विशेषता है। इसमें शाङ्कर-मतानुसार शुद्धाद्वैत मानते हुए साथ ही भक्ति का अत्यन्त सुरस, अत्यन्त प्रेमयुक्त और अत्यन्त हृदयङ्गम निरूपण किया है। संस्कृत में श्रीमद्भागवत जितनी मधुर है, हिन्दी में तुलसीकृत रामायण जितनी ललित है उतनी ही मनोहर मराठी में यह ज्ञानेश्वरी है। इसके प्रणेता श्रीज्ञानेश्वर महाराज महाराष्ट्र के प्रमुख सन्तों में से एक हैं। वे मराठी के आदि-कवि समझे जाते हैं। यह ग्रन्थ उन्होंने अपनी अवस्था के पन्द्रहवें वर्ष में लिखा है। इसी से उनकी लोकोत्तर बुद्धि और सामर्थ्य की कल्पना हो सकती है।

ज्ञानेश्वर महाराज का जन्म शक ११९७ [संवत् १३३२] में हुआ था। उनके पिता विट्ठल पन्त अत्यन्त वैराग्यशील थे। उन्होंने अनेक बार अपनी पत्नी से संन्यास-दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी पर उनके कोई पुत्र न था, इस कारण उसने न दी। एक समय जब उनकी स्त्री दुश्चित्त थी तब उन्होंने कहा कि मैं गङ्गा को जाता हूँ। स्त्री के मुँह से जाइए शब्द निकल गया। उसको आज्ञा समझकर विट्ठल पन्त ठेठ काशी को चले गये, और वहाँ संन्यास-दीक्षा ले श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य हो गये। श्रीरामानन्द स्वामी काशी में विख्यात थे। सन्त कबीर इन्हीं के शिष्य समझे जाते हैं।

एक बार श्रीरामानन्द स्वामी ने रामेश्वर को जाते हुए आलन्दी में मुकाम किया। वहाँ और स्त्रियों के समान विट्ठल पन्त की स्त्री ने भी उन्हें नमस्कार किया और स्वामीजी ने उसे "पुत्रवती

भव" कहकर आशीर्वाद दिया। यह सुन कर विट्ठल पन्त की स्त्री हँसी। स्वामीजी के कारण पूछने पर उसने अपनी कथा कही। उसका वर्णन सुनकर स्वामीजी ने निश्चय किया कि इसका पति विट्ठल पन्त है। स्त्री रहते हुए, पुत्र सन्तान न होते हुए और स्त्री की सम्मति न रहते हुए, संन्यास लेना उचित नहीं है; यों समझा कर स्वामीजी ने विट्ठल पन्त को फिर गृहस्थाश्रम लेने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा मान विट्ठल पन्त ने गृहस्थाश्रम स्वीकारा। अनन्तर उनके चार सन्तानें हुईं। प्रथम निवृत्तिनाथ [शक ११९५], फिर ज्ञानेश्वर महाराज [११९७], फिर सोपानदेव, और अन्त में मुक्ताबाई नामक एक कन्या हुई। ये सब बालक अपनी बाल्यावस्था से ही ज्ञान, योग और भक्ति के निवास ही जान पड़ते थे। एक बार रास्ता भूलकर निवृत्तिनाथ भटकते हुए अञ्जनी पर्वत पर एक गुहा में चले गये। वहाँ श्रीगैनीनाथ तप कर रहे थे। निवृत्तिनाथ उनके चरणों पर गिर पड़े और श्रीगैनीनाथ को भी उस कोमल बालक को देख आनन्द हुआ। अधिकारी देख उन्होंने उसे ब्रह्मोपदेश किया। तदनन्तर निवृत्तिनाथ ने वही ज्ञान ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई को दे उन्हें कृतार्थ किया। इस प्रकार उन बालकों को उस छोटी-सी अवस्था में सम्प्रदाय-दीक्षा भी प्राप्त हो गई। विट्ठल पन्त संन्यासी से गृहस्थ हुए थे। यह शास्त्रविहित-कर्म न था। इसलिए इन बालकों की उपनयन-विधि के लिए ब्राह्मण राजी न होता था। विट्ठल पन्त ने चाहे जो प्रायश्चित्त करना स्वीकार किया परन्तु ब्राह्मणों ने निर्णय किया कि इस दोष के लिए कोई प्रायश्चित्त ही नहीं, केवल देहान्त प्रायश्चित्त है। यह सुन कर विट्ठल पन्त ने प्रयाग जा त्रिवेणी में अपना देह अर्पण कर गृहस्थाश्रम लेने के समय जैसे गुरु की आज्ञा शिरसा मान्य की थी वैसे ही ब्राह्मणों के प्रति भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की। उस समय निवृत्तिनाथ केवल दस वर्ष के थे। प्रयाग से लौटे तो उनके भाई-बन्दों ने उन्हें अपने घर न आने दिया और उनकी सम्पत्ति का भाग भी उन्हें न दिया। अतः उन्हें भिक्षा-वृत्ति का आश्रय लेना पड़ा। उपनयन के लिए श्रीनिवृत्तिनाथ अधिक उत्सुक न थे। वे विरक्त थे, केवल ब्रह्मरूप थे; परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की सम्मति थी कि वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा होनी चाहिए। ब्राह्मण के लिए उपनयन आवश्यक है, अतएव शास्त्रानुसार उपनयन-विधि करनी चाहिए। इसलिए चारों भाई-बहन पैठन गये, परन्तु ब्राह्मणों

ने यह निर्णय किया कि संन्यासी के लड़कों का उपनयन शास्त्रानुकूल नहीं है। पर जब ज्ञानेश्वर महाराज ने योग-सिद्धि के कई चमत्कार दिखाये, तब ब्राह्मणों ने उनको लोकोत्तर सामर्थ्य देख कर उन्हें एक शुद्धि-पत्र लिख दिया कि ये चारों बालक अवतारी पुरुष हैं—इन्हें प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। श्रीज्ञानेश्वर के पैठन के चमत्कारों में से भैंसे के मुख से वेदोच्चार करवाना और श्राद्ध के लिए मूर्तिमान् पितरों को बुलवाना अत्यन्त प्रसिद्ध है। तदनन्तर चारों भाई-बहन आलन्दी गये। वहाँ भी कई चमत्कार हुए। वहाँ उनका काल निरन्तर वेदान्तचर्चा, कीर्तन, पुराण, भजन इत्यादि सत्कर्मों में जाता था। वे भागवत, योगवाशिष्ठ, गीता इत्यादि आध्यात्म-ग्रन्थों का निरूपण करते और संसार को परमार्थ-मार्ग का उपदेश करते थे। इसी काल [शक १२१२] में महाराज ने गीता पर भाष्य लिखा। वही ज्ञानेश्वरी वा भावार्थ-दीपिका नाम से प्रसिद्ध है। इस समय महाराज की अवस्था केवल १५ वर्ष की थी। अन्य सब चमत्कार छोड़ दीजिए, केवल इसी एक बात का विचार कीजिए कि जिस अवस्था में प्रायः अत्यन्त बुद्धिमान लड़का भी किसी साधारण विषय पर ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता उस अवस्था में अध्यात्म विषय पर ऐसा ग्रन्थ लिखना, जो आज छः सौ वर्षों के बाद भी शिरोधार्य है, कितना बड़ा चमत्कार है। ज्ञानेश्वरी के समान ओज के भरा हुआ, आत्मानुभव के प्रकाश से जगमगाता हुआ, प्रेम और भक्तिरस से थबथबाता हुआ दूसरा ग्रन्थ मिलना कठिन है। काव्यदृष्टि से देखिए चाहे भाषादृष्टि से—ज्ञानेश्वरी की कक्षा में रखने के योग्य थोड़े ही ग्रन्थ मिलेंगे। ज्ञानेश्वरी के अनन्तर महाराज ने अमृतानुभव नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने स्वतन्त्ररूप से सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्र का निरूपण किया है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त मनोहर और उच्च श्रेणी का है। इसके सिवाय महाराज ने और भी कुछ ग्रन्थ और अनेक पद अभङ्ग इत्यादि रचे हैं जिनसे उनके अलौकिक ज्ञान, अलौकिक सामर्थ्य, और अलौकिक भक्ति की कल्पना हो सकती है। तदनन्तर ज्ञानेश्वर महाराज तीर्थयात्रा के लिए निकले। अनेक क्षेत्रों में उनके अनेक चमत्कार हुए। जब काशी में पहुँचे तब वहाँ मुद्गलाचार्य नामक एक सत्पुरुष एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे। उसके लिए ब्राह्मणों का समुदाय इकट्ठा हुआ था और यज्ञ के समय अग्रपूजा का सन्मान

किसे दिया जाय, इस विषय पर वाद मच रहा था। अन्त में मुद्गलाचार्य ने एक हथिनी की सूँड़ में एक पुष्पमाला दी और यह ठहराया कि जिसके कण्ठ में हथिनी माला डालेगी उसी की अग्रपूजा की जावेगी। हथिनी ने उस समुदाय भर में श्रीज्ञानेश्वर के कण्ठ में माला पहना दी। महाराज की अग्रपूजा हुई और काशीविश्वेश्वर ने यज्ञ का पुरोडाश उनके हाथ से ग्रहण किया। तदनन्तर ज्ञानेश्वर उत्तर के सब तीर्थ कर द्वारका से मारवाड़ होते हुए पण्ढरपुर पहुँचे। अनेक स्थलों में उनके चमत्कार हुए जिनका साद्यन्त वर्णन स्थलसङ्कोच के कारण नहीं दिया जा सकता। हर जगह महाराज ने ज्ञानोपदेश किया और संसार को परमार्थ का मार्ग दिखाया। श्रीविट्ठल का दर्शन ले सब भाई-बहन आलन्दी लौट आये और अन्त तक वहीं रहे।

एक बार वहाँ चाङ्गदेव नामक योगी उनसे मिलने के लिए व्याघ्र पर सवार होकर आ रहे थे। उनको देखने के लिए महाराज अपने भाई-बहन-सहित एक दीवार पर जा बैठे और चाङ्गदेव का गर्व हरण करने के उद्देश्य से उन्होंने उस दीवार को चलने की आज्ञा दी। दीवार चलने लगी। यह देखकर चाङ्गदेव लज्जित हो गया। उनके ऐसे कई चमत्कार प्रसिद्ध हैं।

शक १२१८ में श्रीज्ञानेश्वर समाविस्थ हुए। उस समय वे २१ वर्ष के थे। उन्होंने जीवित समाधि ली। इन्द्रायणी नदी के तीर पर महाराज ने एक गुहा तैयार करवाई। कार्तिक वदी ११ को सब सन्तों ने मिल कर भजन किया, द्वादशी को सबने पारण किया। त्रयोदशी को श्रीज्ञानेश्वर ने तुलसीपत्र और बिल्वपत्र का आसन तैयार किया और समाधि में बैठने के लिए उद्यत हुए। श्रीविट्ठल ने स्वयं उनके ग्रन्थों की स्तुति की और उनके गले में एक फूलों का हार पहनाया। ज्ञानेश्वर ने उन्हें नमन किया। अन्य सब सन्तों ने महाराज का वन्दन किया और महाराज समाधिस्थान की प्रदक्षिणा कर, सब सन्तों के जयघोष के बीच, भीतर घुसे। एक हाथ श्रीविट्ठल ने और दूसरा श्रीनिवृत्तिनाथ ने पकड़ कर उन्हें आसन पर बैठाया और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। इस प्रकार महाराज ने अपने अवतार-कार्य की समाप्ति की; तथापि उनकी समाधि नित्य है। उनकी स्फूर्ति सर्वदा जागृत है, और संसार को सत्यमार्ग में प्रवृत्त करने के लिए समर्थ है।

ज्ञानेश्वरी के द्वारा महाराज ने संसार पर अनन्त उपकार किये हैं। जैसे इसमें उत्तम व्यवहार, उत्तम नीति, उत्तम धर्म, उत्तम ज्ञान प्रतिपादन किया है वैसे इसकी भाषा और काव्य भी अत्यन्त रमणीय है। इसे पढ़ कर अध्यात्म-विचार करनेहारा पाठक जितना सुखी होता है, इसके अध्यात्म-तत्त्वों का विवरण देख मुमुक्षुओं को जैसा समाधान होता है, वैसे ही इसकी गम्भीर भाषा, उदात्त विचार और उपमा दृष्टान्तादि अलङ्कारों को देख केवल साहित्य के प्रेमी पाठकों का हृदय भी आनन्द से भर जाता है।

इस ग्रन्थ में किस-किस अध्याय में किस-किस विषय का वर्णन है, यह महाराज ने अनेक स्थलों में कहा है। अन्त में महाराज कहते हैं कि गीता त्रिकाण्डात्मक श्रुति है। पहले अध्याय में अर्जुन का विषाद और दूसरे में संख्यायोग के वर्णन के पश्चात् तीसरे अध्याय में कर्मकाण्ड का निरूपण है, तथा चौथे से बारहवें के मध्य तक देवताकाण्ड और वहाँ से पन्द्रहवें के अन्त तक ज्ञानकाण्ड का वर्णन है। उसी सम्यक् ज्ञान के दृढ़ होने के लिए सोलहवें अध्याय में दैवासुर-सम्पत्ति कही है और प्रसङ्गानुसार सत्रहवें में तीन प्रकार की श्रद्धा का वर्णन किया गया है। अठारहवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज के ग्रन्थावलोकन से ज्ञात होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ में प्रायः श्रीशङ्कराचार्य के मत को ही माना है। परन्तु अद्वैत मत के साथ वे भक्ति का भी प्रतिपादन करते हैं। यही उनमें विशेषता है। अठारहवें अध्याय [११५०—५१] में महाराज ने स्पष्ट कहा है कि चन्दन के सङ्ग जैसे सुगन्ध रहती है, चन्द्रमा के सङ्ग जैसे चन्द्रिका रहती है, वैसे ही अद्वैत-ज्ञान के सङ्ग भक्ति भी अवश्य रहती है। सातवें अध्याय के श्लोक १६ और १७ में कहा है कि चार प्रकार के भक्तों में भगवान् को ज्ञानी भक्त ही सबसे अधिक प्रिय है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ज्ञानी भक्त शरीर और कर्म के वश भक्त प्रतीत होता है परन्तु उसे आत्मानुभव होने के कारण वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है। प्रश्न है कि जब ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होती है तो फिर भक्ति की क्या आवश्यकता है? परन्तु श्रुति का सिद्धान्त यही है कि भक्ति के बिना अखण्ड परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'

इस श्रुति का भी अर्थ यही है।

ज्ञान से सच्चिदानन्द-स्वरूप की सत्ता और चित्ता की प्रतीति होती है पर आनन्दवत्ता के लिए भक्ति की ही आवश्यकता है। इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान से मोक्ष होती है, तथापि केवल ज्ञान से उपाधि का नाश नहीं होता। अतएव उपाधि के नाश के लिए भी भक्ति की आवश्यकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान स्थिर होता है, और निदिध्यासन योग की रीति से ही सिद्ध होता है परन्तु योग में भी समाधि के व्युत्थान का सम्भव है। अतः सन्तत समाधि-सुख का अनुभव लेने के लिए भक्ति आवश्यक है।

भक्ति का स्वरूप शुद्ध प्रेम है। नारद ने कहा है कि "सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा" अर्थात् आत्मस्वरूप में परम प्रेम का नाम भक्ति है; तथा प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय कहा है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ईश्वर की सहजस्थिति का ही नाम भक्ति है। जिस अखण्ड प्रकाश से विश्व की स्थिति या अस्थिति है, जिस प्रकाश से अन्तरिक वासनानुसार जगत् की प्रतीति होती है उसे भक्ति कहते हैं [१८-१११३-१७]; एवं चन्द्र से जैसे चन्द्रिका भिन्न नहीं वैसे ही भक्ति भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, तथा चन्द्रिका जैसे भिन्न-सी जान पड़ती है वैसे ही भक्ति भी भिन्न-सी समझनी चाहिए। छठे अध्याय के दसवें श्लोक की व्याख्या में [११३ से १२० तक] महाराज ने इसी भिन्न-इव भक्ति का वर्णन किया है।

भक्ति तीन प्रकार की कही है :—(१) तस्यैवाहं, अर्थात् हनुमान् जी के समान निज को ईश्वर का दास इत्यादि समझना; (२) ममैवासौ, अर्थात् यशोदा इत्यादि के समान ईश्वर में वात्सल्यादि भाव रखना, और (३) स एवाहं, अर्थात् गोपिका प्रभृति के समान ईश्वर से एक हो जाना। आत्म-प्रेम सबसे अधिक होता है। उसी आत्म-स्वरूप परमात्मा में अनिर्वचनीय प्रेम का नाम ही अत्यन्त श्रेष्ठ भक्ति है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने जहाँ-तहाँ, विशेषतः अठारहवें अध्याय के श्लोक ५५ की व्याख्या में, इसी भक्ति का वर्णन किया है।

श्रीज्ञानेश्वरार्पणमस्तु।

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

ज्ञानेश्वरी

पहला अध्याय

हे ओंकार! हे वेदों से ही वर्णनीय आदिरूप! आपको नमस्कार है। स्वयं आप ही अपने को जाननेहारे हे आत्मरूप! आपका जय-जयकार हो। (१) हे देव, मैं निवृत्ति का दास निवेदन करता हूँ, सुनिए, आप ही सकल अर्थ और बुद्धि के प्रकाशित करनेहारे गणेश हैं। (२) ये जो अखिल वेद हैं वही आपकी सुन्दर मूर्त्ति हैं। और वेद के अक्षर आपका निर्दोष शरीर है। (३) स्मृतियाँ आपके अवयव हैं। शरीर के भाव देखिए तो अर्थ की सुन्दरता आपके लावण्य की द्युति है। (४) अठारह पुराण आपके मणि-भूषण हैं, प्रमेय रत्न हैं और पद-रचना उनका कुन्दन है। (५) उत्तम-पद-लालित्य आपका रँगा हुआ वस्त्र है, जिसमें साहित्यशास्त्र ही उज्ज्वल और महीन ताना-बाना है। (६) देखिए, काव्य और नाटक, जिनको देखते ही सानन्द आश्चर्य होता है, रुमझुम करनेवाली आपकी क्षुद्रघण्टियाँ हैं। और काव्य-नाटकों का अर्थ उन घण्टियों की ध्वनि है। (७) अनेक प्रकार के तत्त्वार्थ और उनकी कुशलता अच्छी तरह देखने पर उन तत्त्वार्थों के उत्तम पद उन काव्यादि घण्टियों के बीच चमकनेवाले रत्न मालूम होते हैं। (८) व्यासादि ऋषियों की बुद्धि मेखला-सी सुहाती है, और उसका तेज उस मेखला के पल्लव का अग्रभाग-सा चमकता है। (९) देखिए, जो षड्दर्शन कहलाते हैं वही आपकी भुजाएँ हैं; और जो भिन्न भिन्न मत हैं वही आपके शस्त्र हैं। (१०) तर्कशास्त्र फरसा है, न्यायशास्त्र अंकुश है, और वेदान्त अत्यन्त सुरस मोदक जैसा शोभता है। (११) एक हाथ में जो आप ही आप टूटा हुआ दन्त है सो वार्त्तिककारों के व्याख्यान से खण्डित किये हुए बौद्ध मत का संकेत है; (१२) तथा जो वरदायक कर-कमल है सो सहज ही सत्कार-वाद का

सूचक है और धर्म की प्रतिष्ठा आपका अभय कर है। (१३) देखिए, जिसमें महासुख का परमानन्द है वह अत्यन्त निर्मल विवेक आपकी लम्बी सूँड़ है। (१४) उत्तम संवाद आपके सम और शुभ्रवर्ण दन्त हैं, और हे देव, हे विघ्नराज! ज्ञान-दृष्टि आपके सूक्ष्म नेत्र हैं। (१५) दोनों मीमांसाएँ दोनों कानों के स्थान में दिखाई देती हैं; ज्ञानामृत मद है और ज्ञानवान् मुनि उसका सेवन करनेवाले भ्रमर जान पड़ते हैं। (१६) तत्त्वार्थ प्रकाशमान प्रवाल है, द्वैत और अद्वैत निकुम्भ हैं, और दोनों का जिस स्थान में एकीकरण होता है वही आपका मस्तक शोभता है। (१७) वेद और उपनिषद्, जो उत्तम ज्ञानामृत से युक्त हैं सो, आपके मस्तक पर रक्खे हुए मुकुट में पुष्पों के समान शोभा देते हैं। (१८) अकार आपके दोनों चरण हैं, उकार विशाल उदर है और मकार मस्तकाकार महामण्डल है। (१९) ये तीनों जहाँ एक होते हैं वहाँ वेद समाविष्ट हैं। उसी आदि-बीज ओंकार को मैं श्रीगुरु की कृपा से नमस्कार करता हूँ। (२०) तदनन्तर, जो अपूर्व वाणी में विलास करनेहारी, चातुर्य-अर्थ और कलाओं में प्रवीण, विश्वमोहिनी सरस्वती है उसे नमस्कार करता हूँ। (२१) जिनके कारण मैं इस संसाररूपी जल के पार हुआ वे मेरे सद्गुरु मेरे हृदय में हैं; इसलिए विवेक पर मेरा विशेष प्रेम है। (२२) जैसे आँख में अञ्जन लगाने से दृष्टि फैलती है और देखते ही भूमि में गड़ा हुआ द्रव्य दिखाई देता है, (२३) अथवा जैसे चिन्तामणि के हाथ लगने से सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं वैसे ही, श्री-निवृत्ति के कारण मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए हैं। (२४) इसलिए जो बुद्धिमान् हैं उन्हें चाहिए कि गुरु-सेवा करें और कृतार्थ हों। जड़ में पानी सींचने से जैसे सब शाखा-पल्लवों की पुष्टि होती है, (२५) अथवा, त्रिभुवन में जितने तीर्थ हैं उन सबका पुण्य जैसे समुद्र के स्नान से प्राप्त हो जाता है, किंवा अमृत-रस के स्वाद से जैसे सब रसों का आस्वाद मिल जाता है (२६) उसी न्यायानुसार मैं बारंबार श्रीगुरु की ही वन्दना करता हूँ, क्योंकि सब अभिलाष और मनोरुचि के पूर्ण करनेहारे वही हैं। (२७) अब उस गहन कथा को श्रवण कीजिए जो सकल कथाओं की जन्म-भूमि है और जो विवेक-रूपी वृक्षों का एक अपूर्व बगीचा है; (२८) अथवा यह कथा सब सुखों की नींव है, सिद्धान्त-रत्नों का भाण्डार है, अथवा नवरसरूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है; (२९) अथवा यह खुला हुआ परम-धाम है, सब विद्याओं की मूल-भूमि है और अशेष शास्त्रों का आश्रय

है; (३०) अथवा सब धर्मों की मातृभूमि, सज्जनों का प्रेमास्पद, सरस्वती के लावण्य-रत्नों का भाण्डार है; (३१) अथवा सरस्वती स्वयं व्यास महामुनि की बुद्धि में प्रवेश कर तीनों जगतों में इस कथारूप से प्रकट हुई है। (३२) इसलिए यह कथा सब काव्यों में श्रेष्ठ है, तथा सब ग्रन्थों के महत्त्व की जड़ है। इसी से सब रसों को सुरसता प्राप्त हुई है। (३३) और भी सुनिए। शब्दलक्ष्मी इसी से शाश्वती हुई है और आत्मज्ञान की कोमलता इसी में दुगुनी बढ़ी हुई है। (३४) चातुर्य्य ने इसी से चतुराई सीखी है, सिद्धान्त इसी से रुचिर बने हैं और सुख के सौभाग्य की वृद्धि इसी से हुई है। (३५) माधुर्य्य की मधुरता, शृङ्गार की सुरूपता और योग्य वस्तु की श्रेष्ठता इसी कथा में उत्तम दिखाई देती है। (३६) कलाओं को इसी से कौशल प्राप्त हुआ है, पुण्य का प्रताप इसी से बढ़ा हुआ दिखाई देता है। इसी के कारण जनमेजय के पाप सहज लीला से ही नष्ट हो गये। (३७) और पल भर सुनिए। रङ्गों की सुरङ्गता इसी से बढ़ी है, तथा गुणों को सुगुणता का दीर्घ बल इसी कथा में प्राप्त हुआ है। (३८) सूर्य्य के प्रकाश से उज्ज्वल त्रिलोक जैसे प्रकाशित दिखाई देता है वैसे ही व्यास मुनि की बुद्धि से आच्छादित जगत् शोभा दे रहा है। (३९) अथवा उत्तम खेत में बोया हुआ बीज जैसे मनमाना फैलता है, वैसे ही इस भारती-कथा में सब विषय सुशोभित हो रहे हैं। (४०) अथवा नगर में बसने से जैसे मनुष्य चतुर हो जाता है, वैसे ही व्यास मुनि की वाणी के प्रकाश से सब जगत् ज्ञानमय हो गया है। (४१) जैसे यौवन के समय स्त्रियों के शरीर में लावण्य की शोभा विशेष प्रकट होती है, (४२) अथवा वसन्त-ऋतु आते ही वन-शोभा की खानि पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खुल जाती है, (४३) अथवा जैसे सोने का पाँसा देखने में साधारण होता है, परन्तु अलङ्कार बनने पर उसकी उत्तमता प्रकट होती है (४४) वैसे ही व्यास मुनि के वचनों से अलंकृत होने के कारण इस कथा को अत्यन्त उत्तमता प्राप्त हुई है; और यही जान कर इतिहास ने उसे आश्रय दिया है। (४५) नहीं नहीं, पूर्ण प्रतिष्ठा के हेतु स्वयं नम्रता स्वीकार कर सब पुराण इस आख्यानरूप से महाभारत में आकर जगत् में प्रसिद्ध हुए हैं। (४६) इसलिए जो बात महाभारत में नहीं है वह तीनों लोकों में नहीं है। इसी कारण कहा जाता है कि जगत्त्रय व्यास का उच्छिष्ट है। (४७) इस प्रकार जगत् में जो सुरस कथा है, और जो परमार्थ की जन्म-

भूमि है, उसे वैशम्पायन मुनि नृपराज जनमेजय से कहते हैं। (४८) ऐसी जो उत्तम, अद्वितीय, पवित्र, उपमा-रहित और परम-कल्याण-कारक कथा है उसे सुनिए। (४९) श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सङ्ग जो संवाद किया वह गीताख्य विषय भारतरूपी कमल की धूलि है; (५०) अथवा वेदरूपी समुद्र का मन्थन करके व्यास की बुद्धि ने यह अपार नव-नीत निकाला है (५१) और वही फिर ज्ञानरूपी अग्नि की विचाररूपी ज्वाला में तपाने से परिपक्व हो घृत की सुगन्ध को प्राप्त हुआ है। (५२) विरक्तों को जिसकी इच्छा करनी चाहिए, सन्तों को जिसका सदा अनुभव करना चाहिए, पहुँचे हुए पुरुषों को सोऽहंभाव से जहाँ रममाण होना चाहिए, (५३) भक्तों को जिसका श्रवण करना चाहिए, और जो तीनों जगतों में परमपूज्य है, ऐसी यह कथा भीष्मपर्व में कही गई है। (५४) इसे भगवद्गीता कहते हैं। ब्रह्मा और शंकर ने इसकी प्रशंसा की है। सनकादिक इसका प्रेम से सेवन करते हैं। (५५) जैसे चकोर पक्षी के बच्चे शरत्काल की चाँदनी के कोमल अमृत-कणों को अन्तःकरणपूर्वक चुन लेते हैं। (५६) वैसे ही श्रोताओं को चित्त में उत्सुकता धारण कर इस कथा का अनुभव करना चाहिए। (५७) इस कथा का संवाद शब्द के विना करना चाहिए, इसे इन्द्रियों को मालूम न होते भोगना चाहिए, और शब्दोच्चार के पहले ही इसका सिद्धान्त जान लेना चाहिए। (५८) भ्रमर जैसे फूल का पराग ले जाते हैं, परन्तु कमलों के दल को इससे कुछ संवेदना नहीं होती वैसी ही रीति इस ग्रन्थ के सेवन करने की है। (५९) जैसे अपना स्थान न छोड़ते, चन्द्रोदय होते ही आलिङ्गन-प्रेम का उपभोग केवल कुमुदिनी ही जानती है, (६०) वैसे ही जिसका अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है वही इस कथा का सम्मान करना जानता है। (६१) अहो! श्रवण करने के [illegible] में अर्जुन की पंक्ति के योग्य आप सब सन्त कृपा कर सुनिए। (६२ मैं जो इस प्रकार निर्भयता से कहता हूँ और आपके चरणों से [illegible] करता हूँ, उसका कारण यह है कि हे प्रभो! आपका हृदय गम्भीर है (६३) जैसे माता-पिता का यह स्वभाव ही रहता है कि बालक यद्य तोतले शब्द बोले तथापि वे सन्तुष्ट होते हैं, (६४) वैसे ही आप स ने मेरा अङ्गीकार किया और मुझे अपनाया है, तो फिर मुझे यह प्रा करने की आवश्यकता ही क्या है कि मेरी त्रुटियाँ क्षमा की जावें? (६ परन्तु अपराध दूसरा ही है; वह यह कि मैं गीता के अर्थ का आ

किया चाहता हूँ और उसे सुनने की आपसे प्रार्थना किया चाहता हूँ। (६६) मेरे चित्त में वृथा धैर्य उपजा है, जिससे मैं यह नहीं विचारता कि यह बात कितनी कठिन है। सूर्य के तेज के सामने भला खद्योत की क्या शोभा है ? (६७) जैसे एक टिटहरी अपनी चोंच में पानी भर कर समुद्र का माप करने के लिए तैयार हुई थी वैसे ही मैं भी गीता का महत्त्व न जानते उसका अर्थ करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। (६८) सुनिए, आकाश का आच्छादन करना हो तो उससे अधिक बड़ा हुए बिना न हो सकेगा इसलिए विचार कर देखने से यह कार्य अशक्य जान पड़ता है। (६९) इस गीतार्थ का महत्त्व स्वयं शंकर ने वर्णन किया है। जब भवानी ने कुतूहल से प्रश्न किया (७०) तब शंकर ने कहा—हे देवि ! जैसे तुम्हारा स्वरूप नित्य नूतन दिखाई देता है, वैसे गीतातत्त्व भी सदा नवीन ही है। (७१) यह वेदार्थसमुद्र जिस सोये हुए पुरुष के घर्राटे का शब्द है उसी श्रीसर्वेश्वर ने स्वयं इसे कथन किया है। (७२) जो ऐसा अगाध है, जहाँ वेद भी स्तब्ध हो जाते हैं, वहाँ मैं छोटा-सा मतिमन्द कः पदार्थ हूँ ? (७३) इस अपार वस्तु का आकलन कैसे किया जा सकता है ? सूर्य्य का तेज कौन उज्ज्वल कर सकता है ? मशक की मुट्ठी में गगन किस प्रकार समा सकता है ? (७४) परन्तु इस विषय में मुझे एक आधार है। उसी की बदौलत मैं धैर्य्य से बोल रहा हूँ। वह यह है कि श्रीगुरु मेरे अनुकूल हैं; (७५) नहीं तो मैं तो मूर्ख हूँ। यद्यपि मैंने अविवेक का काम किया है तथापि आप सन्तों का कृपारूप दीपक तो प्रकाशित है। (७६) लोहे को सुवर्ण बनाने की सामर्थ्य पारस में है; अमृत-सिद्धि से मृत मनुष्य को भी जीवन का लाभ हो सकता है; (७७) सिद्धि-सरस्वती प्रकट हो तो गूँगे को भी वाणी फूटती है; इन बातों में क्या आश्चर्य है ? यह वस्तु की सामर्थ्य है। (७८) किंवा कामधेनु जिसकी माता है उसे क्या कुछ दुर्लभ है ? अतएव मैं इस ग्रन्थ के विवरण करने का सा[illegible] ता हूँ, (७९) तथा विनती करता हूँ कि जो कुछ न्यून हो उसे पूर्ण कर [illegible]ए और जो कुछ अधिक हो सो छोड़ दीजिए। (८०) अब सुनिए। आप जैसी शक्ति देंगे वैसा ही मैं बोलूँगा। जैसे काठ का पुतला सूत्र के अधीन हो नाचता है, (८१) वैसे ही मैं आप साधुओं का अनुगृहीत तथा आज्ञाधारक हूँ। आप अपने ही इच्छानुसार मुझे अलंकृत कीजिए। (८२) तब श्रीगुरु बोले—ठहरो, इतना कहने की कुछ

आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थ की ओर जल्दी ध्यान दो। (८३) यह वचन सुनकर निवृत्ति के दास अत्यन्त आनन्दित हो बोले कि मन को स्थिर करके सुनिए। (८४)

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

पुत्र-प्रेम से मोहित हो धृतराष्ट्र पूछने लगे कि हे सञ्जय! कुरुक्षेत्र की कथा कहो। (८५) जिसे धर्म का स्थान कहते हैं वहाँ, मेरे पुत्र और पाण्डव युद्ध के निमित्त गये हैं। (८६) इस समय तक वे आपस में क्या कर रहे हैं? (८७)

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

सञ्जय ने कहा—प्रथम पाण्डवों की सेना ऐसी क्षुब्ध हो गई कि जैसे महाप्रलय के समय कृतान्त ने मुँह फैलाया हो। (८८) वह अत्यन्त सघन सेना एकदम भभक उठी; जैसे कालकूट विष क्षुब्ध होकर सब दूर छा जाय तो उसे कौन शमन कर सकता है? (८९) अथवा जैसे बड़वानल प्रलय-काल की वायु से पुष्ट होकर समुद्र का शोषण करता है और उससे आकाश तक प्रदीप्त हो जाता है, (९०) वैसे ही यह दुर्धर सेना नाना प्रकार के व्यूहों से रची हुई मुझे उस समय भयानक दिखाई दी। (९१) उसे देखकर दुर्योधन ने उसका इस तरह तिरस्कार किया कि जैसे सिंह हाथियों के समूह की परवा नहीं करता। (९२) फिर वह द्रोण के पास आया और उनसे कहने लगा कि देखो, पाण्डवों का दल कैसा भभक रहा है। (९३) बुद्धिमान् द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने इस सेना में चहुँओर अनेक व्यूह रचे हैं जो मानों चलते हुए पहाड़ी क़िले ही हैं। (९४) देखिए, आपने जिस शिष्य को अपनी विद्या का आश्रयस्थान बनाया है उसी ने इस सेनारूपी समुद्र का विस्तार किया है। (९५)

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

तथा यहाँ और भी शस्त्रास्त्र में प्रवीण और क्षात्रधर्म में निपुण बड़े बड़े वीर आये हैं (९६) जो बल, प्रौढ़ता और पुरुषार्थ में भीम और अर्जुन के समान हैं। उनका मैं प्रसंगानुसार कुतूहल से वर्णन करता हूँ। (९७) ये वीर महायोद्धा युयुधान राजा, विराट् राजा और श्रेष्ठ महारथी द्रुपद राजा हैं। (९८)

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्य्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्य्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

ये देखिए चेकितान हैं, ये धृष्टकेतु हैं, ये पराक्रमी काशिराज हैं, ये नृत्तश्रेष्ठ उत्तमौजा और शैब्य हैं। (९९) देखिए, ये कुन्तीभोज हैं। ये युधामन्यु हैं और देखिए, ये पुरुजित् आदि सब राजा हैं। (१००) दुर्योधन ने और भी कहा—हे द्रोण देखिए, यह सुभद्रा के हृदय को आनन्द देनेवाला उसका पुत्र अभिमन्यु है, जो मानों दूसरा अर्जुन ही हो; (१) तथा ये सब द्रौपदी के पुत्र और अनेक महारथी वीर एकत्रित हैं जिनकी गिनती भी नहीं हो सकती। (२)

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ।७॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अब प्रसंगानुसार हमारे दल में जो मुख्य प्रसिद्ध वीर और योद्धा हैं उनका वर्णन करता हूँ—(३) आप जिनमें मुखिया हैं उन प्रमुख वीरों में से पहचान के लिए एक दो के नाम लेता हूँ। (४) ये गङ्गानन्दन भीष्म हैं जो प्रताप में तेजस्वी सूर्य के समान हैं। ये शत्रु-रूपी हाथी को सिंह के समान नाश करनेवाले वीर कर्ण हैं। (५) ये एक एक ऐसे हैं कि जिनके संकल्पमात्र से इस विश्व की उत्पत्ति या संहार हो सकता है। ये एक कृपाचार्य ही क्या इस विषय में समर्थ नहीं हैं? (६) ये

वीर विकर्ण हैं। देखिए, ये अश्वत्थामा हैं। कृतान्त भी मन में इनका डर रखता है। (७)

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

समितिञ्जय, सोमदत्ति इत्यादि और भी बहुत से वीर हैं जिनके बल का अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। (८) ये शस्त्रविद्या में प्रवीण हैं और मन्त्रविद्या के मूर्त्तिमान अवतार हैं। सब अस्त्रविद्या इन्हीं के कारण जगत् में प्रसिद्ध हुई है। (९) जगत् में इनके समान मल्ल नहीं हैं। इनमें पूर्ण प्रताप है। तथापि सबने प्राणों समेत मेरा ही अनुसरण किया है। (११०) पतिव्रता का हृदय जैसे पति के सिवा किसी वस्तु का स्पर्श नहीं करता वैसे ही इन उत्तम योद्धाओं का मन मेरी ओर खिंचा हुआ है। (११) ये ऐसे उत्तम और निःसीम स्वामिभक्त हैं कि हमारे कार्य के सामने अपने प्राणों को भी कुछ नहीं समझते। (१२) ये सब युद्ध का चातुर्य जानते हैं और अपना कला से कीर्ति को जीतते हैं। बहुत क्या कहूँ, क्षत्रिय-धर्म इन्हीं से प्रसिद्ध हुआ है। (१३) ऐसे सब प्रकार से पूर्ण वीर हमारे दल में हैं। इनकी गणना क्या करूँ? ये अनगिनती हैं। (१४)

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

सिवाय इसके जो क्षत्रियों में श्रेष्ठ है, जो जगत् में अत्यन्त श्रेष्ठ योद्धा है, उस भीष्म को हमारे दल के सेनापतित्व का अधिकार है। (१५) इसके बल का आश्रय पाकर यह सेना दुर्ग के समान फैली है। इसके सामने तीनों लोक अल्प दिखाई देते हैं। (१६) देखिए, समुद्र एक तो पहले ही डरावना होता है, और फिर उसमें जैसे बड़वानल सहकारी हो जावे; (१७) अथवा प्रलयकाल की अग्नि और महावात इन दोनों का जैसे संयोग हो जावे, वैसा ही हाल गंगासुत के सेनापति होने से इस सेना का दिखाई देता है। (१८) अब इससे कौन भिड़ सकता है? इसकी तुलना में यह पाण्डवों की सेना, जिसका सेनापति यह बलाढ्य भीमसेन है, सचमुच अल्प दिखाई देती है। (१९) इतना कहकर वह स्तब्ध हो गया। (१२०)

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

फिर दुर्योधन ने सब सेनापतियों से कहा कि अब अपनी अपनी सेना तैयार करो, जो अक्षौहिणियाँ जिसके अधीन हैं उसको उन्हें रण-भूमि में लाना चाहिए, और जो जो महारथी हैं उनको अपनी अपनी सेनाएँ बाँट लेनी चाहिए। (२१-२२) और उन्हें अपने अधीन रख भीष्म की आज्ञा में रहना चाहिए फिर उसने द्रोण से कहा कि आप सब सेना की देख-रेख रखिए (२३) और इस भीष्म की रक्षा कीजिए। इसे मेरे समान मानिए, क्योंकि हमारे दल की स्थिति इसी पर निर्भर है। (२४)

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

राजा के इस वचन से सेनापति भीष्म को संतोष हुआ और उसने सिंह के समान गर्जना की। (२५) वह अद्भुत सिंहनाद दोनों सेनाओं के बीच गरजा और उसकी प्रतिध्वनि ऐसी उठी कि वहाँ समा न सकी। (२६) इतने में उस प्रतिध्वनि के समान ही भीष्मदेव ने अपनी वीरवृत्ति की सामर्थ्य से अपना दिव्य शंख फूँका। (२७) ये दोनों नाद एकत्र हुए तब सब त्रैलोक्य बहिरा-सा हो गया, ऐसा जान पड़ा मानों आकाश ही टूटकर गिर पड़ा हो। (२८) संपूर्ण वायु-मण्डल गरज उठा, समुद्र उबलने लगा और सब चराचर क्षुब्ध हो कँप उठे। (२९) उस महाघोष की गर्जना पहाड़ों की गुफाओं में घूम ही रही थी, इतने में सेनाओं में मारू बाजे बजने लगे। (१३०)

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

कई बाजे बजाये गये, जो भयानक और कर्कश थे और जिन्हें सुनकर बलवानों को भी प्रलयकाल-सा जान पड़ता था। (३१) नौबतें, निशान, शंख, झाँझें और रणसींगे बजने लगे और बड़े बड़े योद्धाओं के भयानक रणशब्दों का कोलाहल होने लगा। (३२) वे आवेश से ताल ठोकने लगे तथा जोर जोर से एक दूसरे को लड़ाई के लिए ललकारने लगे। जहाँ हाथी ऐसे बेक़ाबू हो गये कि रोके नहीं जा सकते

थे (३३) तहाँ डरपोकों की क्या कथा? जा कच्चे थे वे तो कचरे के समान उड़ते थे। यह दृश्य देखकर कृतान्त भी डर से सूख गया। (३४) कई एकों के प्राण खड़े खड़े निकल गये, अच्छे अच्छों के दाँत भिच गये, और बड़े बड़े विरुदवाले काँपने लगे। (३५) ऐसी अद्भुत वाद्यध्वनि सुनकर ब्रह्मा भी व्याकुल हो गये और देव कहने लगे कि आज हमारा प्रलयकाल आ पहुँचा। (३६)

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

यह कोलाहल देखकर स्वर्ग में जब यह हाल हुआ तब पाण्डवों के दल में क्या हो रहा था? (३७) जो मानों विजयश्री का सारभूत अथवा सूर्य के तेज का भाण्डार है, जिसमें गरुड़ की बराबरी करनेवाले चार घोड़े जुते हैं, (३८) अथवा जो सपक्ष मेरु पर्वत के समान दिखाई देता है वह रथ वहाँ शोभा दे रहा था। उसके तेज से चारों दिशाएँ भर गई थीं। (३९) जिस रथ का सारथी वैकुण्ठ का राजा था उसके गुणों का मैं क्या वर्णन करूँ। (१४०) अर्जुन के ध्वजस्तंभ पर हनुमान् विराजे हैं। वह स्वयं मूर्त्तिमान् शङ्कर हैं और श्रीकृष्ण उसके सारथी हैं। (४१) उस प्रभु का नवल भक्तप्रेम देखिए कि वह पार्थ का सारथीपन कर रहा है, (४२) तथा सेवक को पीछे रख आप आगे को खड़ा है। उसने सहज-लीला से अपना पाञ्चजन्य शंख फूँका। (४३) उसका महाघोष गम्भीरता से गरजने लगा। सूर्य उदय होते ही जैसे नक्षत्रों का लोप हो जाता है, (४४) वैसे यह महाघोष होते ही कौरव-सेना में जो रणवाद्य चहुँ ओर गरज रहे थे वे न जाने कहाँ लुप्त हो गये। (४५) फिर देखिए, अर्जुन ने भी बड़ी गर्जना के साथ देवदत्त नामक शङ्ख बजाया। (४६) उस समय दोनों अद्भुत ध्वनियाँ इकट्ठी मिलते ही सब ब्रह्माण्ड मानों टुकड़े-टुकड़े होने लगा। (४७) तब भीमसेन को भी आवेश चढ़ा और उसने महाकाल के समान क्षुब्ध हो पौण्ड्र नामक

महाशंख बजाया। (४८) वह प्रलयकाल के मेघ के समान गंभीरता से गड़गड़ा रहा था। इतने में युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख फूँका। (४९) नकुल ने सुघोष, और सहदेव ने मणिपुष्पक शंख फूँके जिनके निनाद से यम भी घबरा उठा। (१५०)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

द्रुपद, दौपदी के पुत्रादिक, महाबाहु काशिराज इत्यादि वहाँ जो अनेक राजा उपस्थित थे (५१) तथा अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, अपराजित सात्यकी, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी, (५२) विराट इत्यादि राजा और जो मुख्य सैनिक वीर थे उन सबने अनेक शंख लगातार बजाये। (५३) उस महाघोष के धक्के से शेष, कूर्म एकाएक घबरा कर भूमि का भार छोड़ने की चेष्टा करने लगे। (५४) उस समय तीनों लोक कम्पित होने लगे। मेरु और मान्दार डगमगाने लगे और समुद्र का जल कैलास तक उछलने लगा। (५५) पृथ्वीतल ऐसा जान पड़ता था कि मानों उलटा ही हो, आकाश मानों टूटा पड़ता था और नक्षत्रों की वर्षा हो रही थी। (५६) सत्यलोक में हल्ला हो गया कि सृष्टि डूब गई; देव निराश्रित हो गये, (५७) दिन रहते ही सूर्य छिप गया; मानों प्रलयकाल ही छा रहा हो। इस प्रकार तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। (५८) यह देखकर आदि-नारायण विस्मय से कहने लगे कि ऐसा न हो कि अन्त ही हो जावे। तब उन्होंने उस अद्भुत आवेश को खींच लिया। (५९) इससे जगत् का बचाव हुआ, नहीं तो कृष्णादिकों के महाशंख बजाना आरम्भ करते ही प्रलय ही आ पहुँचा था। (१६०) यद्यपि वह घोष बन्द हो गया तथापि उसकी जो प्रतिध्वनि हो रही थी उसने कौरवों की सेना का विध्वंस कर दिया। (६१) जैसे हाथियों के समूह के बीच घिरा हुआ सिंह सहज ही उस समूह का विदारण कर डालता है वैसे ही वह प्रतिध्वनि कौरवों के हृदयों का छेदन करती थी। (६२) ज्योंही वे

उसकी गर्जना सुनते त्योंही खड़े खड़े गिर पड़ते थे और एक दूसरे को सचेत रहने की सूचना करते थे। (६३)

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

तब जो बल से पूर्ण महारथी वीर थे उन्होंने सेना को फिर से जमा किया, (६४) और वे बड़ी तैयारी के साथ आगे बढ़े तथा दुगुने आवेश से चढ़ाई करने लगे। उस सेना से तीनों लोक क्षुब्ध हो गये। (६५) उन धनुर्धारी वीरों ने वाणों की ऐसी लगातार वर्षा की कि मानों वे प्रलयकाल के अनिवार्य मेघ ही हों। (६६) यह देखकर अर्जुन को मन से संतोष हुआ और उसने आवेश से सब सेना की ओर दृष्टि फेंकी; (६७) और सब कौरवों को युद्ध के लिए तैयार देखकर उसने भी लीला से धनुष उठाया। (६८)

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

और श्रीकृष्ण से कहा—हे देव! अब रथ जल्दी से आगे बढ़ाकर दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो, (६९)

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ २२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

जिससे मैं क्षण भर इन सब सैनिक वीरों को देख लूँ जो युद्ध के लिए उद्यत हैं। (१७०) क्योंकि यहाँ आये तो सभी हैं परन्तु मुझे यह देखना चाहिए कि मुझे किसके साथ लड़ना योग्य है। (७१) क्योंकि कौरव प्रायः उतावले और दुःस्वभाव रहते हैं, पराक्रम बिना युद्ध की अभिलाषा रखते हैं; (७२) युद्ध की तो इच्छा रखते हैं परन्तु युद्ध के समय धैर्यवान् नहीं होते। राजा से इतना कहकर सञ्जय और बोले कि (७३)

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

सुनिए, अर्जुन के ऐसा कहते ही श्रीकृष्ण ने रथ आगे बढ़ाया और दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दिया। (७४)

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥२७॥

और जहाँ भीष्म-द्रोणादिक नातेदार सामने ही खड़े थे और अन्य भी बहुत-से राजा लोग थे (७५) वहीं रथ ठहरा कर अर्जुन शीघ्रता से उस समग्र सेना को देखने लगा (७६) और फिर बोला—"हे देव! देखिए देखिए, ये सब अपने ही कुल के श्रेष्ठ जन हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्ण के मन में क्षण भर विस्मय हुआ। (७७) वे मन में कहने लगे कि न जाने इसके मन में यह क्या आया है! परन्तु क्या आश्चर्य है... (७८) इस प्रकार उन्हें होनहार बात का स्मरण हुआ। वे सहज ही उसका अंतरात्मा जान गये, परन्तु उस समय स्तब्ध हो रहे और कुछ न बोले। (७९) यहाँ अर्जुन ने अपने सब पितृ, पितामह, गुरु, भ्राता और मातुलों की ओर देखा। (१८०) अपने इष्ट-मित्र, कुमारजन भी देखे। वे सब युद्ध के लिए आये हुए वीरों में उपस्थित थे। (८१) मित्रगण, श्वशुर और अन्य सगे सम्बन्धी, कुमार और नाती आदि को अर्जुन ने वहाँ उपस्थित देखा। (८२) जिनका उसने उपकार किया था, अथवा संकट के समय जिनकी रक्षा की थी वही नहीं बरन सब बड़े छोटे (८३) गोत्रज दोनों सेनाओं में युद्ध के लिए उत्सुक देख पड़े। (८४)

कृपया परयाऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३० ॥

तब उसके अन्तःकरण में गड़बड़ मच गई और आप ही आप कृपा उत्पन्न हुई। इस अपमान के कारण वीरवृत्ति उसे छोड़कर चली गई। (८५) जो स्त्रियाँ उत्तम कुल की होती हैं और सद्गुणी और सौन्दर्य-सम्पन्न होती हैं वे अपने तेज के कारण अपने पति के साथ अन्य स्त्री का सहवास नहीं सह सकतीं। (८६) नूतन स्त्री की इच्छा से कामीजन जैसे अपनी स्त्री को भूल जाता है और वह नूतन स्त्री के योग्य न हो तो भी भ्रम से उसका अनुसरण करता है, (८७) अथवा तप के बल से संपत्ति प्राप्त होते ही जैसे बुद्धि का भ्रंश हो जाता है और फिर उस तप करनेहारे को वैराग्य की सिद्धि प्राप्त नहीं होती, (८८) वैसे ही उस समय अर्जुन का हाल हुआ। अन्तःकरण में दया को स्थान देने से, वहाँ जो पुरुष-वृत्ति बसती थी वह चली गई। (८९) देखिए, मंत्रज्ञ मंत्रोच्चार में भूल करे तो जैसे उसे भूत-संचार हो जाता है वैसे ही अर्जुन को उस समय महामोह ने गाँठ लिया। (१९०) इस कारण उसका धैर्य चला गया तथा हृदय में करुणा उत्पन्न हुई; मानों सोमकान्त मणि को चन्द्रकिरणों का स्पर्श हुआ हो। (९१) इस प्रकार अर्जुन अत्यन्त दया से मोहित और दुःखयुक्त होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा (९२) कि "हे देव ! सुनिए, मैं इस समुदाय की ओर देखता हूँ तो यहाँ सब अपना गोत्रवर्ग ही पाता हूँ। (९३) यह सही है कि ये सब संग्राम के लिए उद्यत हैं, परन्तु हमें यह संग्राम करना कैसे उचित है। (९४) इनसे युद्ध का नाम लेते ही न जाने क्यों मैं अपनी ही सुध भूल गया हूँ। मेरा मन और बुद्धि स्थिर नहीं है। (९५) देखिए, शरीर काँपता है, जीभ सूखती है और सब अवयवों में विकलता उपज रही है। (९६) सब शरीर पर रोमांच खड़े हुए हैं और अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न हुआ है।" यह कहते हुए उसके जिस हाथ में गांडीव धनुष था वह ढीला पड़ गया। (९७) और पकड़ छूट जाने के कारण बिना जाने धनुष उसके हाथ से गिर पड़ा। इस प्रकार मोह ने उसके हृदय को व्याप लिया। (९८) आश्चर्य है कि जो हृदय वज्र से भी कठिन, दुर्धर और अत्यन्त भयकारक था

उससे भी यह स्नेह बलवान् हो गया! (९९) जिसने युद्ध में शंकर का पराजय किया, निवात और कवच का नाम-निशान मिटा दिया, उस अर्जुन को मोह ने क्षण भर में ग्रस लिया। (२००) जैसे भ्रमर चाहे जिस काठ को मनमाना छेद डालता है परन्तु एक कोमल-सी कली के बीच पकड़ा जाता है, (१) और वहाँ चाहे प्राण छोड़ दे पर उस कमलदल को चीरने की बात कभी उसके चित्त में नहीं आती, वैसे ही कोमलता के वश होते हुए स्नेह भी तोड़ना कठिन है। (२) सञ्जय बोले, हे राजा! सुनिए, यह आदि-पुरुष की माया ब्रह्मदेव के भी वश में नहीं आती। अतएव क्या आश्चर्य कि अर्जुन को भी भ्रम हो गया! (३) सुनिए, तदनन्तर अर्जुन अपने सब स्वजनों को देखकर युद्ध का अभिमान भूल गया। (४) उसके चित्त में न जाने कैसे सदयता उत्पन्न हुई और वह कहने लगा—हे कृष्ण! अब यहाँ ठहरना भी न चाहिए। (५) इन सबके वध करने का विचार मन में आते ही मेरा मन अत्यन्त व्याकुल होता है और मुँह से शब्द नहीं निकलता। (६)

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इन कौरवों का वध किया जाय तो युधिष्ठिरादि का भी क्यों न किया जाय! ये भी तो सब हमारे गोत्रज हैं। (७) इसलिए नाश हो इस युद्ध का! यह मुझे नहीं भाता। इस महापाप से मुझे क्या लेना-देना है? (८) हे देव! अनेक प्रकार से विचार कर देखने से मालूम होता है कि इनसे संग्राम करने से बुराई ही होगी, किन्तु इसे टाल देने से कुछ लाभ होगा। (९)

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

विजय-वृत्ति से मुझे कुछ काम नहीं है। इस तरह के राज्य को लेकर क्या करना है? (२१०) इन सबका वध करके जो राजभोग प्राप्त होंगे उनका नाश हो! (११) ऐसा सुख न मिलते कोई भी संकट आवे तो सहना चाहिए, वरन् इन लोगों के लिए प्राण भी अर्पण करना चाहिए, (१२) परन्तु यह बात कि इनका घात हो और फिर हम राज्य-

सुख भोगें, मेरा मन स्वप्न में भी ग्रहण नहीं कर सकता। (१३) यदि मन में इन श्रेष्ठ जनों का अहित-चिन्तन करना है तो हमने जन्म ही क्यों लिया? यह जीवन किनके लिए रखना चाहिए? (१४) कुल के सब लोग पुत्र की इच्छा करते हैं, वह क्या इसी के लिए कि उससे अपने गोत्र का नाश हो? (१५) यह बात मन में ही कैसे आ सकती है? अपना मन वज्र के समान कठोर क्योंकर बना लिया जाय? हो सके तो इनका भला ही करना चाहिए; (१६) हम जो कुछ कमावें उस सबका उपभोग इन्हें देना चाहिए, यह जीवन इनके उपकार में लगाना चाहिए। (१७) हमको सब दिगन्त के राजाओं का पराजय करके जिस कुल का संतोष करना चाहिए (१८) उसी के ये सब लोग हैं। परन्तु कर्म कैसा विपरीत है कि देखिए, ये सब युद्ध के लिए उद्यत हुए हैं; (१९) और अपनी स्त्रियाँ, पुत्र, द्रव्य, भाण्डार छोड़कर शस्त्राग्र पर अपने प्राण रक्खे खड़े हैं! (२२०) इन स्वजनों को कैसे मारूँ? इनमें से किस पर शस्त्र चलाऊँ? अपने ही हृदय का घात किस प्रकार कर लूँ? (२१)

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥३४॥

आप नहीं जानते, ये कौन कौन हैं? उस ओर भीष्म-द्रोण हैं, जिनके हम पर अनेक असाधारण उपकार हैं। (२२) इस ओर साले, श्वशुर, मातुल और ये सब भ्राता, पुत्र, नाती और इष्ट खड़े हैं। (२३) सुनिए, ये सब हमारे अत्यन्त ही पास के सगे सहोदर हैं। इसलिए इनके वध की बात मुँह पर लाना भी पाप है। (२४)

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किंनु महीकृते ॥ ३५ ॥

ये चाहे कुछ भी करें, चाहे हमें अभी और यहीं पर मार डालें, परन्तु अपने मन में इनका घात सोचना हमारे लिए अयोग्य है। (२५) यद्यपि त्रैलोक्य का भी निष्कण्टक राज्य मिले तथापि यह अनुचित बात मैं न करूँगा। (२६) यदि आज यहाँ ऐसा कर जाऊँ तो मेरा कौन नाम लेगा? हे कृष्ण! आप ही कहिए, आपको मैं किस प्रकार मुँह दिखा सकूँगा। (२७)

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

यदि इन गोत्रजों का वध करूँ तो मैं पापों का आश्रय हो जाऊँगा और फिर आप जो मुझे प्राप्त हुए हैं सो हाथ से चले जायँगे। (२८) कुल के घात से होनेवाले पाप जब आ लगते हैं तब आप किसे और कहाँ दिखाई देते हैं? (२९) जैसे बाग़ में प्रबल अग्नि का सञ्चार देखकर कोयल वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरती। (२३०) अथवा सरोवर को कीचड़ से भरा देखकर चकोर पक्षी वहाँ नहीं रहते—उसका तिरस्कार कर चले जाते हैं—(३१) वैसे ही, हे देव, यदि मेरे पुण्यरूपी जल का नाश हो जाय तो मुझसे आपको केवल माया-जाल से फँसाते न बनेगा। (३२)

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

इसलिए मैं यह कृत्य नहीं करता। मैं इस युद्ध में शस्त्र ही नहीं पकड़ता। अनेक रीति से यह कर्म बुरा ही दिखाई देता है। (३३) आपसे वियोग हो तो फिर कहिए हमें क्या रह गया? हे कृष्ण! आपके बिना हमारा हृदय दुःख से विदीर्ण हो जावेगा। (३४) इसलिए अर्जुन ने कहा कि कौरवों का वध हो और हमें भोग प्राप्त हों यह बात अनहोनी ही रहने दो। (३५)

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि ये लोग अभिमान-मद से भूलकर संग्राम के लिए आये हैं तथापि हमें तो अपना हित जानना चाहिए। (३६) ऐसा कैसे किया जाय, कि अपने स्वजनों को हमीं मार डालें। जान-बूझ कर कालकूट विष क्यों खाना चाहिए? (३७) अजी, मार्ग से चलते-चलते यदि अकस्मात् सिंह सामने आ जाय तो उसे टाला देने में ही लाभ है। (३८) कहिए, प्रकाश छोड़ किसी अँधेरे कुएँ का आश्रय करने में, हे देव! क्या लाभ है? (३९) अथवा, जैसे सामने अग्नि देखकर यदि कोई उसे एक ओर छोड़ कर अपना बचाव न करे तो वह उसे पल भर में चहुँओर से घेर कर भस्म कर सकती है (२४०) वैसे ही यह जान कर कि ये प्रत्यक्ष पाप

जाय तो भी भला, परन्तु यह पाप हम नहीं चाहते। (६६) इस प्रकार अर्जुन ने अपने सब कुल को देखकर यह ठहराया कि राज्य केवल नरक भोग है। (६७)

सञ्जय उवाच—

> एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
>
> विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि उस समय रणभूमि पर अर्जुन इस प्रकार बोला। (६८) और अत्यन्त उदास हो गया, अनिवार्य शोक से मोहित हो गया और रथ से नीचे कूद पड़ा। (६९) जैसे कोई राजकुमार स्थान-भ्रष्ट होने के कारण सर्वथा मानहीन हो जाता है, अथवा सूर्य राहु से ग्रस्त होने के कारण निस्तेज हो जाता है, (२७०) किंवा महासिद्धि के मोह से पराजित होने के कारण तपस्वी भ्रष्ट हो जाता है और फिर काम उसे वश कर दीन कर देता है, (७१) वैसे ही अर्जुन रथ को त्याग देने पर दुःख से जर्जर दिखाई देने लगा। (७२) उसने धनुष-बाण छोड़ दिये, उसका धैर्य जाता रहा, और उसकी आँखों में आँसू आ गये। सञ्जय ने कहा—हे राजा! सुनिए, यह बात हुई। (७३) अब इस पर वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण अर्जुन को दुःख-युक्त देखकर किस प्रकार परमार्थ का निरूपण करते हैं। (७४) वह संपूर्ण कथा आगे कहता हूँ, कुतूहल से सुनिए। (२७५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः।
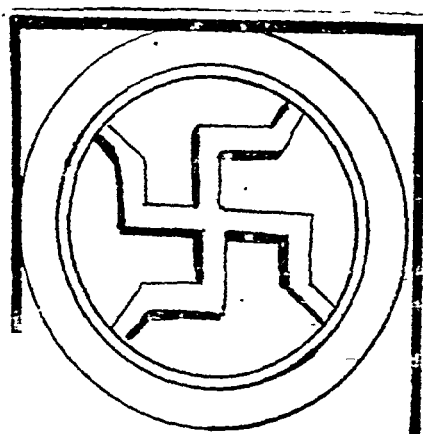
दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

सञ्जय ने राजा से कहा—सुनिए, पार्थ वहाँ शोक से व्याकुल हो रोने लगा। (१) अपना सब कुल देखकर उसे अपूर्व स्नेह उपजा। उससे उसका चित्त किस प्रकार पिघल गया? (२) जैसे लवण को पानी स्पर्श करे अथवा बादल वायु से फट जाय वैसे ही (यद्यपि वह धैर्ययुक्त था तथापि) उसका हृदय पिघल गया। (३) इसलिए वह कृपा के वश हो गया और ऐसा म्लान दिखाई देने लगा मानों राजहंस कीचड़ में फँसा हो। (४) इस प्रकार उस पाण्डु के पुत्र अर्जुन को महामोह से ग्रस्त देखकर श्रीशार्ङ्गधर श्रीकृष्ण क्या बोले? (५)

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

उन्होंने कहा—हे अर्जुन! प्रथम यह देखो कि क्या तुम्हें इस स्थान में ऐसा करना उचित है? तुम हो कौन और यह कर क्या रहे हो? (६) कहो तुम्हें क्या हुआ है? किस बात की कमी पड़ी है? कौन-सा कार्य बाक़ी रह गया है? किस कारण खेद करते हो? (७) तुम तो कभी अनुचित बातों को चित्त में नहीं लाते। कभी धीरज नहीं छोड़ते। तुम्हारा नाम सुनते ही अपयश हद के पार भाग जाता है। (८) तुम शूरता के आश्रय हो। क्षत्रियों के राजा हो। तुम्हारी शूरता की तीनों लोकों में प्रतिष्ठा है। (९) तुमने युद्ध में शंकर को पराजित किया, निवात और कवच का निशान मिटा दिया और निज को गन्धर्वों के गीत का विषय बना लिया है। (१०) तुम्हारी तुलना में त्रैलोक्य भी अल्प दिखाई देता है। हे पार्थ! तुम्हारा पौरुष इतना निर्मल है। (११) वही तुम आज यहाँ वीरवृत्ति का त्याग कर मुँह नीचा कर रोते हुए बैठे हो! (१२)

विचार करो कि क्या तुमको—अर्जुन को—करुणा से दीन हो जाना चाहिए? कहो कभी अन्धकार ने सूर्य का ग्रास किया है? (१३) अथवा वायु कभी मेघों से डरता है? अमृत की क्या कभी मृत्यु होती है? और देखो, क्या ईंधन कभी आग को जला सकता है? (१४) लवण से कभी पानी पिघलता है? किसी पदार्थ के संसर्ग से कभी कालकूट मरा है? अथवा कहो कभी दादुर ने साँप को खाया है? (१५) सिंह के साथ गीदड़ लड़ सके—ऐसी बराबरी कभी हुई है? परन्तु ये बातें आज तुम सच कर बता रहे हो। (१६) इसलिए हे अर्जुन! अब भी इस अयोग्य बात को चित्त में मत आने दो और जल्दी से मन में धीरज धर सावधान हो जाओ। (१७) यह मूर्खता छोड़ दो। धनुष-बाण लेकर उठो। संग्राम के समय कारुण्य किस काम का? (१८) अजी तुम ज्ञानी हो तो विचार क्यों नहीं करते? कहो, युद्ध के समय क्या सदयता उचित है? (१९) यह प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश करती है, और इससे परलोक भी हाथ नहीं आता। इस प्रकार जगन्निवास श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा। (२०)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

उन्होंने यह और भी कहा कि हे अर्जुन! शोक मत करो, पूर्ण धीरज धरो और इस खेद का त्याग करो। (२१) तुम्हें यह बात उचित नहीं है। तुमने जो कुछ संपादन किया है। वह भी इससे नष्ट हो जायगा। अब भी तो अपने हित का विचार करो। (२२) इस संग्राम के अवसर पर करुणा उपयोगी नहीं है ये लोग क्या इसी समय तुम्हारे सगे संबंधी हो गये? (२३) यह बात क्या तुम पहले नहीं जानते थे? अथवा इन गोत्रियों की तुम्हें पहचान नहीं थी? नाहक क्यों तूल खींचते हो? (२४) आज का युद्ध क्या तुम्हारे जन्म भर में नवीन है? तुम्हें आपस में युद्ध के लिए निमित्त सदा ही बना रहता है। (२५) फिर इसी समय क्या हो गया? मैं नहीं जानता कि यह करुणा क्यों उत्पन्न हुई है? परन्तु हे अर्जुन! तुम यह बुरा कर रहे हो। (२६) मोह रखने से यह फल होगा कि तुमने जो कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह चली जायगी और ऐहिक के साथ पारलौकिक हित में भी अन्तर पड़ेगा। (२७) हृदय की दुर्बलता भलाई का हेतु नहीं होती। संग्राम के समय यह क्षत्रियों के

लिए अधःपात का हेतु होती है। (२८) इस प्रकार उस कृपावन्त श्रीकृष्ण ने नाना प्रकार से समझाया। उनकी बातें सुनकर पाण्डुसुत अर्जुन कहने लगा (२९)—

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

हे देव ! सुनिए, इतना कहने का कारण नहीं है। प्रथम आप ही इस संग्राम का विचार कर देखिए। (३०) यह युद्ध नहीं प्रमाद है। इसमें प्रवृत्त होना पाप दिखाई देता है। यह हमारे हाथ से श्रेष्ठ जनों का खुला खुला उच्छेद हो रहा है। (३१) देखिए, माता-पिता की पूजा करनी चाहिए। सब प्रकार से उन्हें सन्तोष देना चाहिए, तो फिर अपने ही हाथ से उनका वध क्योंकर करना चाहिए ? (३२) हे देव ! साधुवृन्दों को नमन करना चाहिए, अथवा हो सके तो उनकी पूजा करनी चाहिए। यह छोड़कर स्वयं अपनी वाणी से उनकी निन्दा क्योंकर करनी चाहिए ? (३३) और ये तो हमारे कुलगुरु हैं, हमारे लिए नित्य नियम-पूर्वक पूजनीय हैं। भीष्म और द्रोण के मुझ पर अनेक उपकार हैं। (३४) हे देव ! जिनसे हमारा मन स्वप्न में भी वैर नहीं रख सकता उनकी मैं प्रत्यक्ष हत्या कैसे कर सकता हूँ ? (३५) इसकी अपेक्षा यह जीवन नष्ट हो जाय तो कुछ हानि नहीं। आज इन सबों को ऐसा क्या हो गया है कि हमने जो कुछ शस्त्रविद्या इनसे सीखी है उसकी प्रतिष्ठा इन्हीं के वध से की जाय ? (३६) मैं अर्जुन, द्रोण का बनाया हुआ हूँ। उन्होंने मुझे धनुर्वेद सिखाया है। तो उनके उपकार से अनुगृहीत हो क्या उनका वध करूँ ? (३७) जिसकी कृपा से वर का लाभ हो उसी से मन में विरोध रखने के लिए क्या मैं भस्मासुर हूँ ? (३८)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामाँस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान ॥५॥

हे देव ! सुनते हैं कि समुद्र गम्भीर होता है परन्तु यह गम्भीरता ऊपरी ही होती है। पर द्रोण की बात पूछिए तो क्षोभ उसके मन में भी नहीं आता। (३९) यह जो ऊपर विस्तृत आकाश है उसका भी माप हो सकेगा परन्तु द्रोण का हृदय अत्यन्त अगाध और गम्भीर है। (४०)

चाहे अमृत भी बिगड़ जाय, काल के वश हो वज्र भी फूट जाय, परन्तु क्षुब्ध करने का प्रयत्न करने से भी द्रोण की मनोवृत्ति अस्थिर नहीं होती। (४१) स्नेह के विषय में माता उदाहरण समझी जाती है परन्तु इस द्रोणाचार्य में मूर्त्तिमती कृपा भरी है। (४२) यह कारुण्य का मूलस्थान है, सकल गुणों की खान है, विद्या का अपार सागर है। (४३) इस प्रकार यह श्रेष्ठ है। इसके अलावा हम पर कृपावन्त है। फिर कहिए इसकी हत्या का चिंतन हम कैसे कर सकेंगे? (४४) ऐसे श्रेष्ठ जनों का रण में वध किया जाय और फिर हम सुख से राज्य भोगें, यह बात जन्म भर हमारे मन में न आवेगी। (४५) यह बात इतनी दुर्धर है कि इससे भी बड़े बड़े राज-भोग मिलते हों तो न मिलें, चाहे भीख माँगनी पड़े, (४६) अथवा देशत्याग हो जाय किंवा पर्वतों की गुहाओं में रहना पड़े तो भी भला, परन्तु इन लोगों पर शस्त्र चलाना उचित नहीं। (४७) हे देव! नये धार लगाये हुए बाणों से इनके हृदयों में प्रहार कर रक्त में डूबे हुए राज्योपभोग ढूँढ़े जायँ (४८) तो उन्हें प्राप्त करके क्या लाभ होगा? रक्त में लिप्त होने से उनका उपभोग कैसे किया जायगा? अतएव यह युक्ति मुझे नहीं भाती। (४९) इस प्रकार उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा। परन्तु यह बात श्रीकृष्ण के मन को न भाई। (५०) यह जानकर अर्जुन उठा और फिर कहने लगा—क्या देव मेरे शब्दों की ओर चित्त नहीं देते? (५१)

> न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
> यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
> यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
> स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

मेरे तो जो मन में था सो मैं स्पष्ट कर कह चुका। इस पर भला क्या है सो आप जानें। (५२) देखिए, जिनसे वैर की बात सुनते ही हमें प्राण छोड़ देना चाहिए वही लोग यहाँ संग्राम के निमित्त खड़े हैं। (५३) अब इनका वध करें, अथवा इन्हें छोड़कर चले जायँ? इन दोनों बातों में भली कौन-सी है, मैं नहीं जानता। (५४)

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
> पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कौन-सी बात उचित है सो मुझे विचार करने पर भी जान नहीं पड़ती, क्योंकि मोह से मेरा चित्त व्याकुल हो गया है। (५५) अँधेरा छा जाने से जैसे नेत्रों का तेज चला जाता है और पास रक्खी हुई वस्तु भी दिखाई नहीं देती (५६) वैसे ही, हे देव! मेरा हाल हो गया है, क्योंकि मेरा मन भ्रम से ग्रस्त हो गया है और मैं अपना हित नहीं जान सकता। (५७) इसलिए हे श्रीकृष्ण, आप जो ठीक समझते हों सो बताइए, क्योंकि आप हमारे मित्र और हमारे सर्वस्व हैं। (५८) आप ही हमारे गुरु, भ्राता और पिता हैं। आप हमारे इष्ट देवता हैं और आप ही आपत्काल में सदा हमारी रक्षा करनेवाले हैं। (५९) गुरु कभी शिष्य को दूर करना नहीं जानता। समुद्र नदी का त्याग क्योंकर कर सकता है? (६०) अथवा हे कृष्ण! सुनिए, माता बालक को छोड़कर चली जाय तो वह कैसे जी सकता है? (६१) उसी प्रकार, हे देव! हमारे लिए सब तरह से आप ही एक हैं। मैंने जो कुछ अभी कहा वह यदि आपको मान्य न हो (६२) तो हे पुरुषोत्तम, जो उचित हो और हमारे धर्म के विरुद्ध न हो सो हमें बताइए। (६३)

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धम्
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

यह सब कुल देखकर मेरे मन में जो शोक उत्पन्न हुआ है वह आपके उपदेश के सिवाय किसी बात से न जावेगा। (६४) संपूर्ण पृथ्वी का राज्य भी प्राप्त हो सकेगा अथवा इन्द्र का श्रेष्ठ पद भी मिल सकेगा परन्तु यह मन का मोह न मिटेगा। (६५) जैसे अग्नि में भुना हुआ बीज उत्तम खेत में भी बोया जाय तो, चाहे जितना सींचो, नहीं उगता, (६६) अथवा आयुष्य-पूर्ण हो गया हो तो ओषधि कुछ काम नहीं आती और एक भगवन्नामामृत ही उपयोगी होता है (६७) वैसे ही राज्यभोग-समृद्धि से मेरी बुद्धि उत्तेजित नहीं होती। हे कृपानिधि, आपकी करुणा ही हमारे जीवन का रहस्य है। (६८) अर्जुन जब इस प्रकार बोला

तब एक क्षण मोह ने उसे छोड़ दिया; परन्तु फिर से उसकी लहर ने उसे घेर लिया। (६९) मैं समझता हूँ कि वह केवल लहर नहीं और ही कुछ था। उसे महामोहरूपी कालसर्प ने ग्रस लिया था। (७०) उस सर्प ने ऐसा अवसर देखकर कि अर्जुन के हृदयकमल में करुणा भर गई है, उसके मर्मस्थान में डस लिया, इस कारण उसकी लहरें बंद नहीं होती थीं। (७१) ऐसा कठिन समय जानकर श्रीहरिरूपी बाजीगर, जो दृष्टि से ही विष का नाश कर सकते हैं, दौड़कर आ पहुँचे (७२) और उस व्याकुल अर्जुन के पास खड़े हुए और अब अपनी कृपा से सहज ही उसकी रक्षा करनेवाले हैं (७३) यह जान कर मैंने अर्जुन का मोह-रूपी साँप से ग्रस्त होना वर्णन किया। (७४) उस समय अर्जुन भ्रम से ऐसा आच्छादित हो गया था जैसे मेघ के परदे से सूर्य ढँक जाता है। (७५) वैसे ही अर्जुन दुःख से भी ऐसा जर्जर हो गया था मानों ग्रीष्मकाल में कोई पर्वत दावानल से भुन गया हो। (७६) इसलिए सहज ही जो नीलवर्ण हैं और कृपारूपी अमृत से सजल हैं वे श्रीगोपाल-रूपी महामेघ आ पहुँचे। (७७) उनके सुन्दर दाँतों का तेज मानों विद्युत का चमकना है और गम्भीर वाचा गर्जना की सामग्री है। (७८) अब ये उदार मेघ कैसी वर्षा करेंगे और उससे अर्जुन-रूपी पर्वत कैसा जुड़ावेगा और फिर कैसा ज्ञानरूपी नूतन अंकुर फूटेगा, (७९) सो कथा मन के समाधान के हेतु सुनिए। (८०)

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

तदनन्तर सञ्जय कहने लगे—हे राजा! अर्जुन फिर शोक से व्याकुल हो क्या बोला (८१) सो सुनिए। उसने श्रीकृष्ण से खेदयुक्त होकर कहा कि अब आप मुझसे आग्रहपूर्वक न कहें। मैं निश्चय से इनके साथ सर्वथा युद्ध न करूँगा। (८२) ऐसा एक बार बोला और फिर स्तब्ध हो रहा, तब उसे देखकर श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ। (८३)

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥१०॥

वे अपने मन में कहने लगे कि इसने इस समय क्या आरम्भ किया है। यह कुछ भी नहीं समझता। क्या किया जाय? (८४)

अब यह किस प्रकार समझेगा, कैसे धीरज धरेगा? जैसे मान्त्रिक ग्रहों की परीक्षा करता है, (८५) अथवा रोग असाध्य देखकर वैद्य अमृत के समान दिव्य और कठिन समय में उपयोग में लाई जाने-वाली ओषधि की योजना करता है। (८६) वैसे ही श्रीकृष्ण उन दोनों सेनाओं के बीच उस उपाय का विचार करने लगे जिससे अर्जुन मोह को छोड़ दे। (८७) इसी मतलब से वे क्रोधयुक्त हो बोले। परन्तु जैसे माता के कोप में प्रेम भरा रहता है (८८) अथवा ओषधि की कड़वाहट में अमृत व्याप्त रहता है और वह ऊपर से नहीं दीखता परन्तु गुणरूप से प्रकट होता है, (८९) वैसे ही श्रीकृष्ण ऊपर से देखने में तो क्रोधयुक्त परन्तु भीतर से अत्यन्त सुरस वचन बोले। (९०)

श्रीभगवानुवाच—

> अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे।
> गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

वे अर्जुन से कहने लगे—आज यह जो तुमने बीच ही में मचा रक्खा है उससे हमें आश्चर्य होता है। (९१) तुम ज्ञानी कहलाते हो परन्तु अज्ञान नहीं छोड़ते; और सिखापन देने लगो तो बहुत कुछ नीति की बातें कहते हो। (९२) जन्मान्ध मनुष्य पागल हो जाय तो जैसे इधर-उधर मनमाना दौड़ता है वैसा ही हमें तुम्हारा चातुर्य दिखाई देता है। (९३) हमें बारम्बार यही विस्मय होता है कि तुम निज को तो जानते नहीं परन्तु इन कौरवों का शोक किया चाहते हो। (९४) कहो हे अर्जुन! इस त्रिभुवन का पालन क्या तुम्हीं से होता है? यह बात क्या झूठ है कि यह विश्व-रचना अनादि है? (९५) जगत् में जो कहावत है कि यहाँ एक ही वस्तु समर्थ है तथा उसी से सब प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं सो क्या मिथ्या है? (९६) तो क्या सच बात ऐसी है कि ये जन्म-मृत्यु तुम्हीं ने बनाये हैं? और ये क्या तुम्हीं से नाश पावेंगे? (९७) तुम भ्रममूलक अहंकार से यदि इन कौरवों का घात चित्त में न लाओ तो कहो क्या ये चिरञ्जीव हो जायँगे? (९८) अथवा क्या तुम्हीं एक मारनेवाले हो और यह सब जग मरनेवाला है? इस प्रकार का भ्रम कभी चित्त में मत आने दो। (९९) यह सब जगत् अनादि काल से सिद्ध है। उत्पन्न होना और नष्ट होना उसका स्वभाव ही है। फिर कहो शोक क्यों करना

चाहिए ? (१००) परन्तु मूर्खता के कारण तुम यह नहीं समझते। जो चिन्ता न करनी चाहिए सो करते हो, और तुम्हीं हमें नीति बताते हो। (१) देखो, जो विवेकी होते हैं वे उत्पत्ति और नाश दोनों बातों का शोक नहीं करते। कारण—यह भ्रान्ति है। (२)

न त्वेवाहं जातु नाऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

हे अर्जुन! सुनो। इस संसार में हम, तुम और ये सब राजागण इत्यादि (३) सर्वदा ऐसे ही रहेंगे अथवा निश्चय से क्षय को प्राप्त होवेंगे, ये दोनों ही बातें ठीक नहीं। उत्पत्ति अथवा नाश जो दिखाई देता है सो माया के कारण से। वास्तव में जो परब्रह्म है वह अविनाशी ही है। (४-५) जैसे वायु से जब पानी हिलता और तरङ्गाकार होता है तब कहाँ और किसकी उत्पत्ति होती है ? (६) और जब वायु का स्फुरण बन्द हो जाता है और पानी आप ही स्थिर हो जाता है तब किस बात का लय हो जाता है, विचारो तो सही। (७)

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

सुनो, शरीर एक है परन्तु अवस्था-भेद से अनेक मालूम होता है। यह प्रमाण प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। (८) अथवा जैसे प्रथम बाल्यावस्था दिखाई देती है, और फिर तारुण्य के समय उसका नाश हो जाता है, परन्तु हर एक अवस्था के साथ देह का नाश नहीं होता, (९) वैसे ही चैतन्य के ये शरीर बदलते जाते हैं। यह बात जो जानता है उसे भ्रान्ति का दुःख नहीं हो सकता। (११०)

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्ताँस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

इस विषय में अज्ञान का कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के अधीन होता है। इन्द्रियाँ अन्तःकरण को आकर्षित करती हैं इस कारण उसे भ्रम होता है। (११) इन्द्रियाँ विषय का सेवन करती हैं इस कारण सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। इन विषयों के संग द्वारा वे चित्त को मोह में डुबाती हैं। (१२) विषयों में कभी स्थिरता नहीं

रहती, इससे उनमें कभी दुःख और कभी सुख दिखाई देता है। (१३) देखो, निन्दा और स्तुति में शब्द-विषय व्याप्त है। उससे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा द्वेषाद्वेष उत्पन्न होते हैं। (१४) मृदुता और कठिनता दोनों गुण स्पर्शविषयक हैं। वे त्वगिन्द्रिय के संग से सन्तोष और खेद के हेतु होते हैं। (१५) वैसे ही भयानक और सुन्दर रूप के विषय हैं। वे नेत्रों के द्वारा सुख-दुःख उपजाते हैं। (१६) सुगन्ध और दुर्गन्ध गन्धविषय का भेद है। वह घ्राणेन्द्रिय के सङ्ग से सन्तोष और दुःख उत्पन्न करता है। (१७) वैसे ही रस विषय दो प्रकार का है, और सुख और दुःख उत्पन्न करता है। अतएव विषयों या सङ्ग च्युति का कारण है। (१८) देखो, इन्द्रियों के अधीन होने से सरदी और गरमी लगती है और मनुष्य सुख-दुःख के अधीन हो जाता है। (१९) इन्द्रियों का स्वभाव ही है कि उन्हें विषयों के सिवाय कभी कुछ भी रम्य नहीं जान पड़ता। (१२०) और ये विषय कैसे हैं? जैसे रोहिणी का जल अथवा स्वप्न में दिखाई दिया हुआ हाथी। (२१) वे इस प्रकार अनित्य हैं, इसलिए हे धनुर्धर! उनका त्याग करो और कभी उनका सङ्ग न करो। (२२)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

ये विषय जिन्हें वश नहीं करते उन्हें सुख-दुःख नहीं होता तथा उन्हें गर्भवास का सङ्ग नहीं प्राप्त होता। (२३) हे पार्थ! जो इन इन्द्रियों के हाथ नहीं लगता वह सर्वथा नित्यरूप समझो। (२४)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

हे अर्जुन! अब सुनो, मैं और एक बात सुनाता हूँ, जो विचारवान् लोग जानते हैं। (२५) इस जगद्रूप उपाधि में सर्वव्यापी चैतन्य गुप्त है। तत्त्वज्ञानी सदा उसी का स्वीकार करते हैं। (२६) पानी और दूध जैसे एक ही में मिला रहता है पर राजहंस उसे अलगा देता है, (२७) अथवा जैसे बुद्धिमान् लोग सोने को आग में तपाकर हीन सोने से शुद्ध सोना अलग कर लेते हैं, (२८) अथवा चतुराई से दही का मन्थन करने से निदान में जैसे नवनीत हाथ लगता है, (२९) अथवा भूसे सहित बीज की उड़ावनी करने से जैसे घनीभूत धान्य

रह जाता और भूसी उड़ जाती है; (१३०) वैसे ही विचार करने से ज्ञानियों की दृष्टि में प्रपञ्च अलग हो सहज की छूट जाता और केवल तत्व ही रह जाता है। (३१) इसलिए अनित्य वस्तु में उनकी सत्यबुद्धि नहीं रहती। उन्हें सत् और असत् दोनों का निर्णय ज्ञात रहता है। (३२)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

सार और असार का विचार कर देखो तो असारता भ्रम है और सार सहज ही नित्य है। (३३) जिससे इस त्रैलोक्य का विस्तार हुआ है उसके नाम, रूप, आकार, चिह्न कुछ भी नहीं है। (३४) जो सर्वदा सर्वव्यापी है, जन्म-मरण से रहित है, उसका नाश करने जाइए तो कदापि नहीं हो सकता। (३५)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

और यह जो सब शरीरमात्र है वह स्वभावतः नाशवन्त है। इसलिए, हे पाण्डुकुँवर! युद्ध करो। (३६)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

तुम देहाभिमान रखकर और शरीर की ओर दृष्टि देकर कहते हो कि मैं मारक और ये मरनेहारे हैं। (३७) परन्तु हे अर्जुन! तुमने तत्त्व नहीं जाना। यदि यथार्थतः विचारोगे तो तुम वध करनेहारे नहीं और वे वध्य भी नहीं हैं। (३८)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जैसे जो कुछ स्वप्न में दिखाई देता है वह स्वप्न में ही सत्य होता है, जागने पर देखो तो कुछ भी नहीं रहता, (३९) वैसे ही इस माया

को जानो। तुम्हें व्यर्थ भ्रम हो रहा है। जैसे परछाई पर शस्त्र से किया हुआ घाव देह को नहीं लगता, (१४०) अथवा जैसे भरे हुए घड़े का पानी उड़ेलने से उसमें दिखाई देनेहारा सूर्य का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है परन्तु उसके साथ सूर्य का नाश नहीं होता, (४१) अथवा मठ के भीतर का आकाश मठ के ही आकार का हो जाता है परन्तु वही मठ के भङ्ग होते ही जैसे आप ही आप अपने निजी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, (४२) वैसे ही शरीर का नाश होने से आत्मस्वरूप का नाश सर्वथा नहीं हो सकता। इसलिए अपने ऊपर भ्रान्ति का आरोपण मत करो। (४३)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे कोई अपना जीर्ण वस्त्र छोड़ दे और नया पहने, वैसे ही आत्मा एक छोड़ दूसरे शरीर का स्वीकार करता है। (४४)

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह आत्मा उत्पत्ति-रहित और नित्य है, उपाधि-रहित और अत्यन्त शुद्ध है। इसलिए शस्त्रादि से उसका छेदन नहीं हो सकता; (४५) प्रलय के जल में यह डूब नहीं सकता, अग्नि से जल नहीं सकता और वायु की महाशोषण-शक्ति भी इसके विषय समर्थ नहीं होती। (४६) हे अर्जुन! यह तीनों कालों में अबाध्य है, अचल है, शाश्वत है, सर्वत्र है और सदा परिपूर्ण है। (४७)

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

हे किरीटी ! यह तर्कशास्त्र की दृष्टि से दिखाई नहीं देता, योगियों के ध्यान को इसकी भेंट की उत्कण्ठा लगी रहती है; (४८) मन को यह सदा दुर्लभ है, और साधनों से यह प्राप्त नहीं होता। हे अर्जुन ! यह पुरुषों में श्रेष्ठ तथा अपरंपार है। (४९) यह गुणत्रय-विरहित है, अनादि है, विकार-रहित है व्यक्तता से परे है। परन्तु सब पदार्थमात्र इसी का रूप है। (१५०) हे अर्जुन ! इसे इस प्रकार जान लो। यह समझ लो कि सर्वत्र यही आत्मा है। फिर तुम्हारा सब शोक सहज ही चला जायगा। (५१)

अथ चैनं नित्यं जातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा यदि यह न मानो, यदि जगत् को नाशवन्त मानो तथापि हे अर्जुन, शोक करना उचित नहीं है। (५२) क्योंकि जैसे गङ्गा के जल का प्रवाह अखण्ड है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और लय सर्वदा है। (५३) जैसे गङ्गाजल उद्गम में अखण्डित है, समुद्र से भी सदा मिला हुआ बना है और बीच में भी प्रवाह में बहता हुआ दिखाई देता है; (५४) वैसे ही प्राणिमात्र में ये तीनों अवस्थाएँ सर्वदा एक के अनन्तर एक आती ही रहती हैं, कभी रुकती नहीं। (५५) इसलिए इस सब जगत् के विषय तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अनादि काल से सृष्टिक्रम स्वभावतः ऐसा ही चला आता है। (५६) अथवा, हे अर्जुन ! संसार को जन्म-मृत्यु के अधीन देखकर यदि तुम उपर्युक्त बात न मानो (५७) तो भी तुम्हें शोक करने का कारण नहीं है, क्योंकि जन्म और मृत्यु कभी टल नहीं सकते। (५८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जो उपजता है वह नष्ट होता है, और जो नष्ट हुआ है सो फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह संसार घटिकायन्त्र के समान चक्कर खा रहा है। (५९) अथवा सूर्योदय और सूर्यास्त जैसे आप ही आप निरन्तर होते जाते हैं वैसे ही जन्म-मरण भी संसार में अनिवार्य हैं। (१६०) महाप्रलय के समय त्रैलोक्य का भी नाश हो जाता है परन्तु उससे कुछ आदि अन्त का नाश नहीं होता। (६१) यदि तुम यह बात मानते हो तो खेद क्यों करते हो ? हे धनुर्धर ! क्या जान-बूझ कर

अज्ञानी बनते हो ? (६२) हे अर्जुन ! एक बात और है। अनेक प्रकार से विचार करने पर तुम्हें ज्ञात होगा कि दुःख करने के लिए तो गुन्जाइश ही नहीं है। (६३)

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

ये जो सब प्राणी हैं सो उत्पत्ति के पूर्व निराकार रहते हैं और फिर जन्म लेने पर आकार को प्राप्त होते हैं। (६४) उनका जब क्षय हो जाता है तब निश्चय से वे कुछ दूसरे नहीं बन जाते प्रत्युत अपनी पूर्व-स्थिति को ही प्राप्त होते हैं। (६५) यह जो बीच की स्थिति दिखाई देती है सो किसी निद्रित मनुष्य के स्वप्न के समान है। यह सब आकार ब्रह्मस्वरूप पर माया के कारण दिखाई देता है। अथवा वायु का स्पर्श होने से जल जैसे तरंग रूप से दिखाई देता है, अथवा सुवर्ण जैसे दूसरे के इच्छानुसार अलङ्कार-रूप से प्रकट होता है, (६७) वैसे ही यह सब संसार माया से हुआ जानो। आकाश में दिखाई देनेवाले अभ्रपटल के समान (६८) जिसका मूल ही नहीं है उसके लिए तुम क्यों शोक करते हो ? उस एक चैतन्य की ओर ध्यान दो जो अक्षय है, (६९) जिसकी अभिलाषा करने से सन्त विषयों से छूट जाते हैं; जिसके लिए वे विरक्त और वनवासी बन जाते हैं (१७०) और जिसकी ओर दृष्टि दे कर मुनीश्वर ब्रह्मचर्यादि व्रत और तप किया करते हैं, (७१)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

जिसे अंतःकरण निश्चल कर निहारने से कोई संसार की सब खटपट भूल जाते हैं; (७२) जिसके गुणानुवाद गाते-गाते किसी को चित्त में उपरति उत्पन्न होकर निरन्तर निस्सीम निमग्नता प्राप्त हो जाती है; (७३) जिसका श्रवण करते करते कोई शान्ति प्राप्त कर लेते हैं और देहाभिमान से छूट जाते हैं; जिसके अनुभव केवल कोई तद्रूप हो जाते हैं; (७४)—जैसे नदी का समग्र प्रवाह समुद्र में मिलता है तथा

कभी समुद्र में न समाते पीछे नहीं हटता, (७५) वैसे ही—जिसके स्वरूप से मिलते ही योगीश्वरों की बुद्धि तद्रूप हो जाती है तथा जिसका विचार करने से वे कभी पुनर्जन्म नहीं पाते; (७६)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

जो सर्वत्र सब देहों में है; जिसका घात करना चाहो तो भी नहीं हो सकता; उस जगद्रूप केवल चैतन्य की ओर ध्यान दो। (७७) सब घटनाएँ उसी के स्वभाव से होती हैं। फिर कहो, क्या तुम्हें शोक करना उचित है? (७८) हे पार्थ! न जाने क्यों तुम्हारे चित्त में यह बात नहीं जमती? हमें तो हर तरह से सोचते तुम्हारा शोक करना गौण दिखाई देता है। (७९)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तुम अब भी क्यों नहीं विचारते? यह क्या चिंतन कर रहे हो? मनुष्य का जो तारक है उस स्वधर्म को क्या तुम भूल गये? (१८०) यदि इन कौरवों का नाश हो जाय, अथवा तुम्हीं को कुछ हो जाय, अथवा इस युग का भी अन्त हो जाय (८१) तथापि एक स्वधर्म अवश्य बच रहेगा। वह कभी त्याज्य नहीं हो सकता। उसका त्याग करने से तुम्हें जो दया उत्पन्न हुई है उससे क्या तुम तर सकोगे? (८२) हे अर्जुन, तुम्हारे चित्त में यद्यपि दया उत्पन्न हुई है तथापि युद्ध के समय वह अनुचित है। (८३) अजी, गौ का दूध हो तथापि पथ्य नहीं समझा जाता। और यदि वह नवज्वर में दिया जाय तो विष के बराबर है। (८४) वैसे ही दूसरे का कर्म करने से स्वहित का नाश होता है। इसलिए सावधान रहो। (८५) वृथा क्यों व्याकुल होते हो? स्वधर्म की ओर देखो जिसका आचरण करने से किसी काल में भी दोष नहीं लगता। (८६) जैसे रास्ते से चलने में कभी अपाय नहीं होता, अथवा दीपक के आधार से चलने से ठिठकना नहीं पड़ता, (८७) उसी प्रकार हे पार्थ! स्वधर्म का आचरण करने से सहज ही सब कामनाओं की पूर्ति होती है। (८८) इसलिए देखो, तुम क्षत्रियों को संग्राम के सिवाय और कुछ भी उचित नहीं है, (८९) निष्कपट होकर,

आमने-सामने खड़े हो, एक दूसरे पर प्रहार कर युद्ध करना ही तुम्हें उचित है। प्रत्यक्ष बात अधिक विस्तार कर क्या बताई जाय ? (१९०)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे अर्जुन! यह युद्ध नहीं तुम्हारा भाग्य ही सामने खड़ा है, अथवा सकल धर्म का निधान ही प्रकट हुआ है। (९१) अजी, यह क्या युद्ध कहा जाय कि इस रूप से मूर्तिमान् स्वर्ग ही तुम्हारे प्रताप से प्रकट हुआ है ? (९२) अथवा तुम्हारे गुणों की प्रतीति से साभि-लाष हो कीर्त्ति ही तुमसे स्वयंवर करने के लिए आई है ? (९३) क्षत्रियों ने बहुत पुण्य किया हो तब कहीं ऐसे संग्राम का लाभ होता है। जैसे मार्ग में चलते-चलते अकस्मात् चिन्तामणि मिल जाय (९४) अथवा जमुहाई लेते समय मुँह खोलते ही अकस्मात् अमृत आ पड़े वैसे ही तुम्हें यह संग्राम प्राप्त हुआ है। (९५)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अब यदि इसका त्याग करो और अनहोनी बात का शोक करते बैठो तो स्वयं अपनी ही हानि करनेवाले होगे। (९६) यदि आज इस रण में शस्त्र का त्याग करोगे तो यह कहा जायेगा कि पूर्वजों का सम्पादन किया हुआ यश तुम्हीं ने खो दिया; (९७) एवं प्राप्त की हुई कीर्त्ति का नाश होगा, जगत् निन्दा करेगा और महापाप तुम्हारी खोज करते चले आवेंगे। (९८) जैसे पतिविहीन स्त्री सर्वदा अपमान पाती है वैसी ही दशा स्वधर्म बिना इस जीवित की हो जाती है। (९९) अथवा रण में जो शव छोड़ दिया जाता है उसे जैसे चहुँ ओर से गीदड़ नोच डालते हैं, वैसे ही स्वधर्महीन मनुष्य को महापाप वश में कर लेते हैं। (२००)

अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

इसलिए यदि स्वधर्म का त्याग करोगे तो पाप को प्राप्त होगे और अपकीर्ति कल्पान्त तक भी न मिटेगी। (१) ज्ञानी मनुष्य को तभी तक जीना चाहिए जब तक अपयश नहीं लग पाता। तो फिर कहो, यहाँ से

क्यों हटना चाहिए ? (२) तुम तो मत्सररहित हो—सदय अन्तःकरण
से पीछे फिरोगे, परन्तु तुम्हारा इस प्रकार जाना इन सबों के मन
में न भायेगा। (३) ये चारों ओर से तुम्हें घेर लेंगे, तुम पर बाण
पर बाण छा देवेंगे। तब हे पार्थ, सदयता से तुम्हारा छुटकारा न
होगा। (४) इस पर भी यदि इस प्राण-संकट से बड़े कष्ट से छुट-
कारा हो जाय, तथापि इस प्रकार जीना मरण से भी बुरा है। (५)

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

तुम एक बात और नहीं विचारते। तुम यहाँ युद्ध की तैयारी से
आये हो और यदि दयालुता से पीछे फिरोगे (६) तो हे अर्जुन !
कहो क्या तुम्हारी इस दयालुता को ये दुर्जन वैरी पतियावेंगे ? (७)

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

ये तो कहेंगे "गया जी गया, अर्जुन हमसे डर कर भाग गया !"
कहो, भला यह ऐसा दोष लगना क्या भली बात है ? (८) हे धनुर्धर !
लोग बहुत कष्ट करके और अपने प्राण भी अर्पण करके कीर्ति बढ़ाने
की चेष्टा करते हैं; (९) वह कीर्ति तुम्हें अनायास ही प्राप्त हुई है।
यह आकाश जैसा अनुपम है (२१०) वैसी ही तुम्हारी कीर्ति निःसीम
और अनुपम है। तुम्हारे उत्तम गुण तीनों लोकों में (११) नाना देशों
के राजागण भाट हो वर्णन करते हैं; जिन्हें सुनकर यम इत्यादि भी
डर उठते हैं। (१२) देखो, तुम्हारी महिमा ऐसी घनी तथा गङ्गा जैसी
निर्मल है कि उसे देखकर सब जगत् के महायोद्धा स्तब्ध हो गये हैं
(१३) ऐसी तुम्हारी अद्भुत शूरता की महिमा सुनकर ये सब कौरव
अपने प्राणों पर उदार हुए हैं। (१४) जैसे सिंह की गर्जना उन्म
हाथी को प्रलय-सी मालूम होती है वैसे ही इन कौरवों को तुम्हा
डर लग रहा है। (१५) हे अर्जुन ! पर्वत जैसे वज्र को अथवा स
जैसे गरुड़ को वैसे ही सर्वदा कौरव तुम्हें मानते हैं। (१६) य
युद्ध न करके पीछे फिरोगे तो यह श्रेष्ठता चली जायगी और हीन
प्राप्त होगी। (१७) और ये लोग तुम्हें भागते भागने न देंगे, पक
कर निर्भर्त्सना करेंगे, और तुम्हारे मुँह पर अगणित कुशब्द बोलें

(१८) फिर उस समय हृदय को विदीर्ण होने देने की अपेक्षा अभी शौर्य से युद्ध क्यों न करना चाहिए ? इसमें जीत हो तो पृथ्वी का राज्य प्राप्त होगा, (१९)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अथवा यहाँ लड़ते लड़ते जीवन समाप्त हो जाय तो अनायास स्वर्ग का सुख प्राप्त होगा। (२२०) इसलिए हे किरीटी! इस विषय में कुछ आगे-पीछे न देखो। अब धनुष लेकर उठो और जल्दी से युद्ध करो। (२१) देखो, स्वधर्माचरण करने से पूर्वकृत पाप का नाश हो जाता है। तुम्हारे चित्त में पाप के विषय में क्या भ्रम उत्पन्न हुआ है ? (२२) नौका के सहाय से कभी मनुष्य डूबता है ? अथवा सीधे मार्ग से जाने से कभी ठिठकता है ? परन्तु कदाचित् उसे चलना ही न आता हो तो ऐसा भी संभव हो सकता है, (२३) तथा विष मिलाकर पिया जाय तो दूध से भी मृत्यु हो सकती है। वैसे ही फल की आशा के कारण स्वधर्म से भी दोष प्राप्त होता है । (२४) इसलिए हे पार्थ, फल की आशा को छोड़ क्षत्रियधर्मानुसार युद्ध करने से कभी पाप नहीं होता । (२५)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख के समय सन्तोष न मानना चाहिए तथा दुःख के समय खेद भी न मानना चाहिए, और लाभ और हानि मन में न लानी चाहिए। (२६) युद्ध में विजय होगी अथवा देह का नाश होगा, इन अगली बातों की पहले से ही चिन्ता न करनी चाहिए । (२७) हमें जो उचित है उस स्वधर्म से व्यवहार करते समय जो कुछ फल हो सो शान्ति से सह लेना चाहिए । (२८) मन इतना दृढ़ हो जाय तो सहज ही पाप न लगेगा। इसलिए अब भ्रम छोड़ युद्ध करो। (२९)

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अभी तक मैंने तुम्हें संक्षिप्त रीति से अपरोक्ष ज्ञानयोग बतलाया। अब बुद्धियोग बतलाता हूँ सो सुनो। (२३०) जिस मनुष्य को बुद्धि-

योग प्राप्त हो जाय उसे कर्मबन्ध की पीड़ा कभी नहीं होती। (३१) जैसे वज्रकवच पहनने से शस्त्रों की वर्षा सहकर मनुष्य विजय प्राप्त कर अबाधित रहता है, (३२)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

वैसे ही बुद्धियोग से उसके ऐहिक सुख का नाश न होते मोक्ष भी हाथ लगता है। इस बुद्धियोग से पूर्व में किया हुआ कर्म निर्मल हुआ देख पड़ता है; (३३) कर्म के आधार से मनुष्य व्यवहार करता है परन्तु कर्म के फल की ओर दृष्टि नहीं देता। जैसे मन्त्रज्ञ को भूतबाधा नहीं होती (३४) वैसे ही जिन्हें सुबुद्धि की पूर्ण प्राप्ति हो गई है उन्हें यह सर्वदा रहनेवाली उपाधि वश नहीं कर सकती। (३५) जिस बुद्धि में पुण्य और पाप का सञ्चार नहीं होता, जो अत्यन्त सूक्ष्म और निश्चल रहती है, और जिसे त्रिगुणों का लेप नहीं लग सकता (३६) वह बुद्धि, हे अर्जुन! पूर्व-पुण्य से यदि अल्प भी हृदय में प्रकाशित हो तो सब संसाररूपी पाप का जड़ से नाश कर देती है। (३७)

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

जैसे दीपक की ज्योति छोटी-सी रहती है परन्तु अत्यन्त प्रकाश प्रकट करती है, उसी प्रकार इस सद्बुद्धि को अल्प मत समझो। (३८) हे पार्थ! विचारवान् मनुष्यों को सब प्रकार से इस सद्बुद्धि की अपेक्षा करनी चाहिए। क्योंकि सद्वासना चराचर में दुर्लभ है। (३९) जैसे अन्य पत्थरों के समान पारस बहुतेरा नहीं मिलता, अथवा अमृतबिन्दु कभी दैवयोग से ही प्राप्त होता है, (२४०) वैसे ही परमात्मा में जिसका पर्यवसान होता है वह सद्बुद्धि दुर्लभ है। गंगा को सर्वदा जैसे समुद्र (४१) वैसे जिसे ईश्वर के सिवाय और कुछ प्राप्तव्य नहीं है ऐसी हे अर्जुन! संसार में एक ही बुद्धि है। (४२) दूसरी जो बुद्धि है, जिससे विकार उत्पन्न होते हैं वह दुर्बुद्धि है। उसमें निरन्तर अविचारी लोग रमण करते हैं। (४३) इसलिए हे पार्थ! उन्हें स्वर्ग, संसार, अथवा नरक यही गति प्राप्त होती है, परन्तु आत्म-सुख कभी दिखाई नहीं देता। (४४)

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

वे वेद के आधार से बोलते हैं, केवल कर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं, परन्तु कर्म के फल से प्रीति रखते हैं। (४५) वे कहते हैं कि संसार में जन्म लेना चाहिए, यज्ञादिक कर्म करना चाहिए, और मनोहर स्वर्ग का सुख भोगना चाहिए। (४६) हे अर्जुन ! उन दुर्बुद्धियों का ऐसा मत है कि संसार में इसके सिवाय और कुछ सुख नहीं है। (४७)

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

देखो, वे काम के अधीन होकर तथा केवल भोग की ओर चित्त दे कर्म करते हैं। (४८) वे अनेक प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं, विधि को नहीं टालते और निपुणता से धर्म का आचरण करते हैं; (४९)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

परन्तु वे यही एक बुरा करते हैं कि मन में स्वर्ग की कामना रखते हैं और यज्ञ का भोक्ता जो ईश्वर है उसे भूल जाते हैं। (२५०) जैसे कपूर का ढेर लगाया जाय और फिर उसमें आग लगा दी जाय; अथवा मिष्टान्न बनाकर जैसे उसमें कालकूट विष मिला दिया जाय; (५१) दैवयोग से मिला हुआ अमृत का घड़ा जैसे लात से उड़ेल दिया जाय; वैसे ही ये लोग हाथ लगे हुए धर्म का, फल की आशा से, नाश कर डालते हैं। (५२) श्रम करके यदि पुण्य-सम्पादन करते हैं तो फिर संसार की चाह क्यों चाहिए? परन्तु क्या किया जाय, यह बात इन अकृतार्थ लोगों की समझ में ही नहीं आती। (५३) राँधने-वाली जैसे उत्तम रसोई बनाकर मोल से बेचे वैसे ही ये अविवेकी लोग धर्म को खो देते हैं; (५४) एवं हे पार्थ! देखो, वेद के अर्थवाद में निमग्न हुए लोगों के मन में सर्वदा दुर्बुद्धि ही रहती है। (५५)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यह निश्चय जानो कि वेद तीनों गुणों से वेष्टित हैं। उपनिषदादि सात्विक हैं, (५६) और हे धनुर्धर दूसरे भाग जिनमें कर्मादिकों का वर्णन किया गया है और जो केवल स्वर्ग की सूचना करते हैं, सो रज-तमात्मक हैं। (५७) इसलिए वेद सुख-दुःख के ही हेतु हैं। इनमें अपना अंतःकरण मत लगने दो। (५८) तीनों गुणों का त्याग करो, अहङ्कार और ममता छोड़ दो और एक अन्तर्यामी आत्मसुख को मत भूलो। (५९)

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

यद्यपि वेदों ने बहुत कुछ कहा हो, अनेक भेदों की सूचना की हो, तथापि हमको वही लेना चाहिए जो अपना हित हो। (२६०) सूर्य का उदय होते ही सभी रास्ते साफ़ दिखाई देने लगते हैं, परन्तु कहो भला, मनुष्य क्या एकदम उन सभी रास्तों से चलता है? (६१) अथवा, यद्यपि सारा का सारा पृथ्वीतल जलमय हो जाय तथापि जैसे उसमें से मनुष्य अपने इच्छानुसार ही ग्रहण करता है, (६२) वैसे ही जो ज्ञानी होते हैं वे वेदार्थ का विचार करते हैं और उस इष्ट वस्तु का स्वीकार करते हैं जो शाश्वत है। (६३)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

इसलिए हे पार्थ! इसी प्रकार तुम्हें भी स्वकर्म करना उचित है। (६४) खूब विचार कर देखने पर हमारे ध्यान में यही आता है कि तुम्हें अपना कर्तव्य-कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। (६५) परन्तु कर्म के फल की आशा नहीं रखनी चाहिए और निषिद्ध कर्म की ओर प्रवृत्त न होना चाहिए। किन्तु हेतु-रहित हो सत्कर्म का आचरण करना चाहिए। (६६)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योगयुक्त होकर फल का संग छोड़ दो और फिर मन लगाकर कर्म करो। (६७) परन्तु यदि आरम्भ किया हुआ कर्म सुदैव से

सिद्ध हो जाय तो उसके विषय अधिक सन्तोष भी मत मानो, (६८) अथवा यदि किसी कारण से वह कर्म सिद्ध न होते हुए रह जाय तो असन्तोष से क्षुब्ध भी मत हो। (६९) कर्म करते करते यदि सिद्ध हो जाय तो निःसन्देह भला ही हुआ; परन्तु न भी सिद्ध हो तो सफल ही हुआ-सा समझो। (२७०) जितना कुछ कर्म उत्पन्न होता है उतना सब ईश्वर को समर्पण किया जाय तो सहज ही परिपूर्ण हुआ-सा समझना चाहिए। (७१) ऐसी जो भले-बुरे कर्म के विषय मनोधर्म की समानता होती है उसी योगस्थिति की श्रेष्ठ जन प्रशंसा करते हैं। (७२)

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

हे अर्जुन! जहाँ मन और बुद्धि की एकता होती है, और जहाँ चित्त की समता रहती है, वहीं योग का सार है। (७३) हे पार्थ! इस बुद्धि-योग का अनेक रीति से विचार करने से कर्मयोग की योग्यता कम दिखाई देती है। (७४) परन्तु कर्म का आचरण किया जाय तभी यह योग सिद्ध होता है; क्योंकि कर्मोत्तर स्थिति ही स्वभावतः योग की स्थिति है। (७५) इसलिए हे अर्जुन! श्रेष्ठ बुद्धि-योग में स्थिर रहो और मन से फल की आशा का तिरस्कार करो। (७६) जो बुद्धि-योग में उद्यत हुए हैं वे ही संसार के पार गये हैं और वे ही संसार और स्वर्ग-सम्बन्धी पाप-पुण्यों से छूटे हैं। (७७)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

वे कर्म में व्यवहार करते हैं, परन्तु कर्म के फल की इच्छा उन्हें स्पर्श नहीं करती। हे अर्जुन! उनका जन्म-मरण भी नष्ट हो जाता है; (७८) और फिर हे धनुर्धर! वे बुद्धि-योग-युक्तजन आनन्द से भरा हुआ अविनाशी स्थान पाते हैं। (७९)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

तुम ऐसे तभी होगे जब इस मोह को छोड़ दोगे और जब तुम्हारे मन में वैराग्य का सञ्चार होगा। (२८०) तब निर्दोष और अगाध आत्मज्ञान उपजेगा जिससे तुम्हारा मन आप ही आप निरिच्छ हो जायगा। (८१) उस समय और किसी वस्तु का जानना अथवा पिछली किसी बात का स्मरण करना दूर रह जायगा। (८२)

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

और तुम्हारी मति जो इन्द्रियों की संगति से फैलती है वह जब पुनः आत्मस्वरूप में स्थिर हो जावेगी, (८३) जब बुद्धि केवल समाधि-सुख में निश्चल होगी, तब तुम्हें सम्पूर्ण योग की स्थिति प्राप्त होगी। (८४)

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

तब अर्जुन ने कहा—हे देव! मैं इसी विषय में कुछ पूछा चाहता हूँ। (८५) श्रीकृष्ण बोले—हे किरीटी! तुम जो चाहो सन्तोष और आनन्द के साथ पूछो। (८६) यह वचन सुनकर पार्थ ने पूछा—हे श्रीकृष्ण! स्थितप्रज्ञ की क्या व्याख्या है? वह कैसे पहचाना जाता है सो कहिए। (८७) जिसे स्थिरबुद्धि कहते हैं और जो अखण्ड समाधि-सुख का उपभोग लेता है वह किन लक्षणों से जाना जाता है? (८८) हे देव! हे लक्ष्मीपति! वह किस स्थिति में रहता है, किस रूप से शोभता है, सो कहिए। (८९) तब परब्रह्म के अवतार, षड्गुणों के अधिष्ठान श्रीनारायण क्या बोले? (२९०)

श्री भगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

उन्होंने कहा—हे अर्जुन! सुनो, मन में जो अभिलाषा प्रबल होती है वही आत्मसुख में विघ्न करती है। (९१) जो पुरुष सर्वदा

तृप्त है, जिसका अन्तःकरण ज्ञान से पूर्ण है, जिस काम की सङ्गति विषयों में पतन कराती है (९२) वह काम जिसका सर्वथा चला जाता है, जिसका मन आत्मसन्तोष में ही मग्न रहता है उस पुरुष को स्थितप्रज्ञ जानो। (९३)

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

अनेक दुःख प्राप्त होने से भी जिसके चित्त में विकलता नहीं उपजाती और जो सुख की आशा में नहीं फँसता (९४) उसमें हे अर्जुन! काम और क्रोध नहीं रहते; और उस पहुँचे हुए पुरुष को कभी भय भी नहीं होता। (९५) इस प्रकार जो निःसीम है, जो संसार का त्याग कर भेद-रहित हो गया है, उसे स्थिर-बुद्धि जानो। (९६)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो सर्वदा समान रहता है, जैसे पूर्णचंद्र प्रकाश देते समय ऐसा भेद नहीं रखता कि यह अधम है और यह उत्तम है (९७) वैसे ही जिसकी अखण्ड समता है, जिसमें सब भूत मात्र के विषय में सदयता है, और जिसके चित्त में किसी समय भी अन्तर नहीं होता, (९८) कोई अच्छी बात प्राप्त हो तो जो उसके सन्तोष के वश नहीं होता, तथा किसी बुरी बात से जो दुःख के हाथ नहीं आता, (९९) ऐसा जो हर्ष और शोक से रहित और आत्मज्ञान से पूर्ण हो उसे, हे धनुधर! प्रज्ञायुक्त जानो। (३००)

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अथवा जैसे कछुआ मौज से अपने अवयव फैलाता है किंवा अपने इच्छानुसार आप ही उन्हें सिकोड़ लेता है, (१) वैसे ही इन्द्रियाँ जिसके अधीन हो आज्ञा पालन करती हैं उसी की प्रज्ञा स्थिरता को प्राप्त हुई है। (२)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

हे अर्जुन ! एक और कुतूहल सुनो। जो योग-साधना करनेहारे नियम-साधन करके विषयों का त्याग करते हैं, (३) श्रवणादि इन्द्रियों का संयमन करते हैं, परन्तु रसना का निग्रह नहीं करते उन्हें विषय सहस्रधा आ लिपटते हैं। (४) ऊपर-ऊपर के पत्ते तोड़िए और जड़ को पानी देते जाइए तो उस वृक्ष का नाश कैसे होगा ? (५) वह जल के बल से जैसा अधिक विस्तार से फैलता जाता है वैसे ही मन में रसना के द्वारा विषय पुष्ट होते जाते हैं। (६) दूसरे इन्द्रियों के विषय जैसे हठ से छूट सकते हैं वैसे रस-विषय का संयमन हठ से नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना यह जीवन भी नहीं रह सकता। (७) परन्तु हे अर्जुन ! जब साधक साक्षात्कार के द्वारा परब्रह्म रूप हो जाता है तब इस रसना का नियमन आप ही आप हो जाता है। (८) उस समय जब सोऽहंभाव का अनुभव प्रकट होता है तब शरीर के व्यवहार बन्द हो जाते हैं और इन्द्रिय विषयों को भूल जाते हैं। (९)

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे अर्जुन ! साधारणतः ये विषय निरन्तर यत्न से साधना के पीछे लगनेवालों के भी हाथ नहीं आते। (३१०) अभ्यास जिनकी गश्त दे रहा है, यम-नियमों की जिनके वागुर लगी है, और जो मन को सर्वदा मुट्ठी में रक्खे हुए हैं, (११) वे भी इन इन्द्रियों से व्याकुल हो जाते हैं। ऐसा इनका प्रताप है। भूत जैसे मन्त्रज्ञ को भुलाता है (१२) वैसे ऋद्धि-सिद्धि के मिस से साधकों को ये विषय ही प्राप्त हो जाते हैं, और इन्द्रियों का स्पर्श होते ही वे उन्हें वश कर लेते हैं, (१३) मन उस विषय-समुदाय में लग जाता है और अभ्यास में निर्बल हो रहता है। इन्द्रियों की शक्ति इतनी दृढ़ है। (१४)

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिए हे पार्थ, सुनो। सब विषयों की इच्छा छोड़ कर जो इन्द्रियों का सर्वथा दमन करता है (१५) उसी को योगनिष्ठा का हेतु जानो। उसका अन्तःकरण विषय-सुख में नहीं फँसता (१६) वह सर्वदा आत्मज्ञान से युक्त हो रहता है और अपने हृदय में मेरा ध्यान

नहीं भूलता। (१७) यों चाहे कोई बाह्यतः विषय छोड़ दे, परन्तु यदि मन में विषय रह जायँ तो उसे आदि से अन्त तक संसार ही रहता है। (१८) जैसे विष का लेशमात्र खाने से उसका शरीर भर में विस्तार हो जाता है और निश्चय से जीवन का नाश हो जाता है, (१९) वैसे ही विषय की आशङ्का मन में रहने से कुल विचार-समूह का नाश हो जाता है। (२२०)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

हृदय में यदि विषयों का स्मरण बना रहे तो वैराग्यशील मनुष्य को भी उनकी प्रीति होती है और इस प्रीति से मूर्त्तिमान् अभिलाष अर्थात् काम प्रकट होता है। (२१) जहाँ काम उपजता है वहाँ क्रोध पहले ही आ जाता है और क्रोध के साथ अविचार रक्खा ही हुआ है। (२२) अविचार प्रकट होते ही जैसे प्रचण्ड वायु से ज्योति बुझ जाती है वैसे ही स्मृति का नाश हो जाता है। (२३) और, सूर्यास्त होने पर रात्रि जैसे सूर्य्य के तेज को ग्रस लेती है वैसी ही दशा प्राणियों की—स्मृति का भ्रंश हो जाने पर—होती है। (२४) फिर जो केवल अज्ञानान्धकार रह जाता है उसमें मनुष्य सर्वथा डूब जाता है। उस समय बुद्धि व्याकुल हो जाती है। (२५) जैसे जन्मान्ध को कभी दौड़कर भागना पड़े तो वह दीनता से इधर-उधर दौड़ता है वैसे ही, हे धनुर्धर! बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है; (२६) एवं जब स्मृतिभ्रंश होता है तब बुद्धि बिलकुल अड़ जाती है और सब ज्ञान उन्मूल हो जाता है। (२७) तात्पर्य यह कि जीव के नाश से जैसी दशा शरीर की होती है वैसी ही बुद्धि के नाश से मनुष्य की होती है। (२८) इसलिए हे अर्जुन! जैसे छोटी-सी चिनगारी ईंधन में लग जाय तो वह बढ़ कर त्रिभुवन का नाश करने के लिए काफी हो सकती है, (२९) वैसे ही यदि मन विषयों का ध्यान में भी लावे तो उपर्युक्त पतन मनुष्य को ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचता है। (२३०)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

इसलिए सब विषयों को मन से सर्वथा निकाल देना चाहिए। फिर राग और द्वेष का सहज ही नाश हो जावेगा। (३१) हे पार्थ! एक बात और सुनो। राग-द्वेष नष्ट हो जायँ तो इन्द्रियों को विषयों के सेवन से कुछ बाधा नहीं हो सकती। (३२) आकाश में रहनेवाला सूर्य अपने किरणरूपी हाथों से इस जगत् का स्पर्श करता है तो क्या वह उसके संसर्ग-दोष से लिप्त हो जाता है? (३३) इसी तरह जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों से उदासीन है, जो आत्मप्रीति में ही निमग्न है, जो काम और क्रोध से रहित हो रहता है। (३४) उसे विषयों में भी आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं जान पड़ता। तो फिर विषय क्या हैं और किसे क्या बाधा करेंगे? (३५) यदि जल में जल डूब सके अथवा अग्नि से अग्नि जल सके तभी वह पहुँचा हुआ पुरुष विष-सङ्ग से डूब सकेगा। (३६) अतएव यह निश्चय जानो कि जो केवल आप ही सर्वरूप हो रहता है उसकी बुद्धि अचल रहती है। (३७)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

देखो, जहाँ चित्त में निरन्तर प्रसन्नता है वहाँ इन सब संसार-दुःखों का प्रवेश नहीं हो सकता। (३८) जैसे, जिसके पेट से अमृत का प्रवाह उत्पन्न हो उसे कभी भूख और प्यास का डर नहीं रहता, (३९) वैसे ही यदि हृदय प्रसन्न हो तो दुःख काहे का हो और कहाँ रहे? उस समय बुद्धि अपने आप परमात्मा के स्वरूप में जा बसती है। (३४०) जैसे वायुरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक कभी कम्प नहीं जानता, वैसे ही जिसकी बुद्धि स्थिर है वह आत्मस्वरूप के योग में निश्चल हो रहता है। (४१)

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिसके अन्तःकरण में इस योग का विचार नहीं है उसे विषयादिक गुणों के वशीभूत समझो। (४२) हे पार्थ! उसकी बुद्धि कभी सर्वथा स्थिर नहीं रहती और उसे स्थिरता की इच्छा भी कभी नहीं उपजती। (४३) हे अर्जुन! निश्चलता की भावना यदि मन में न उपजेगी तो उसे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी? (४४) जैसे पापियों

के पास मोक्ष कभी नहीं बसता वैसे ही जहाँ शान्ति का उद्गम नहीं है वहाँ सुख कभी भूलकर भी नहीं जाता। (४५) देखो, जो बीज अग्नि में भूना गया है वह यदि उग सके तभी अशान्त मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है। (४६) अतएव मन का नियमन न करना ही सब दुःखों का कारण है। इसलिए इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। (४७)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

जो मनुष्य इन्द्रिय जो जो कहें सो सो करते हैं वे इस विषय-रूपी समुद्र में से तर जायँ तो भी तरे न समझना चाहिए। (४८) जैसे नाव तीर पर लग कर भी यदि तूफान में पड़ जाय तो टला हुआ सङ्कट फिर आ बीतता है, (४९) वैसे ही पहुँचा हुआ मनुष्य भी यदि कुतूहल से इन्द्रियों का लालन करे तो उसे इन संसार-सम्बन्धी दुःखों ने घेर ही लिया जानो। (३५०)

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए, हे धनञ्जय! अपनी इन्द्रियाँ यदि अपने अधीन हो जायँ तो इससे अधिक सार्थक और क्या है? (५१) देखो, कछुवा जैसे अपने ही इच्छानुसार अपने अवयव फैलाता है, अथवा अपनी ही इच्छा से आप ही आप उन्हें सिकोड़ लेता है, (५२) वैसे ही इन्द्रिय जिसके वश होकर आज्ञा मानते हैं उसकी बुद्धि स्थिरता को पहुँची समझो। (५३) अब, हे अर्जुन! पहुँचे हुए मनुष्य का एक और गूढ़ लक्षण बताता हूँ सो सुनो। (५४)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

देखो, जिस विषय में सकल प्राणिमात्र अज्ञान में रहते हैं उस विषय में जिसे ज्ञान है और जिस विषय में सब प्राणिगण जागृत हैं उस विषय में जो निद्रित है, (५५) हे अर्जुन! उसी को उपाधिरहित, स्थिर-बुद्धि और गम्भीर मुनीश्वर समझो। (५६)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

हे पार्थ ! वह एक प्रकार से और भी पहचाना जा सकता है। जैसे समुद्र में निरन्तर निश्चलता रहती है—(५७) वर्षाकाल में यद्यपि सम्पूर्ण नदियों के प्रवाह पूर्ण हो उससे आ मिलते हैं तथापि जैसे वह किञ्चित् भी नहीं बढ़ता और अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, (५८) अथवा ग्रीष्म-काल में सब नदियाँ सूख जाती हैं तथापि जैसे वह कुछ न्यून नहीं होता—(५९) वैसे ही ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति होने से उस पहुँचे हुए पुरुष की बुद्धि चञ्चल नहीं होती और उनके न प्राप्त होने से उसे अधीरता नहीं उपजती। (३६०) कहो, क्या सूर्य के घर दिया लगाने से प्रकाश होता है, और न लगाने से क्या वह अँधेरे में रहता है? (६१) ऐसे ही जो ऋद्धि-सिद्धि के आने-जाने का स्मरण भी नहीं करता, उसी का अन्तःकरण महासुख में निमग्न रहता है। (६२) जो अपने घर की सुन्दरता के आगे इन्द्रभवन को भी तुच्छ समझता है उसे भीलों की पत्तों की मड़ैयों से कैसे आनन्द मिलेगा? (६३) जो अमृत को भी नाम रखता है वह जैसे दरिया कभी नहीं पीता वैसे ही आत्मसुख का अनुभव लेनेवाला ऋद्धि-सिद्धि का उपभोग कभी नहीं करता। (६४) हे पार्थ! यह चमत्कार देखो; जहाँ स्वर्ग के सुख की भी परवा नहीं है वहाँ ऋद्धि-सिद्धि क्या चीज हैं? वह तो केवल साधारण ही हैं। (६५)

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

ऐसा जो आत्मज्ञान से सन्तुष्ट हो जो परमानन्द से पुष्ट हो, उसी को सच्चा स्थिरप्रज्ञ जानो। (६६) वह अहङ्कार को छोड़, सकल मनोरथों का त्याग कर, जगत् में जगदाकार हो सञ्चार करता है। (६७)

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इस निःसीम ब्रह्मस्थिति का जिन निष्काम जनों को अनुभव होता है वे बिना कष्ट के परब्रह्मपद को पहुँच जाते हैं। (६८) जिस स्थिति के कारण ज्ञान-स्वरूप में मिलते समय ज्ञानियों के चित्त में देहान्त का व्याकुलतारूपी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, (६९) वही यह स्थिति लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने अर्जुन से वर्णन की। इस प्रकार सञ्जय ने राजा से निवेदन किया। (३७०) श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन ने मन में कहा कि यह युक्ति हमारे हित की हुई। (७१) देव ने सब कर्म मात्र का निषेध किया इससे मेरा युद्ध करना भी टल गया। (७२) इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचनों से अर्जुन चित्त में प्रसन्न हुआ और अब आशङ्का-सहित उत्तम प्रश्न करेगा। (७३) वह सुन्दर संवाद मानों सब धर्मों का उत्पत्तिस्थान है, अथवा विवेकरूपी अमृत का अमर्याद समुद्र है। (७४) इस संवाद का निरूपण स्वयं सर्वज्ञनाथ श्रीकृष्ण करेंगे और वह कथा मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव वर्णन करूँगा। (३७५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः।
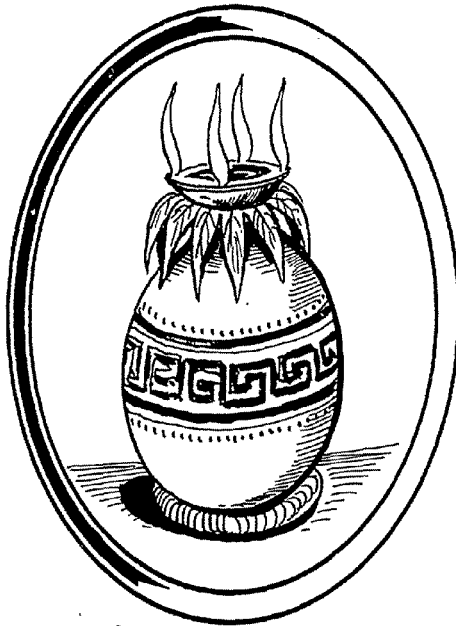
तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच--

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

फिर अर्जुन ने कहा--हे देव, हे कृपानिधि ! आपके वचन मैंने भली भाँति सुने। (१) आपने कहा कि उस आत्मस्वरूपी में कर्म और कर्त्ता रहते ही नहीं, हे श्रीअनन्त ! यह यदि आपका निश्चित मत हो (२) तो हे श्रीहरि ! मुझे युद्ध के लिए प्रोत्साहन दे, इस महा-घोर कर्म में डालते हुए आपको सङ्कोच क्यों नहीं होता ? (३) अजी, आप ही सब कर्म का सर्वथा निषेध करते हैं, तो मुझसे ऐसा हिंसक कर्म क्यों कराते हैं ? (४) हे श्रीहृषीकेश ! आप ही विचार कर देखिए कि आप लेशमात्र भी कर्म को भला नहीं समझते, और मुझसे इतनी बड़ी हिंसा कराते हैं ! (५)

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

हे देव ! आप ही यदि यों कहें तो हम अज्ञानी लोग क्या करें ? सम्पूर्ण विवेक की बातों का अन्त ही हुआ कहना चाहिए ! (६) अजी उपदेश ऐसा सन्दिग्ध हो तो अपभ्रंश और कैसा रहता है ? फिर हमारा आत्मज्ञान का मनोरथ पूर्ण हो चुका ! (७) यदि वैद्य पथ्य बता जावे और फिर आप ही विष देवे तो कहिए रोगी कैसे जियेगा ? (८) जैसे कोई अन्धे को आड़े टेढ़े रास्ते में ले जाय, अथवा वानर को कोई नशा पिला दिया जाय, वैसे ही हमें आपका उत्तम उपदेश प्राप्त हुआ है। (९) मैं पहले से ही अज्ञानी हूँ, ऊपर से मोह के वश हुआ हूँ; इसलिए हे श्रीकृष्ण ! मैंने आपकी सम्मति पूछी (१०) तो आपकी एक एक बात विलक्षण ही दिखाई देती है। आपके उपदेश में उलझाव मालूम पड़ता है। शरणागत की क्या ऐसी दशा की जाती है ? (११)

हम तन-मन-प्राण से आपके वचनों पर विश्वास रक्खें और आप यदि ऐसा करें तो हो चुका! (१२) इस प्रकार आप बोध करेंगे तो हमारी बड़ी भलाई करेंगे! इसमें ज्ञान की क्या आशा है? (१३) ज्ञान की तो बात ही गई परन्तु उलटी एक बात और यह हो गई कि मेरा मन जो स्थिर था सो और क्षुब्ध हो गया! (१४) परन्तु हे श्रीकृष्ण! यदि इस मिस से आप मेरा मन देखते हों तो आपकी लीला अतर्क्य है। (१५) विचार करने से भी मुझे यह निश्चय नहीं जान पड़ता कि आप मुझे ठगते हैं कि गूढ़ भाषा में परमार्थ ही बताते हैं। (१६) इसलिए हे देव! सुनिए, ऐसा भावार्थ न कहिए। मुझे स्पष्ट भाषा में ज्ञान बताइए। (१७) ऐसी निश्चयात्मक बात कहिए कि मैं यद्यपि अत्यन्त मतिमन्द हूँ तथापि भली भाँति समझ सकूँ। (१८) देखिए, औषधि रोग को हटानेवाली तो हो ही, परन्तु वह जैसे मधुर तथा रुचिर भी हो, (१९) वैसा ही सकलार्थ से भरा हुआ तथा उचित तत्त्व बताइए; परन्तु इस तरह बताइए कि मेरे चित्त को बोध हो जाय। (२०) हे देव! आपके समान गुरु होते हुए मैं अपनी इच्छा की तृप्ति क्यों न कर लूँ? लज्जा किसकी करूँ? आप तो मेरी माता हैं। (२१) अजी दैवयोग से कामधेनु का गोरस प्राप्त हो जाय तो फिर क्या मनोरथों की कमी करनी चाहिए? (२२) यदि चिन्तामणि हाथ लग जाय तो कामना करने में कौन-सा सङ्कट है! मनमानी इच्छा क्यों न की जाय? (२३) देखिए, यदि कोई अमृत के समुद्र के किनारे जा पहुँचे और फिर भी प्यास से व्याकुल रहे तो उसने वहाँ जाने का श्रम ही क्यों किया? (२४) वैसे ही हे श्रीकमलापति अनेक जन्मान्तर से आपकी उपासना करते करते दैवयोग से आज आप हमारे हाथ लगे हैं। (२५) तो हे परेश! अपनी इच्छा भर आपसे क्यों न माँग लें? हे देव! आज हमारे मन के लिए सुदिन उदय हुआ है! (२६) देखिए, आज मेरी सब इच्छाओं का जीवन और पुण्य सफल हो चुका और सब मनोरथों का विजय हो चुका। (२७) क्योंकि, हे परम-कल्याणनिधि! हे सकल देवों में श्रेष्ठ! आज आप हमारे अधीन हुए हैं। (२९) जैसे माता का स्तनपान करने के लिए बालक को कभी कुअवसर नहीं होता, (२९) वैसे ही हे देव, हे कृपानिधि! मैं आपसे अपने इच्छानुसार पूछता हूँ। (३०) अतएव ऐसी एक निश्चयात्मक बात कहिए, जो परलोक में तो हितकारी हो और आचरण के भी योग्य हो। (३१)

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

यह सुनकर श्रीअच्युत विस्मित हो कहने लगे—हे अर्जुन! आत्मज्ञान और कर्म का अभिप्राय हमने संक्षेप से बताया था। (३२) क्योंकि बुद्धि-योग का वर्णन करते हुए ज्ञानमार्ग का वर्णन हमने प्रसङ्गानुसार किया था। (३३) यह बात तुमने नहीं जानी। इसलिए तुमको वृथा कष्ट हुआ। अब सुनो। ये दोनों योग मैंने ही कहे हैं। (३४) हे वीरश्रेष्ठ! इस संसार में ये दोनों अनादिसिद्ध मार्ग मुझसे ही प्रकट हुए हैं। (३५) एक को ज्ञानयोग कहते हैं, जिसका ज्ञानी आचरण करते हैं और जिससे ज्ञान होते ही ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। (३६) दूसरा कर्मयोग कहलाता है जिसमें निपुण हो साधकजन अवकाश से मोक्ष प्राप्त करते हैं। (३७) वैसे तो ये मार्ग दो हैं, परन्तु अन्त में एक हो जाते हैं। जैसे बने हुए भोजन से निदान में एक तृप्ति ही होती है, (३८) अथवा जैसे पूर्व पश्चिम बहती हुई नदियाँ प्रवाह में भिन्न दिखाई देती हैं परन्तु समुद्र में मिलने से निदान में एक ही हो जाती हैं, (३९) वैसे ही ये दोनों मार्ग एक ही हेतु की सूचना करते हैं। परन्तु इनकी उपासना साधकों की योग्यता पर निर्भर है। (४०) देखो, उड़ान मारते ही पक्षी फल से झूम जाता है परन्तु मनुष्य उस तक उसी वेग से कैसे पहुँच सकता है? (४१) वह धीरे-धीरे इस डाल पर से उस डाल पर होता हुआ, किसी काल में, निश्चय से पहुँचेगा। (४२) वैसे ही ज्ञानी जन विहङ्गम-मार्ग से ज्ञान का आश्रय करके तत्काल मोक्ष को अपने अधीन करते हैं; (४३) और अन्य योगी कर्म के आधार से वेदविहित स्वधर्माचरण करते हुए योग्य काल में पूर्णता को पहुँचते हैं। (४४)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

वस्तुतः उचित कर्म का आरम्भ न करते कर्महीन मनुष्य सिद्धि के तुल्य निश्चय से नहीं हो सकता। (४५) हे अर्जुन! यह कहना, कि विहित कर्म का त्याग करने से ही निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है, व्यर्थ और मूर्खता है। ४६) कहो, पार जाने का जहाँ सङ्कट उपस्थित है वहाँ नाव का त्याग कैसे किया जा सकता है? (४७) अथवा तृप्ति की इच्छा हो तो

रसोई क्योंकर न बनाई जाय, अथवा बनी हुई हो तो क्योंकर न खाई जाय ? (४८) जब तक निरिच्छता उत्पन्न नहीं होती तब तक व्यापार होता ही रहता है और सन्तुष्टता प्राप्त होते ही सहज में बन्द हो जाता है। (४९) इसलिए हे पार्थ! सुनो, जिसको नैष्कर्म्य अथवा परमहंसपद की इच्छा हो उसे उचित कर्म बिलकुल त्याज्य नहीं है। (५०) इसके अलावा, "कर्म ऐसा है कि अपने इच्छानुसार करने से होता है और छोड़ देने से छूट जाता है" (५१) यह उक्ति भी व्यर्थ और स्वच्छन्द है। अनुभव करके देखो तो निश्चित रूप से जान लोगे कि छोड़ने से कर्म नहीं छूटता। (५२)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

जब तक माया का आश्रय है तब तक यह समझना कि मैं कर्म का त्याग तथा ग्रहण कर सकता हूँ केवल अज्ञान है, क्योंकि यह चेष्टा स्वभावतः गुणों के अधीन रहती है। (५३) देखो, जितने कुछ विहित कर्म हैं उन्हें यद्यपि कोई छोड़ दे तथापि क्या इन्द्रियों के स्वभाव छूट सकते हैं ? (५४) कानों का श्रवण करना क्या बन्द हो सकता है, अथवा क्या नेत्रों का प्रकाश चला जा सकता है ? यह नासारन्ध्र क्या बन्द हो सूँघ नहीं सकता ? (५५) अथवा प्राण और अपान वायु की गति बन्द हो सकती है ? बुद्धि क्या सङ्कल्प-विकल्प-रहित हो सकती है ? या क्षुधा-तृषा इत्यादि इच्छाओं का नाश हो सकता है ? (५६) सोना और जागना बन्द हो सकता है ? अथवा क्या पाँव चलना भूल सकते हैं ? और तो क्या, जन्म-मरण बन्द हो सकते हैं ? (५७) ये बातें यदि बन्द नहीं हो सकतीं, तो त्याग किस क । किया जा सकता है ? सारांश, मायाधीन मनुष्यों के कर्म का त्याग नहीं हो सकता। (५८) कर्म पराधीनता के कारण प्रकृतिगुणों के हेतु उपजता है। इसलिए मन में यह समझना व्यर्थ है कि मैं कर्म करता हूँ या मैं कर्म का त्याग कर सकता हूँ। (५९) देखो, रथ में बैठा तो यदि निश्चल भी बैठा, तथापि परतंत्र होकर चलायमान हो घूमना पड़ता है, (६०) अथवा वायु से उड़ा हुआ सूखा पत्ता जैसे चलित होता और चैतन्य-रहित हो आकाश में घूमता है, (६१) वैसे ही प्रकृति के आधार से और कर्मेन्द्रियों के विकार से निष्काम पुरुष भी निरन्तर व्यापार करता है। (६२) अतएव जब तक प्रकृति का सङ्ग है तब तक कर्म का त्याग नहीं हो सकता। इस पर भी जो कहते हों कि हम कर सकते हैं उनका केवल आग्रह ही है। (६३)

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

यह सुनकर श्रीअच्युत विस्मित हो कहने लगे—हे अर्जुन ! आत्मज्ञान और कर्म का अभिप्राय हमने संक्षेप से बताया था। (३२) क्योंकि बुद्धि-योग का वर्णन करते हुए ज्ञानमार्ग का वर्णन हमने प्रसङ्गानुसार किया था। (३३) यह बात तुमने नहीं जानी। इसलिए तुमको वृथा कष्ट हुआ। अब सुनो। ये दोनों योग मैंने ही कहे हैं। (३४) हे वीरश्रेष्ठ ! इस संसार में ये दोनों अनादिसिद्ध मार्ग मुझसे ही प्रकट हुए हैं। (३५) एक को ज्ञानयोग कहते हैं, जिसका ज्ञानी आचरण करते हैं और जिससे ज्ञान होते ही ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है। (३६) दूसरा कर्मयोग कहलाता है जिसमें निपुण हो साधकजन अवकाश से मोक्ष प्राप्त करते हैं। (३७) वैसे तो ये मार्ग दो हैं, परन्तु अन्त में एक हो जाते हैं। जैसे बने हुए भोजन से निदान में एक तृप्ति ही होती है, (३८) अथवा जैसे पूर्व पश्चिम बहती हुई नदियाँ प्रवाह में भिन्न दिखाई देती हैं परन्तु समुद्र में मिलने से निदान में एक ही हो जाती हैं, (३९) वैसे ही ये दोनों मार्ग एक ही हेतु की सूचना करते हैं। परन्तु इनकी उपासना साधकों की योग्यता पर निर्भर है। (४०) देखो, उड़ान मारते ही पक्षी फल से झूम जाता है परन्तु मनुष्य उस तक उसी वेग से कैसे पहुँच सकता है ? (४१) वह धीरे-धीरे इस डाल पर से उस डाल पर होता हुआ, किसी काल में, निश्चय से पहुँचेगा। (४२) वैसे ही ज्ञानी जन विहङ्गम-मार्ग से ज्ञान का आश्रय करके तत्काल मोक्ष को अपने अधीन करते हैं; (४३) और अन्य योगी कर्म के आधार से वेदविहित स्वधर्माचरण करते हुए योग्य काल में पूर्णता को पहुँचते हैं। (४४)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

वस्तुतः उचित कर्म का आरम्भ न करते कर्महीन मनुष्य सिद्धि के तुल्य निश्चय से नहीं हो सकता। (४५) हे अर्जुन ! यह कहना, कि विहित कर्म का त्याग करने से ही निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है, व्यर्थ और मूर्खता है। ४६) कहो, पार जाने का जहाँ सङ्कट उपस्थित है वहाँ नाव का त्याग कैसे किया जा सकता है ? (४७) अथवा तृप्ति की इच्छा हो तो

रसोई क्योंकर न बनाई जाय, अथवा बनी हुई हो तो क्योंकर न खाई जाय ? (४८) जब तक निरिच्छता उत्पन्न नहीं होती तब तक व्यापार होता ही रहता है और सन्तुष्टता प्राप्त होते ही सहज में बन्द हो जाता है। (४९) इसलिए हे पार्थ ! सुनो, जिसको नैष्कर्म्य अथवा परमहंसपद की इच्छा हो उसे उचित कर्म बिल्कुल त्याज्य नहीं है। (५०) इसके अलावा, "कर्म ऐसा है कि अपने इच्छानुसार करने से होता है और छोड़ देने से छूट जाता है" (५१) यह उक्ति भी व्यर्थ और स्वच्छन्द है। अनुभव करके देखो तो निश्चित रूप से जान लोगे कि छोड़ने से कर्म नहीं छूटता। (५२)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

जब तक माया का आश्रय है तब तक यह समझना कि मैं कर्म का त्याग तथा ग्रहण कर सकता हूँ केवल अज्ञान है, क्योंकि यह चेष्टा स्वभावतः गुणों के अधीन रहती है। (५३) देखो, जितने कुछ विहित कर्म हैं उन्हें यद्यपि कोई छोड़ दे तथापि क्या इन्द्रियों के स्वभाव छूट सकते हैं ? (५४) कानों का श्रवण करना क्या बन्द हो सकता है, अथवा क्या नेत्रों का प्रकाश चला जा सकता है ? यह नासारन्ध्र क्या बन्द हो सूँघ नहीं सकता ? (५५) अथवा प्राण और अपान वायु की गति बन्द हो सकती है ? बुद्धि क्या सङ्कल्प-विकल्प-रहित हो सकती है ? या क्षुधा-तृषा इत्यादि इच्छाओं का नाश हो सकता है ? (५६) सोना और जागना बन्द हो सकता है ? अथवा क्या पाँव चलना भूल सकते हैं ? और तो क्या, जन्म-मरण बन्द हो सकते हैं ? (५७) ये बातें यदि बन्द नहीं हो सकतीं, तो त्याग किस क[illegible] किया जा सकता है ? सारांश, मायाधीन मनुष्यों के कर्म का त्याग नहीं हो सकता। (५८) कर्म पराधीनता के कारण प्रकृतिगुणों के हेतु उपजता है। इसलिए मन में यह समझना व्यर्थ है कि मैं कर्म करता हूँ या मैं कर्म का त्याग कर सकता हूँ। (५९) देखो, रथ में बैठो तो यदि निश्चल भी बैठो, तथापि परतंत्र होकर चलायमान हो घूमना पड़ता है, (६०) अथवा वायु से उड़ा हुआ सूखा पत्ता जैसे चलित होता और चैतन्य-रहित हो आकाश में घूमता है, (६१) वैसे ही प्रकृति के आधार से और कर्मेन्द्रियों के विकार से निष्काम पुरुष भी निरन्तर व्यापार करता है। (६२) अतएव जब तक प्रकृति का सङ्ग है तब तक कर्म का त्याग नहीं हो सकता। इस पर भी जो कहते हों कि हम कर सकते हैं उनका केवल आग्रह ही है। (६३)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो उचित कर्म छोड़ देते हैं और फिर कर्मेन्द्रिय-प्रवृत्ति का दमन करके कर्मविमुक्त हुआ चाहते हैं (६४) उनसे कर्मत्याग नहीं हो सकता। क्योंकि उनके मन में कर्म करने की अभिलाषा रह जाती है। जो ऊपर की दिखावट है वह सचमुच विडंबना है। (६५) हे पार्थ! यह निस्सन्देह सत्य समझो कि ऐसे पुरुष सर्वदा विषयासक्त रहते हैं। (६६) हे धनुर्धर! अब ध्यान दो, हम तुम्हें प्रसंगानुसार निरिच्छ मनुष्य का लक्षण बतलाते हैं। (६७)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जिसका अंतःकरण निश्चल रहता है, जो परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहता है और बाह्यतः जैसा लोकाचार हो वैसा आचरण करता है, (६८) वह इन्द्रियों को आज्ञा नहीं करता विषयों का भय नहीं रखता और जो उचित कर्म जिस समय करना अवश्य हो, उसका त्याग नहीं करता। (६९) कर्मेन्द्रियाँ कर्म में व्यापार करती हों तथापि वह उनका नियमन नहीं करता, परन्तु कभी उनके विकारों के अधीन नहीं होता। (७०) वह किसी भी कामना के वश नहीं होता और मोह-मल में लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से नहीं भीगता (७१) वैसे ही, पानी में सूर्य-बिम्ब के समान, वह संसार में रहता है और सबके समान दिखाई देता है; (७२) परन्तु सामान्यतःदेखने से ही वह साधारण मनुष्य के समान दिखाई देता है। अन्यथा, विचार कर देखने से भी उसकी स्थिति जानी नहीं जा सकती। (७३) ऐसे लक्षणों से जो चिह्नित हो उसी को मुक्त और आशापाश-रहित समझो। (७४) हे अर्जुन! जगत् में जिसकी विशेष कीर्ति होती है, ऐसा योगी वही है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम ऐसे ही योगी बनो। (७५) मन का नियमन करो और अंतःकरण में निश्चल रहो, फिर चाहे कर्मेन्द्रिय सुख से व्यापार करती रहें। (७६)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

अत: जब कर्मरहित होने की सम्भावना नहीं हो सकती तो फिर विचार करो कि निषिद्ध कर्मों का आचरण क्यों किया जाय ? (७७) इसलिए जो जो उचित हो और अवसर से प्राप्त हुआ हो उस कर्म का, फल हेतु छोड़कर, आचरण करो। (७८) हे पार्थ! एक और कुतूहल है जो तुम नहीं जानते। वह यह कि कर्म ही अपने आप कर्म की मुक्ति का कारण होता है। (७९) देखो, वर्णाश्रम के आधार से जो स्वधर्म का आचरण करते हैं वे उस चेष्टा के द्वारा निश्चय से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। (८०)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

स्वधर्म को ही नित्ययज्ञ समझो। इसलिए उसका आचरण करने से पाप का संचार नहीं होता। (८१) यह स्वधर्म जब छूट जाता है और कुकर्म की प्रवृत्ति होती है तभी संसार का बन्धन होता है। (८२) इसलिए जो स्वधर्म का आचरणरूपी अखण्ड यज्ञ करता है उसको कर्मबन्धन नहीं हो सकता। (८३) यह संसार जो कर्म से बँधा है और प्रकृति को भूल जाता है उसका कारण यह है कि वह नित्ययज्ञ करना भूलता है। (८४) अब हे पार्थ! मैं इस विषय में तुमसे एक कथा कहता हूँ। जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि इत्यादि की रचना की (८५)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

तब उस समय संपूर्ण प्राणियों के साथ ही नित्ययज्ञ भी उत्पन्न किया, परन्तु गूढ़ होने के कारण उन्होंने उस यज्ञ को नहीं पहचाना। (८६) अत: प्रजागण ने ब्रह्मदेव की विनती की कि हे देव! हमें यहाँ क्या आश्रय है। तब उन कमल-जन्मा ब्रह्मदेव ने प्राणियों से कहा कि (८७) हमने तुम्हारी वर्णव्यवस्था के अनुसार स्वधर्म की रचना की है। इसकी उपासना करो तो तुम्हारे मनोरथ सहज ही पूर्ण होंगे। (८८) तुम चाहे व्रत नियम आदि मत करो, शरीर को पीड़ा न दो, तीर्थ के लिए दूर कहीं न जाओ, (८९) योगादिक साधन, किसी कामना के लिए आराधन, और तान्त्रिक अनुष्ठान न करो; (९०) दूसरे देवताओं को न भजो; ये बातें बिलकुल कुछ भी न करो किन्तु बिना कष्ट के स्वधर्मरूपी यज्ञ का यजन करो। (९१) इसका निष्काम चित्त से अनुष्ठान करो। जैसे पतिव्रता पति की सेवा करती है

(९२) वैसे ही स्वधर्मरूपी यज्ञ ही एक तुम्हारा सेव्य है। सत्यलोकनायक ब्रह्मदेव ने और भी कहा (९३) कि हे प्रजागण! स्वधर्म की उपासना करोगे तो वह तुम्हारी कामधेनु बनेगा और कभी तुम्हारा त्याग न करेगा। (९४)

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

जब इस स्वधर्म की सेवा से सम्पूर्ण देवताओं को सन्तोष होगा तब वे तुम्हारे इष्ट हेतु पूर्ण करेंगे। (९५) स्वधर्म का आदर करने से सब देवतागण निश्चय ही तुम्हारा योग-क्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु का पालन) करेंगे। (९६) और जब आपस में ऐसा प्रेम उपजेगा कि तुम देवों का भजन करो और देव तुम पर सन्तुष्ट हों (९७) तब तुम जो कुछ करना चाहोगे सो आप ही सिद्ध हो जायगा, मन की कामनाएँ पूर्ण हो जावेंगी, (९८) वाचासिद्धि प्राप्त होगी, तुम आज्ञाकर्ता बनोगे और महाऋद्धि तुम्हारी आज्ञा मानेगी। (९९) जैसे वनशोभा, फल-भार और लावण्य-सहित सदा वसन्त ऋतु के द्वार का आश्रय करती है (१००)

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

वैसे ही मूर्तिमान् दैव ही सुख सहित तुम्हारी खोज करता हुआ चला आवेगा। (१) इस प्रकार, निरिच्छ हो एक स्वधर्म में ही लगे हुए वर्ताव करने से तुम संपूर्ण उपभोगों से संपन्न हो जावोगे। (२) अन्यथा, सकल संपत्ति हाथ लगने पर जो विषयों के स्वाद से लुब्ध हो उन्मत्त इन्द्रियों की आज्ञा में चलता है; (३) जो यज्ञ से सन्तुष्ट किये हुए देवताओं की दी हुई संपत्ति से सर्वेश्वर स्वधर्म की पूजा नहीं करता; (४) जो अग्नि में हवन नहीं करता, देवताओं की पूजा नहीं करता, यथा-काल ब्राह्मणों को भोजन नहीं देता, (५) गुरुभक्ति से विमुख होता है, अतिथि का सत्कार नहीं करता और अपनी जाति को संतोष नहीं देता, (६) ऐसा जो स्वधर्म-कर्मरहित, संपत्ति के कारण साभिमान और केवल भोगों में निमग्न होता है (७) उसे ऐसा बड़ा अपाय प्राप्त होता है कि जिससे गाँठ की संपूर्ण संपत्ति चली जाती है और प्राप्त किये हुए भोगों का उपभोग भी नहीं मिल सकता। (८) जैसे आयुष्य बीते हुए शरीर में जीवात्मा नहीं रहता

अथवा अभागे के घर में जैसे लक्ष्मी नहीं रहती (९) वैसे ही स्वधर्म का लोप हो जाय तो सब सुख का आश्रयस्थान ही टूट जाता है। जैसे दीपक बुझते ही प्रकाश का लोप हो जाता है (११०) वैसे ही ब्रह्मदेव ने कहा—हे प्रजागण! यह सत्य वचन सुनो कि जब निज की धर्मवृत्ति छूट जाती है तब वहाँ स्वतन्त्रता निवास नहीं करती। (११) इसलिए जो स्वधर्म का त्याग करेगा उसे काल दण्ड देगा, और उसे चोर समझ कर उसका सर्वस्व हर लेगा। (१२) फिर सबके सब दोष उसे चारों ओर से घेर लेंगे। जैसे रात्रि के समय भूत श्मशान को घेर लेते हैं (१३) वैसे ही तीनों भुवनों के दुःख और नाना प्रकार के पाप और सम्पूर्ण दरिद्रता उस पुरुष में निवास करती है। (१४) हे प्राणिगण! जब उस उन्मत्त की ऐसी दशा होती है तो वह कल्पान्त तक रोने-पीटने से भी सर्वथा नहीं छूटती। (१५) इसलिए आत्मवृत्ति न छोड़ो इन्द्रियों को बहकने मत दो। (१६) पानी जलचरों का त्याग दे तो जैसे तत्काल उनकी मृत्यु होती है, वैसे ही दशा स्वधर्म को भूलनेवाले की भी होती है। [इसलिए स्वधर्म को भूल न जाना।] (१७) अतएव हम बारबार कहते हैं कि तुम सबको अपने अपने उचित कर्मों में तत्पर होना चाहिए। (१८)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

देखो, जो प्राप्त की हुई सम्पत्ति का निष्काम बुद्धि से विहित कर्मानुष्ठान में उपयोग करता है; (१९) गुरु, गोत्र और अग्नि की पूजा करता है, यथाकाल ब्राह्मणों की सेवा करता है, पितरों के हेतु श्राद्धादिक यज्ञों का यजन करता है; (१२०) और इस उचित यज्ञ-क्रिया से यज्ञ में हवन कर सहज ही जो कुछ हवन-सामग्री शेष रह जाय (२१) उसका अपने घर में कुटुम्बियों के साथ सुख से भोजन करता है; उसके सब पापों का वह यज्ञशेष नाश करता है। (२२) वह यज्ञ में बचे हुए अन्न का भोजन करता है इसलिए, जैसे अमृत का सेवन किये हुए पुरुष से महारोग दूर भागते हैं, वैसे ही पाप उसके समीप नहीं जाते। (२३) अथवा जैसे ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य को भ्रान्ति का लेश भी नहीं छू सकता वैसे ही उस यज्ञावशिष्ट के भोजन करनेवाले को पाप वश में नहीं कर सकते। (२४) इसलिए स्वधर्म से जो कुछ सम्पादन किया जाय उसका खर्च स्वधर्मानुसार ही करना चाहिए और फिर जो बचे उसका सन्तोष से उपभोग करना चाहिए। (२५) हे पार्थ!

इसके सिवाय और किसी रीति से चलना उचित नहीं। ऐसी यह आद्य-कथा श्री मुरारि ने कही। (२६) जो देह को ही आत्मा मानते हैं और विषयों को भोग्य समझते हैं तथा इसके सिवाय और कुछ नहीं जानते; (२७) जो यह न जानकर कि सब जगत् यज्ञ की सामग्री है, भूल से तथा केवल अहङ्कार-बुद्धि ही से इसका उपभोग किया चाहते हैं (२८) और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार भले भले भोजन बनवाते हैं वे पापी-गण पापों का सेवन करते हैं। (२९) यह सब सम्पत्ति केवल हवन की सामग्री समझनी चाहिए और उसे स्वधर्मरूपी यज्ञ के द्वारा ही परमेश्वर को अर्पण करना चाहिए। (१३०) यह न करके मूर्ख लोग केवल अपने लिए नाना प्रकार के भोजन बनाते हैं। (३१) जिस अन्न से यज्ञ सिद्ध होता है और परमेश्वर सन्तुष्ट होता है वह सामान्य अन्न नहीं है। इसलिए (३२) इसे साधारण अन्न न समझ कर ब्रह्मरूप समझना चाहिए; क्योंकि यह सकल जगत् के जीवन का हेतु है। (३३)

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

अन्न से सम्पूर्ण प्राणिमात्र की वृद्धि होती है और अन्न को सर्वत्र पर्जन्य उपजाता है। (३४) पर्जन्य का जन्म यज्ञ से होता है और यज्ञ को कर्म प्रकट करता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

कर्म का उत्पत्तिस्थान वेदरूप ब्रह्म है। (३५) और वेदों को परात्पर अविनाशी ब्रह्म उत्पन्न करता है, एवं यह सब चराचर ब्रह्म के अधीन है। (३६) परन्तु हे सुभद्रापति! कर्म की मूर्ति जो यज्ञ है वहीं श्रुति का निरन्तर निवास है। (३७)

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

हे धनुर्धर! यह यज्ञसम्बन्धी आदिपरम्परा हमने तुम्हें संक्षेप से कह सुनाई; (३८) एवं जो उन्मत्त पुरुष इस संसार में सर्वथा उचित स्वधर्मरूपी यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता, (३९) और जो कुकर्म के द्वारा इन्द्रियों के

उपयोगी होता है उसे पातकों की राशि और भूमि का केवल भारभूत जानो। (१४०) उसका सकल जन्म और कर्म अत्यन्त निष्फल जानो। जैसे अकालिक आये हुए मेघ, (४१) अथवा बकरी के गले के थन व्यर्थ हैं वैसा ही स्वधर्मानुसार आचरण न करनेहारे का जीवन जानो। (४२) इसलिए हे पाण्डव ! सुनो स्वधर्म किसी को न छोड़ना चाहिए। सम्पूर्ण भावों से इसी एक की सेवा करनी चाहिए। (४३) अजी, यदि शरीर है तो उसके साथ कर्तव्य सहज ही प्राप्त है, तो फिर अपना उचित धर्म क्यों छोड़ा जाय (४४) हे सव्यसाची ! मनुष्यदेह पाकर जो कर्म का आलस करते हैं उन्हें मूढ़ समझना चाहिए। (४५)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

देखो, देहधर्म उपस्थित रहते भी कर्म से वही एक पुरुष लिप्त नहीं होता जो निरन्तर आत्म स्वरूप में रमण करता है। (४६) वह आत्मबोध से सन्तुष्ट हो जाता है इसलिए कृतार्थ हो बैठता है, और सहज ही कर्म के सङ्ग से मुक्त हो जाता है। (४७)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

जैसे तृप्ति होने पर उसके सब साधन आप ही आप बन्द हो जाते हैं, वैसे ही स्वरूपानन्द प्राप्त होने पर कर्म भी नहीं रहते। (४८) हे अर्जुन ! मन को जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तभी तक साधनों के आचरण की आवश्यकता है। (४९)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसलिए तुम सर्वदा सब कामनाओं से रहित होकर उचित स्वधर्म का आचरण करो। (१५०) जिन्होंने निष्काम बुद्धि से स्वधर्म का आचरण किया है उन्हें संसार में परमार्थतः कैवल्यपद प्राप्त हुआ है। (५१)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

देखो, जनक इत्यादि सत्पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का त्याग न करते मोक्षपद को पहुँचे हैं। (५२) इसलिए हे पार्थ! कर्म की आस्था आवश्यक है। इससे एक प्रकार का और उपयोग होगा। (५३) वह यह है कि हमें कर्म का आचरण करते देखकर संसार को नसीहत मिलेगी और अनायास उसके दुःख टल जायँगे। (५४) देखो, जो कृतार्थ हो चुके हैं और जिन्हें निष्कामता प्राप्त हो चुकी है उन्हें भी लोगों के लिए कर्तव्य वाक़ी रह जाता है। (५५) अन्धे को रास्ते से ले जानेवाला नेत्रवान् मनुष्य भी जैसे उसी जैसा चलता है वैसे ही अज्ञानी लोगों के लिए धर्म का ज्ञान आचरण द्वारा प्रकट करना चाहिए। (५६) अजी, यदि ऐसा न हो तो अज्ञानी लोग क्या जान सकेंगे? उन्हें इस मार्ग का किस प्रकार ज्ञान होगा? (५७)

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

संसार में श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं उसी को सब सामान्य जन धर्म समझते हैं और वैसा ही आचरण करते हैं। (५८) यह बात स्वाभाविक है। इसलिए सन्तों को भी कर्म का त्याग न करके उसका विशेषतः आचरण करना पड़ता है। (५९)

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अब दूसरों की बातें क्या कहूँ? हे किरीटी! देखो, मैं भी इसी मार्ग से चलता हूँ। (१६०) क्या मुझ पर कुछ संकट पड़ा है? अथवा यदि यह समझा जाय कि मैं कोई एक इच्छा रख कर धर्म का आचरण करता हूँ, (६१) तो तुम्हें तो मालूम है कि मैं इतना समर्थ हूँ कि पूर्णता के विषय संसार में मुझसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। (६२) मैंने अपने मरे हुए गुरुपुत्र को जीवित कर लिया। इस प्रकार मेरा माहात्म्य तुमने देखा है। पर वही मैं, कुछ इच्छा न रहते भी, कर्म का आचरण करता हूँ। (६३)

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हम स्वधर्म का इस प्रकार आचरण करते हैं जैसा कि कोई साभिलाष मनुष्य करता है; और वह इसीलिए कि जिसमें (६४) इन प्राणिगणों से, जो केवल हमारे अधीन रहते हैं, भूल न हो जाय। (६५)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

यदि हम पूर्णकाम हो अपनी ब्रह्मस्थिति में रहेंगे तो सब प्रजा का किस प्रकार निभाव होगा ? (६६) हमारे आचरण का मार्ग देखकर अपने आचरण की रीति सीखने का जो इन लोगों का लोकाचार है सो सब नष्ट हो जावेगा। (६७) अतएव विशेषतः जो संसार में समर्थ और सर्वज्ञता सम्पन्न है उसे कर्म का त्याग करना उचित नहीं। (६८)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वाँस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

देखो, कामुक मनुष्य फल की आशा से जैसा आचरण करता है निरिच्छ पुरुष को भी कर्म में वैसा ही प्रेम होना चाहिए। (६९) क्योंकि, हे पार्थ ! इस सब लोकस्थिति की वारम्बार और हर तरह से रक्षा करना आवश्यक है। (१७०) इसलिए कर्ममार्ग के आधार से चलना चाहिए, तथा संसार को भी सन्मार्ग में लगाना चाहिए; परन्तु लोगों की दृष्टि में अलौकिक नहीं बनना चाहिए। (७१)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

जिस बालक के लिए स्तनपान करना भी कठिन है वह पक्वान्न का भोजन कैसे कर सकता है ? इसलिए, हे धनुर्धर ! जैसे उसे पकान्न देना उचित नहीं (७२) वैसे ही कर्म के विषय जिनका अधिकार नहीं है उनसे नैष्कर्म्यता की श्रेष्ठता की बातें करना हँसी में भी उचित नहीं। (७३) उन्हें सत्कर्म ही बताना चाहिए। उसी एक बात की प्रशंसा करनी चाहिए। इतना ही नहीं वरन् निष्कर्म लोगों को उस सत्कर्म का आचरण भी करके बताना चाहिए। (७४) वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के हेतु कर्म का व्यवहार करने से उन्हें कर्मबन्ध नहीं लगता। (७५) राजा-रानी-वेषधारी बहुरूपिये पुरुष-स्त्री भाव मन में नहीं रखते; केवल लोगों की दृष्टि ही बदल देते हैं। (७६)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

हे धनुर्धर! देखो, यदि दूसरे का बोझा अपने सिर लिया जाय तो क्या वह भारी न लगेगा ? (७७) वैसे ही प्रकृति के धर्म से जो भले-बुरे कर्म उपजते हैं मूर्ख लोग बुद्धि के भ्रम के कारण निज को ही उनका कर्ता समझते हैं। (७८) ऐसे जो अहङ्कार से भरे हुए, केवल देह को आत्मा समझनेवाले मूर्ख हैं, उन पर इस गहन परमार्थ को प्रकट करना उचित नहीं। (७९) अब सम्प्रति तुम्हें एक हितकारी बात बताते हैं; हे अर्जुन! ध्यान देकर सुनो। (१८०)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

जिसके कारण कर्म उत्पन्न होते हैं वह देह-भाव जिन तत्त्वज्ञानियों का नष्ट हो जाता है। (८१) वे देह का अभिमान छोड़ कर और गुण और कर्म के परे हो देह में प्रकृति के साक्षी हो व्यवहार करते हैं। (८२) इसलिए यद्यपि वे शरीर धारण करते हैं तथापि कर्म से बद्ध नहीं होते, जैसे कि प्राणियों की चेष्टा से सूर्य लिप्त नहीं होता। (८३)

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

संसार में कर्म से वही लिप्त होता है जो गुणों के भ्रम के वश हो जाता है और प्रकृति के अधीन हो व्यवहार करता है, (८४) और इन्द्रिय-गण गुणों के आधार से जो अपने अपने व्यापार करते हैं तद्रूपी पराया कर्म जो बलात् आप ही अङ्गीकार करता है। (८५)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अतएव तुम सब उचित कर्मों का आचरण कर उन्हें मुझे अर्पण करो परन्तु चित्त की वृत्ति आत्मा के स्वरूप में लगा रक्खो। (८६) और चित्त में कभी इस अभिमान का प्रवेश न होने दो कि यह कर्म है, मैं कर्ता हूँ अथवा अमुक फल के हेतु मैं इस कर्म का आचरण करूँगा। (८७) शरीर के अधीन मत हो, कामना सब छोड़ दो और फिर अवसर से प्राप्त हुए सब भोग भोगो। (८८) अब अपना धनुष हाथ में लेकर रथ पर चढ़ो और समाधान-पूर्वक वीरवृत्ति का स्वीकार करो, (८९) संसार में कीर्ति

फैलाओ, स्वधर्म का सम्मान बढ़ाओ और पृथ्वी को इस बोझ से मुक्त करो। (१९०) अब हे पार्थ! निःशङ्क हो जाओ और इस संग्राम में चित्त दो। इसके सिवाय इस समय और कुछ उचित नहीं है। (९१)

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

हे धनुर्धर! यह मेरा निश्चित मत अत्यन्त आदर के साथ स्वीकारेंगे और श्रद्धापूर्वक उसका आचरण करेंगे (९२) उन्हें भी, यद्यपि वे कर्मों में व्यवहार करते हों तथापि, कर्म-रहित समझो। अतएव यह उपदेश निश्चय से आचरण करने के योग्य है। (९३)

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

अन्यथा, यह भी निश्चय जानो कि जो प्रकृति के अधीन हो इन्द्रियों को दुलरा कर मेरे मत का अनादर करके त्याग कर देते हैं, (९४) जो उसे सामान्य समझते हैं, उसकी अवज्ञा करते हैं, अथवा ऐसी बक करते हैं कि यह स्तुति वाक्य है (९५) वे मोह की मदिरा से मतवाले अथवा विषयरूप विष से सने हुए अथवा अज्ञानरूप कीचड़ में फँसे हुए हैं। (९६) मृत मनुष्य के हाथ में रक्खा हुआ रत्न जैसा वृथा है, अथवा जन्मान्ध को जैसे प्रकाश प्रमाणित नहीं होता, (९७) अथवा चन्द्र का उदय जैसे कौवे को उपयोगी नहीं होता, वैसे ही यह विवेक मूर्ख मनुष्य को नहीं भाता। (९८) उसी प्रकार हे पार्थ! जो इस परमार्थ से विमुख हैं उनसे सम्भाषण ही न करना चाहिए। (९९) क्योंकि वे इसे नहीं मानते और इसकी निन्दा भी करने लगते हैं। कहो प्रकाश क्या पतङ्गों से सहा जाता है? (२००) पतङ्ग दीपक को आलिङ्गन देता है तो जैसे उसकी अवश्य ही मृत्यु हो जाती है वैसे ही विषयों के आचरण से आत्मनाश हो जाता है। (१)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

एवं इन्द्रिय एक ऐसी वस्तु है जिसको महत्त्व देकर कुतूहल से लालन करना ज्ञानी मनुष्य को कभी उचित नहीं। (२) अजी, क्या सर्प के साथ

कोई खेल सकता है ? अथवा क्या व्याघ्र का सहवास निभ सकता है ? कहो, क्या हलाहल विष पीने से पच सकता है ? (३) देखो, खेलते खेलते यदि आग लग जाय तो वह भड़क उठती है और फिर सँभाली नहीं सँभलती, वैसे ही इन्द्रियों का लालन करना भला नहीं होता। (४) इसके अतिरिक्त हे अर्जुन ! इस पराधीन शरीर के, लिए अनेक प्रकार के विषय-भोग क्यों सम्पादन किये जायँ ? (५) अनेक आयास करके, रात और दिन सम्पूर्ण सम्पत्ति मिलाकर, क्या हम लोगों को इस देह का ही प्रतिपाल करते रहना चाहिए ? (६) सब तरह से कष्ट करके सकल समृद्धि सम्पादन की जाय वह क्या इसलिए कि स्वधर्म छोड़ इस शरीर का पोषण हो ? (७) तो फिर जब ये पञ्चभूतों का समूह अन्त में पञ्चतत्त्व में मिल जायगा उस समय हमें हमारे किये हुए कष्ट का फल खोजते कहाँ मिलेगा ? (८) अतएव केवल शरीर के पोषण को स्पष्ट हानि ही समझो। इसमें चित्त लगाना उचित नहीं। (९)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

साधारणतः इंद्रियों के इच्छानुसार विषयों का पोषण करने से सचमुच चित्त में सन्तोष उत्पन्न होता है। (२१०) परन्तु वह मानों साहुरूपी चोर की सङ्गति है, जो जब तक नगर की सीमा नहीं छूटती तब तक ही स्वस्थ रहता है (११) हे तात ! विष की मधुरता आरम्भ में चित्त में प्रीति उत्पन्न करती है परन्तु परिणाम पूछो तो प्राण हर लेती है। (१२) देखो, इद्रियों में जो काम है वह सुख की दुराशा लगा देता है, जैसे बनसी में लगा हुआ मांस मीन को भुला देता है। (१३) जैसे काँटा अदृष्ट होने के कारण मीन यह नहीं जान सकता कि उस बनसी में लगे हुए मांस के भीतर प्राणहारक काँटा है (१४) वैसी ही दशा अभिलाष के कारण मनुष्य की होती है। विषयों की आशा रखने से मनुष्य क्रोधाग्नि के अधीन हो जाता है। (१५) जैसे बहेलिया मृग को, मारने के लिए जान-बूझ कर, अपने निशान के सामने घेर लाता है (१६) वैसा ही हाल इन विषयों का है। इसलिए हे पार्थ ! इनका सङ्ग तुम्हें उचित नहीं। काम और क्रोध दोनों को घातक समझो। (१७) अतएव इनका आश्रय भी न करना चाहिए। मन में इनका स्मरण भी न रखना चाहिए। एक आत्मवृत्ति की आर्द्रता मात्र कभी नष्ट न होने देना चाहिए। (१८)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अजी, अपना स्वधर्म यद्यपि कठिन भी हो तथापि उसी का आचरण करना भला है। (१९) अन्य पराया आचार देखने में कितना ही अच्छा हो तथापि आचरण करनेवाले को चाहिए कि अपने ही धर्म का आचरण करे। (२२०) शूद्र के घर सब अच्छे अच्छे पक्वान्न हो तो क्या दरिद्री ब्राह्मण को खा लेना चाहिए? (२१) ऐसी अनुचित बात क्यों की जाय? जो वस्तु ग्रहण करने के योग्य नहीं है उसकी इच्छा क्यों करनी चाहिए? अथवा इच्छा भी हो तो उसे क्यों पूर्ण करना चाहिए? (२२) लोगों के मनोहर महल देखकर अपने बने बनाये फूस के झोपड़े क्यों तोड़ डालने चाहिए? (२३) और रहने दो, अपनी स्त्री यद्यपि कुरूपा हो तथापि जैसे उसी को भोगना भला है (२४) वैसे ही स्वधर्म कितना भी कठिन हो, आचरण के लिए दुर्घट हो, तथापि परलोक में वही सुखकारी होता है। (२५) अजी, खाँड़ और दूध मधुरता में प्रसिद्ध हैं परन्तु कृमि-दोषवाले के विरुद्ध हैं। वह उन्हें कैसे पी सकता है? (२६) इस पर भी यदि पिये तो उसका आग्रह ही है। क्योंकि, हे धनुर्धर! परिणाम में वह हितकारी नहीं होता। (२७) इसलिए यदि अपना हित विचारना हो तो दूसरों को जो विहित है और हमारे लिए अनुचित है, उसका आचरण कदापि न करना चाहिए। (२८) इस स्वधर्म का अनुष्ठान करते करते यदि जीवित का नाश हो जाय तो भी वह दोनों लोकों में बहुत श्रेष्ठ समझा जाता है। (२९) इस प्रकार जब सम्पूर्ण देवों के मुकुटमणि शार्ङ्गपाणि बोले तब अर्जुन कहने लगा कि हे देव! एक विनती है। (२३०) यह जो कुछ आपने कहा सो मैंने खूब सुन लिया, परन्तु अब कुछ अपने इच्छानुसार पूछता हूँ। (३१)

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

हे देव! ऐसा क्यों होता है कि ज्ञानियों की भी स्थिति बिगड़ जाती है और वे सन्मार्ग को छोड़ अन्य मार्ग से चलते हुए दिखाई देते हैं? (३२) जो सर्वज्ञ होते हैं और ये उपाय भी जानते हैं वे भी किस गुण के

कारण अपना धर्म छोड़कर परधर्म का व्यभिचार करते हैं ? (३३) बीज और भूसे की छाँट जैसे अन्धा नहीं कर सकता वैसे ही क्षण भर नेत्रवान् मनुष्य भी क्यों भूल जाता है ? (३४) जो बना बनाया सङ्ग छोड़ देते हैं वे पुनः सङ्ग करते हुए भी तृप्त नहीं होते; वनवासी भी नगर में आ रहते हैं; (३५) छिप करके सब तरह से पापों को टाला देते हैं परन्तु बलात्कार से फिर उन्ही पापों में लग जाते हैं; (३६) जो जिस बात से घृणा करता है वही जी से लग बैठती है, और उसे टाला देने का यत्न करने से वह फिर उसे खोज लेती है; (३७) ये बातें किसी जबरदस्त गुण के आग्रह से होती हुई दिखाई देती हैं। वह कौन-सा गुण है ? हे हृषीकेश ! बतलाइए। (३८)

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

तब जो हृदय-कमल को सुख देनेवाले हैं, योगी निरिच्छ होते हुए भी जिनके लिए सकाम होते हैं, वे पुरुषोत्तम बोले—सुनो, (३९) ये काम और क्रोध हैं जिनके पास दयारूपी पूँजी नहीं रहती। ये काल की जगह माने जाते हैं। (२४०) ये ज्ञानरूपी धन के सर्प हैं, विषयरूपी खोरे के बाघ हैं, भजन-मार्ग के घात करनेवाले डोम हैं। (४१) ये देहरूपी क़िले के पत्थर हैं; इन्द्रिय-नगर के कोट हैं। संसार में इनका अज्ञान इत्यादिरूपी गदर मच रहा है। (४२) ये मन के रजोगुण से उत्पन्न हुई है, सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति के बने हुए हैं, और इनका धायीपन अविद्या ने किया है। (४३) ये रजोगुण से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु तमोगुण के बड़े प्यारे हैं इसलिए तमोगुण ने इन्हें अपना पद अर्थात् भूल और मोह प्रदान किया है। (४४) मृत्युरूपी नगर में ये श्रेष्ठ समझे जाते हैं, क्योंकि ये जीवन के शत्रु हैं। (४५) इन्हें खाने की इच्छा हो तो यह संसार इनके एक कौर के लिए भी बस नहीं होता। आशा इनका व्यापार चलाती है। (४६) जिसे चौदहों भुवन कुतूहल से मुट्ठी में दबाने के लिए थोड़े मालूम होते हैं वह भ्रान्ति इनकी प्यारी छोटी बहिन है। (४७) यह भ्रान्ति तीनों लोकरूपी रसोई का खेल खेलते खेलते उसे सहज ही खा डालती है। इसके दासीपन के बल से तृष्णा जीवन धारण करता है। (४८) और तो क्या, मोह इन्हें मानता है, तथा अहङ्कार इन्हें आलिङ्गन दे भेंट देता है, जिससे वह सब

संसार को अपने इच्छानुसार नचाता है। (४९) सत्य का गूदा निकालने-हारे और उसमें असत्यरूपी भुस भरनेहारे दम्भ को इन्होंने संसार में बसाया है। (२५०) इन्होंने पतिव्रता शान्ति को लूट कर भिखमङ्गी माया को सिङ्गारा है और उससे साधुओं के समूहों को भ्रष्ट करवाया है। (५१) इन्होंने विवेक का आश्रय-स्थान तोड़ डाला है, वैराग्य का चमड़ा उधेड़ डाला है, और उपशम का जीते जी गला मरोड़ डाला है। (५२) इन्होंने सन्तोषरूपी वन काट डाला है, धैर्यरूपी क़िले गिरा दिये हैं, और आनन्दरूपी रोपे उखाड़ कर फेंक दिये हैं। (५३) इन्होंने ज्ञान के रोपे नोच डाले हैं, सुख का नाम मिटा दिया है और अन्तःकरण में त्रिविध तापों की आग उत्पन्न कर दी है। (५४) इन्होंने जब से शरीर धारण किया है तब से ये हृदय से ही लगे हुए हैं परन्तु खोजने से ये ब्रह्मादि देवों के भी हाथ नहीं लगते। (५५) ये चैतन्य के पास ज्ञान की पंक्ति में बैठे हैं, इसलिए महाप्रलय करने के लिए प्रवृत्त होते हैं और किसी के रोके नहीं रुकते। (५६) ये प्राणियों को बिना पानी के डुबाते हैं, बिना अग्नि के जलाते हैं और न बोलते ग्रास लेते हैं। (५७) ये बिना शस्त्र के मारते हैं, बिना डोरी के बाँधते हैं, और ज्ञानियों का भी शर्तिया नाश करते हैं। (५८) ये बिना कीचड़ के गाड़ देते हैं, बिना पाश के फँसाते हैं, तथा बलाढ्यता में कोई इनका सामना नहीं कर सकता। (५९)

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे चन्दन की जड़ में साँप लिपटा हुआ रहता है अथवा गर्भ जैसे गर्भ-वेष्टन की खोल से ढँका रहता है, (२६०) अथवा प्रकाश के बिना सूर्य, धूम्र के बिना अग्नि, मल के बिना दर्पण जैसे कभी नहीं रहता, (६१) वैसे ही इनके बिना ज्ञान हमने अकेला नहीं देखा। जैसे बीज फोकले से ढका हुआ उत्पन्न होता है। (६२)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

वैसे ही ज्ञान यद्यपि शुद्ध है तथापि काम-क्रोध से आच्छादित है, इसलिए वह अगाध हो बैठा है। (६३) पहले इन काम-क्रोधों को जीतना चाहिए तब ज्ञान हाथ आवेगा। तब तक राग-द्वेष के पराभव

की सम्भावना नहीं होती। (६४) इनके मारने के लिए शरीर में जो बल लाया जाय वह आग में ईंधन जैसा इन्हीं का सहायक हो जाता है। (६५)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तथा और जो जो इस तरह के उपाय किये जायँ वे सब इन्हीं के सहायक हो जाते हैं। इसलिए संसार में इन्होंने दृढ़ योगियों को भी जीत लिया है। (६६) ऐसे सङ्कट में भी एक उपाय उत्तम है। वह यदि तुम्हें अनुकूल हो तो बताता हूँ। (६७)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इनका पहला घोंसला इन्द्रियाँ हैं। यहीं से प्रवृत्ति कर्म उत्पन्न करती है। प्रथम उन इन्द्रियों को सर्वथा पराजित कर छोड़ो। (६८)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

ऐसा करने से मन की दौड़ बन्द हो जायगी और बुद्धि का छुटकारा हो जावेगा। इस प्रकार इन पापियों का ठाँव मिट जावेगा। (६९)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

ये दोनों यदि अन्तःकरण से निकाल दिये जायँ तो निश्चय से उनका नाश हो जाता है, जैसे किरण न हो तो मृगजल नहीं रह सकता। (२७०) अतः यदि राग और द्वेष का नाश हो जाय तो ब्रह्म-रूपी स्वराज्य हाथ आता है, और मनुष्य आप ही आत्मसुख भोगता है। (७१) यही गुरु और शिष्य की गुह्य बात है। यही जीव और ब्रह्म की भेंट है, यहाँ स्थिर होकर रहो, यहाँ से कभी मत उठो। (७२) हे राजा! सुनो, सम्पूर्ण सिद्धों के राजा, देवी लक्ष्मी के नाथ और देवों के देव ने इस प्रकार उपदेश किया। (७३)

अब वे अनन्त फिर एक पुरातन कथा कहेंगे और फिर पाण्डुपुत्र अर्जुन प्रश्न करेगा। (७४) उस संवाद की योग्यता अथवा रसिकता की श्रेष्ठता से श्रोतागणों को श्रवणसुख का सुकाल होगा। (७५) मैं श्रीनिवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ, हे तात! अपनी बुद्धि भली भाँति जागृत रखकर इस श्रीकृष्ण और पार्थ के संवाद का उपभोग लीजिए। (२७६)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः।
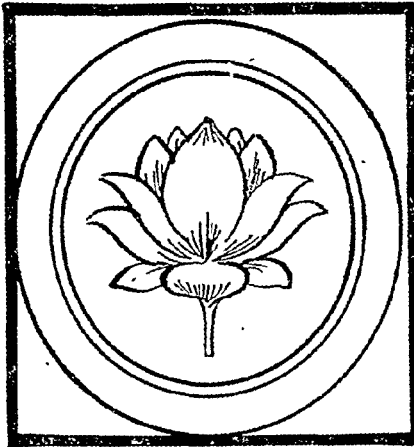
चौथा अध्याय

आज हमारी श्रवणेन्द्रिय के लिए दिन निकला है, क्योंकि उसे गीतारूपी धन दृग्गोचर हो रहा है। अब यह स्वप्नरूपी जगत् सत्य के मोल का दिखाई देता है। (१) एक तो पहले ही यह कथा विवेक की है, ऊपर से जगच्छ्रेष्ठ श्रीकृष्ण उसका निरूपण करते हैं और भक्तराज अर्जुन सुन रहे हैं। (२) पञ्चम स्वर के साथ जैसे सुगन्ध का मेल हो जाय, अथवा सुगन्ध और सुस्वाद का मेल हो जाय वैसे ही यह कथा भी अत्यन्त मनोरञ्जक हुई है। (३) कैसा विशाल भाग्य है ! हमें मानों अमृत की गङ्गा प्राप्त हुई है, अथवा श्रोताओं के पूर्व तप ने ही फल का रूप धारण किया है। (४) अब सब इन्द्रियों को श्रवण के घर में प्रवेश कर इस गीता नामक संवादसुख का उपभोग लेना चाहिए। (५) अब मैं विशेष लम्बा-चौड़ा प्रस्ताव छोड़ता हूँ और कृष्ण और अर्जुन दोनों परस्पर जो संवाद कर रहे थे उसका वर्णन करता हूँ। (६) उस समय सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि अर्जुन वड़ा भाग्यशाली है जो श्रीनारायण उससे अत्यन्त प्रेम से संवाद करते हैं। (७) जो वात उन्होंने पिता वसुदेव से न कही, जो माता देवकी को न वताई, जो भ्राता वल-भद्र को भी न सुनाई वही गुप्त वात वे अर्जुन से कह रहे हैं। (८) देवी लक्ष्मी जो इतनी समीप रहनेहारी उसने भी इस प्रेम का सुख नहीं देखा। आज श्रीकृष्ण के प्रेम का वल अर्जुन को ही मिला है। (९) सनकादि ऋषियों की आशाएँ वहुतेरी वढ़ी हुई थीं परन्तु वे भी इस प्रकार सफल न हुईं। (१०) अर्जुन पर इस जगदीश्वर का प्रेम निरूपम दिखाई देता है। इसने कैसा सर्वोत्तम पुण्य किया है! (११) अथवा जिसकी प्रीति के हेतु इस विदेही भगवान् ने व्यक्त रूप धारण किया है उसकी स्थिति मुझे इसके सङ्ग एकाकार हुई जान पड़ती है। (१२) प्राय: यह योगियों के हाथ नहीं आता, वेद के जाननेवालों के वुद्धिगत नहीं होता, और ध्यान की दृष्टि भी उस तक पहुँच नहीं सकती। (१३) ऐसा यह आत्मस्वरूप, अनादि और निश्चल है, परन्तु वही कैसा दयालु हो रहा है!

(१४) जो त्रैलोक्यरूपी वस्त्र की तह है, अथवा आकार का परतीर है वही कैसा इस अर्जुन के प्रेम के अधीन हो रहा है! (१५)

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

फिर देव ने कहा—हे पाण्डुसुत! यही योग हमने विवस्वत को बताया था परन्तु यह वार्ता बहुत दिनों की है। (१६) उस विवस्वान सूर्य ने यह सब योगस्थिति अच्छी तरह से वैवस्वत मनु से निरूपित की। (१७) मनु ने स्वयं इस योग का अनुष्ठान किया और फिर इक्ष्वाकु को उसका उपदेश किया। ऐसी यह पुरातन परम्परा विस्तृत हुई है। (१८)

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

तदनन्तर यह योग और भी कई राजर्षियों को ज्ञात हुआ परन्तु तब से अब साम्प्रतकाल में इसे कोई नहीं जानता। (१९) कारण यह है कि प्राणियों को विषयों की अभिरुचि है और शरीर पर ही प्रेम है, इसलिए वे आत्मज्ञान को भूल गये हैं। (२०) लोगों की आस्था और बुद्धि आड़े टेढ़े मार्ग में प्रवृत्त होती है, विषयों का सुख ही परमप्राप्तव्य मालूम होता है, और जैसा जी है वैसी ही उपाधि उन्हें प्रिय हो रही है। (२१) साधारण बात है कि दिगम्बर लोगों की बस्ती में बहुमोल वस्त्रों का क्या काम है? कहो जन्मान्ध मनुष्य को सूर्य का क्या उपयोग है? (२२) अथवा बहिरों की सभा में गीत का कौन सन्मान करता है? अथवा चोर को क्या कभी चाँदनी से प्रीति उत्पन्न होती है? (२३) देखो, चन्द्रोदय के पूर्व ही जिनकी आँखें फूट जाती हैं वे कौए चन्द्र को किस प्रकार पहिचान सकते हैं? (२४) इसी प्रकार जो वैराग्य की हद देखने नहीं पाते, विवेक का नाम भी नहीं जानते वे मूर्ख मुझ ईश्वर तक कैसे पहुँच सकते हैं? (२५) इस प्रकार न जाने कैसे मोह बढ़ गया है। और बहुत-सा काल व्यर्थ व्यतीत हो गया है इसलिए इस लोक में यह योग लुप्त हो गया है। (२६)

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही योग हे कुन्तीसुत ! आज मैंने तुमसे तत्त्वतः निरूपण किया। इसे मत भूलो । (२७) यह मेरे हृदय का गुह्य है, परन्तु तुमसे क्योंकर छिपा सकता हूँ ? क्योंकि तुम मेरे प्रेमी हो। (२८) हे धनुर्धर ! तुम केवल प्रेम की मूर्त्ति हो, भक्ति के हृदय हो, मैत्री की जीवनकला हो, (२९) विश्वास के आश्रय हो। अतएव क्या तुम्हारे साथ प्रतारणा हो सकती है ? (३०) यद्यपि हम युद्ध के लिए उद्यत हैं तथापि क्षण भर ठहरेंगे और यह गड़बड़ हो रही है तथापि पहले तुम्हारा अज्ञान दूर करेंगे। (३१)

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

तब अर्जुन ने कहा—हे श्री हरि ! सुनिए। माता अपने बालक पर स्नेह करती है, तो हे कृपानिधे उसमें क्या आश्चर्य है ? (३२) आप संसार से तप्त हुए लोगों के लिए छाया हैं, अनाथ जीवों के लिए माता हैं; वास्तव में हम लोगों को आपकी कृपा ही ने उत्पन्न किया है। (३३) हे देव ! किसी को यदि एकआध पंगु पुत्र उत्पन्न हो तो उसे आजन्म उसका जञ्जाल सहना पड़ता है। आपकी श्रेष्ठता आप ही के सामने क्या बखानी जाय। (३४) अब जो कुछ मैं पूछता हूँ उस पर ध्यान दीजिए और हे देव ! उस बात पर क्रोध न कीजिए। (३५) हे अनन्त ! आपने जो पुरातन वार्ता कही वह क्षण भर भी मेरे चित्त में नहीं जमती। (३६) क्योंकि वह विवस्वत कौन था सो बूढ़े भी नहीं जानते, तो उसे आपने कहाँ और कब उपदेश किया ? (३७) वह तो बहुत पुरातन सुना जाता है, और आप श्रीकृष्ण तो साम्प्रत काल के हैं ! इसलिए इस बात में विरोध मालूम होता है। (३८) तथापि हे देव ! आपका चरित्र हम कुछ भी नहीं जानते, आपकी बात को हम एकदम मिथ्या क्योंकर कह दें ? (३९) अतएव यह सब बात इस तरह बताइए कि मेरी समझ में आ जाय। क्या आपने उस सूर्य को उपदेश किया था ? (४०)

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे पाण्डुसुत! यदि तुम्हारे चित्त में यह भ्रम हो कि जब वह विवस्वत था तब हम न थे (४१) तो यह तुम्हारा अज्ञान है। देखो, तुम्हारे हमारे कई जन्म हो चुके हैं, परन्तु तुम्हें अपने जन्मों का स्मरण नहीं है। (४२) मैं जिस-जिस काल में जिस जिस रूप से अवतार लेता हूँ उन सबका स्मरण रखता हूँ। (४३)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

इसलिए यह पुरातन वार्ता मुझे याद है। मैं अजन्मा हूँ परन्तु प्रकृति का अङ्गीकार करने से जन्म लेता हूँ। (४४) मेरी अविनाशिता का भङ्ग नहीं होता। जन्म और मृत्यु जो दिखाई देते हैं वे माया के कारण मुझ ही में प्रतिभासित होते हैं। (४५) मेरी स्वतन्त्रता तो नष्ट नहीं होती, परन्तु मेरा कर्म के वश हुआ-सा दिखाई देना भ्रमबुद्धि के कारण होता है। मैं वास्तव में कर्माधीन नहीं होता। (४६) एक वस्तु जो दर्पण में दूसरी दिखाई देती है वह दर्पण के आधार से दिखाई देती है। अन्यथा यदि सत्य विचारा जाय तो क्या कोई दूसरी वस्तु रहती है? (४७) वैसे ही हे किरीटी! मैं निराकार हूँ परन्तु जब माया धारण करता हूँ तब कार्य के हेतु साकार हो नट जैसा वेष धर लेता हूँ। (४८)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

क्योंकि आरम्भ से ही यह एक स्वाभाविक परिपाटी पड़ी है कि मुझे सम्पूर्ण धर्मसमुदाय की प्रत्येक युग में रक्षा करनी चाहिए। (४९) इसलिए जिस समय अधर्म धर्म का पराभव करता है उस समय मैं अपना जन्मराहित्य दूर रख अपनी निराकारता भी भूल जाता हूँ। (५०)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

उस समय मैं अपने भक्तों का पक्ष लेने के लिए साकार होकर अवतार लेता हूँ और अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर डालता हूँ, (५१) अधर्म की सीमा तोड़ डालता हूँ, पापों का लेख फाड़ डालता हूँ, और सज्जनों से सुख की ध्वजा फहरवाता हूँ। (५२) दैत्यों के कुल का नाश करता हूँ; साधुओं को सम्मान दिलाता हूँ, और धर्म और नीति का विवाह करा देता हूँ। (५३) जब मैं अविवेकरूपी गुल झाड़ कर विवेकरूपी दीपक उस-काता हूँ तब योगियों के लिए निरन्तर दिवाली-सा उजेला हो जाता है, (५४) विश्व आत्मसुख से भर जाता है, संसार में धर्म आ बसता है और भक्तों के सात्विक भावों की तोंदें निकल पड़ती हैं, (५५) हे पाण्डुकुँवर! जब मेरी मूर्त्ति प्रकट होती है तब पाप का परदा हट जाता है, और पुण्य का सवेरा हो जाता है। (५६) ऐसे कार्यों के लिए मैं हर एक युग में अवतार लेता हूँ। परन्तु जो यह जान ले वही संसार में ज्ञानी है। (५७)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

जो निःसंशय यह समझ ले कि मैं जन्मरहित होते हुए जन्म लेता हूँ, क्रिया करनेहारा न रहते हुए कर्म करता हूँ, वही अत्यन्त मुक्त है। (५८) वह मनुष्य देहसङ्ग के कारण चले तो भी वास्तव में नहीं चलता, देह में रहता है तो भी देह के वश नहीं होता, और फिर जब पञ्चत्व में मिलता है तब मेरे ही स्वरूप में आ मिलता है। (५९)

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

सामान्यतः जो अगली-पिछली बातों का सोच नहीं करते, जो कामनाशून्य हो जाते हैं, और किसी समय क्रोध के मार्ग से नहीं जाते, (६०) सदैव मुझसे ही सम्पन्न रहते हैं, मेरी ही सेवा के लिए जीते हैं, अथवा जो निरिच्छ होकर आत्मज्ञान से सन्तुष्ट हो रहते हैं, (६१) जो तपरूपी तेज की राशि हैं, अथवा ज्ञान के एक ही आश्रय हैं, और जो स्वयं तीर्थरूप रहते हुए

अन्य तीर्थों को पवित्रता पहुँचाते हैं (६२) वे मनुष्य सहज ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वे मद्रूप हो रहते हैं। क्योंकि मुझमें और उनमें कुछ अन्तर नहीं रहता। (६३) कहो, जब पीतल का कलङ्क सम्पूर्ण जल जाय तब सुवर्ण क्या कोई दूसरी प्राप्तव्य वस्तु रह जाती है? (६४) वैसे ही इसमें सन्देह नहीं कि जो यम-नियमों के पालन से तपे रहते हैं वे, जो मैं हूँ वही हो जाते हैं। (६५)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

यों भी देखो, मुझमें जो जैसा प्रेम रखते हैं उन पर मैं भी वैसी ही प्रीति रखता हूँ। (६६) वास्तव में सम्पूर्ण मनुष्य स्वभावतः केवल मेरा ही भजन करते हैं। (६७) परन्तु ज्ञान के बिना उनकी हानि होती है। क्योंकि उनकी बुद्धि भेदयुक्त हो गई है। वे मुझ एक को अनेक रूपों में कल्पना करते हैं। (६८) इससे मैं जो भेद-रहित हूँ, उसमें वे भेद देखते हैं, मैं जो नामरहित हूँ उसे वे नाम देते हैं, मैं जो अनिर्वाच्य हूँ उसे देव-देवी इत्यादि पद लगाते हैं, (६९) और मैं जो सर्वत्र और सदैव समान हूँ उसके, भ्रान्ति बुद्धि के वश हो, अधम और उत्तम भेद मानते हैं। (७०)

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

तथा अनेक हेतु मन में रखकर और अनेक प्रकार से मन-माने उपचारों से मनाये हुए अनेक देवताओं की उपासना करते हैं। (७१) ऐसा करने से जो जो उनका इच्छित हेतु रहता है वह सम्पूर्ण उन्हें प्राप्त होता है। परन्तु वास्तव में वह उनके कर्म का फल समझो। (७२) इसके सिवाय फल देने या लेनेवाला कोई भी दूसरा नहीं है। यह सत्य जानो कि इस मनुष्यलोक में कर्म ही फल देनेहारा होता है। (७३) जैसे खेत में जो कुछ बोया जाय उसके सिवाय दूसरी वस्तु वहाँ उत्पन्न नहीं होती, अथवा दर्पण के आधार से जो देखना चाहो वही वस्तु दिखाई देती है, (७४) अथवा हे किरीटी! पर्वत के कगार पर जैसे अपना ही शब्द

प्रतिध्वनित हो उठता है, (७५) वैसे ही इन सब भजनों का मैं साक्षी-भूत हूँ, परन्तु इनमें अपनी अपनी भावना ही फल-रूपिणी होती है। (७६)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अब इसी प्रकार यह जान लो कि ये चारों वर्ण मैंने गुण और कर्म के भेद से उत्पन्न किये हैं। (७७) अर्थात् प्रकृति के आधार से गुणों का मिश्रण होता है और उन गुणों के अनुसार कर्म नियत किये गये हैं। (७८) हे धनुर्धर अर्जुन! यह जगत् सब एक ही है। परन्तु स्वभावतः गुणकर्मों का प्रबन्ध ऐसा किया गया है कि उसका चार वर्णों में विभाग हो गया है। (७९) इसलिए हे पार्थ! वर्णभेद की संस्था का कर्त्ता मैं नहीं हूँ। (८०)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥ १४ ॥

इस प्रकार जो यह जान लेता है कि ये भेद मेरे कारण उत्पन्न हुए हैं परन्तु मैंने नहीं बनाये हैं, वही कर्म से छुटकारा पाता है। (८१)

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

हे धनुर्धर! पूर्व में जो मुमुक्षु थे उन्होंने मुझे इस प्रकार जान-कर ही सम्पूर्ण कर्म किया है। (८२) जैसे भुना हुआ बीज बोने से कभी नहीं उगता वैसे ही कर्म उन मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष का कारण हुआ है। (८३) हे अर्जुन! इसमें एक बात और है कि समझदार मनुष्य को कर्माकर्म का विचार अपने इच्छानुसार करना योग्य नहीं है। (८४)

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६॥

जिसे कर्म कहते हैं वह क्या है, अथवा अकर्म का क्या लक्षण है, इस बात का विचार करते विद्वान् लोग भी चकरा गये हैं।

(८५) जैसे नक़ली सिक्का सच्चे सिक्के के समान दीखने के कारण नेत्रों की देखने की क्रिया को भी संशययुक्त कर डालता है (८६) वैसे ही जो संकल्प-मात्र से दूसरी सृष्टि बना सकते हैं उन्हें भी निष्कर्मता के भ्रम से कर्म ढूँढ़ते आ पहुँचता है। (८७) इस विषय में ज्ञानी लोग भी मोह गये हैं तो फिर मूर्खों की क्या कथा है ? (८८)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

जिससे स्वभावतः विश्वाकार प्रकट होता है वह कर्म कहलाता है। संसार में प्रथम उसको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, (८९) फिर जो वर्णाश्रम के उचित और विशेष तथा विहित कर्म हैं वे भी निश्चय से उनके उपयोग सहित जान लेने चाहिए। (९०) अनन्तर जो निषिद्ध कर्म कहलाते हैं उनका स्वरूप भी जान लेना चाहिए। इतना करने से आप ही आप चित्त कहीं लिप्त न होगा। (९१) सामान्यतः सब संसार कर्म के अधीन है। इतनी गहन इसकी व्यापकता है। परन्तु यह रहने दो, अब पहुँचे हुए पुरुष के लक्षण सुनो। (९२)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो सब कर्मों में व्यवहार करते हुए निज को निष्कर्म जानता है, और कर्म का सङ्ग होते हुए फल की आशा नहीं रखता, (९३) तथा कर्तव्यता के लिए संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है इस प्रकार उत्तम निष्कर्मता के ज्ञान से जो युक्त हुआ है; (९४) तथापि सम्पूर्ण क्रियासमूहों का उत्तम आचरण करते हुए दिखाई देता है; इन लक्षणों के द्वारा उसी को ज्ञानी समझना चाहिए। (९५) जैसे जल के किनारे खड़े रहने से यदि अपना ही प्रतिबिम्ब जल में दिखाई दे तो उसे वह मनुष्य निश्चय से पहचान सकता है और कह सकता है कि मैं इस प्रतिबिम्ब से भिन्न हूँ, (९६) अथवा जो नाव में बैठकर चलता है वह तीर पर के वृक्षों को वेग से दौड़ते देखता है, किन्तु यही बात यदि वह सत्यतः देखने लगे तो अवश्य कहेगा कि वृक्ष अचल हैं। (९७) वैसे ही सब कर्मों में व्यवहार करना

बिलकुल असत्य मानकर जो निज को निष्कर्म समझता है, (९८) और उदय और अस्त होने के कारण सूर्य जैसे स्थिर होते हुए भी चलता-सा दिखाई देता है वैसे ही जो कर्म करते हुए निष्कर्मता का तत्त्व जानता है (९९) वह मनुष्य, मनुष्य के समान दिखाई देता है; परन्तु जैसे सूर्य का बिम्ब जल में नहीं डूबता वैसे वह भी मनुष्यत्व से लिप्त नहीं होता। (१००) वह आँख से न देखते सब विश्व को देख चुका है, कुछ भी न करते सब कर चुका है और कुछ भी न भोगते सब भोग्य वस्तुओं का भोग ले चुका है। (१) वह यद्यपि एक ही जगह बैठा हो परन्तु सर्वत्र भर गया है; और तो क्या, वह स्वयं विश्व हो गया है। (२)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९ ॥

जिस पुरुष को कर्म के विषय कुछ विषाद नहीं होता परन्तु कोई फल की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होती, (३) और जिसका मन ऐसे सङ्कल्प से दूषित नहीं होता कि मैं यह कर्म करूँगा अथवा यह आरम्भ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा, (४) जिसने सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की ज्वाला में जला डाले हैं, उसे मनुष्य के रूप में परब्रह्म ही समझो। (५)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २० ॥

जो शरीर के विषय में उदासीन रहता है, फल-भोग के विषय में निरिच्छ रहता है, और सर्वदा आनन्दी रहता है, (६) हे धनुर्धर! जो सन्तोषरूपी मध्यगृह में भोजन करते समय आत्मज्ञानरूपी भोजन के परोसे से कभी नहीं अघाता, (७)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१ ॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते॥ २२ ॥

और जो अहङ्कार सहित आशारूपी निछावर का त्याग करके अधिक अधिक प्रेम से महासुख की माधुरी चखता है, (८) अतएव

जो कुछ समयानुसार प्राप्त हो जाय उसी से जो सुखी होता है और जिसे अपना और पराया दोनों ही नहीं है, (९) वह मनुष्य जो कुछ देखता है वही आप हो रहता है, और जो कुछ सुनता है वही आप हो जाता है; (११०) और चरणों से चलना, मुख से बोलना, इत्यादि चेष्टाओं का जितना समूह है वह सब आप ही हो रहता है। (११) और तो क्या, संसार भर में देखो तो उसे निज आत्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, तो फिर कर्म कौन-सी वस्तु है, और उससे उसे बाधा ही क्या हो सकती है? (१२) इतना द्वैतभाव, कि जिससे मत्सर उत्पन्न हो, उसमें रह ही नहीं जाता तो उसके निर्मत्सर होने में सन्देह ही क्या है? (१३) अतएव इसमें सन्देह कुछ नहीं कि वह सर्वथा मुक्त है, सकर्म होता हुआ भी कर्म-रहित है, सगुण होता हुआ भी गुणातीत है; (१४)

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

वह देह के सङ्ग से रहता है परन्तु ब्रह्मस्वरूप के समान जान पड़ता है, और परब्रह्म की कसौटी से देखते अत्यन्त शुद्ध दिखाई देता है। (१५) इस पर भी यदि वह कुतूहल से यज्ञादिक कर्म करे तो वे सम्पूर्ण कर्म उसी में लय को प्राप्त होते हैं। (१६) जैसे अनवसर से आये हुए मेघ बरसे बिना ही उत्पन्न होने के साथ आकाश में लुप्त हो जाते हैं, (१७) वैसे ही यद्यपि वह मनुष्य यज्ञादिविहित कर्मों का अनुष्ठान करता है तथापि वे कर्म उसके ऐक्यभाव के कारण एकत्व को ही प्राप्त होते हैं। (१८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ २४ ॥

क्योंकि उसकी बुद्धि में यह भिन्नता नहीं रहती कि यह यज्ञ है और मैं यज्ञकर्ता हूँ, अथवा इस यज्ञ में यह भोक्ता है। (१९) जिस इष्ट यज्ञ का वह हवन करता है और जिस होम, मन्त्र, और द्रव्यों से यजन करता है उन्हें वह आत्मरूप जान अविनाशी समझता है। (१२०) इसलिए हे धनुर्धर! जिसकी ऐसी समबुद्धि हो गई है कि 'जो ब्रह्म वही कर्म है' उसे कर्तव्य ही निष्कर्मता है। (२१) अब

बिलकुल असत्य मानकर जो निज को निष्कर्म समझता है, (९८) और उदय और अस्त होने के कारण सूर्य जैसे स्थिर होते हुए भी चलता-सा दिखाई देता है वैसे ही जो कर्म करते हुए निष्कर्मता का तत्त्व जानता है (९९) वह मनुष्य, मनुष्य के समान दिखाई देता है; परन्तु जैसे सूर्य का बिम्ब जल में नहीं डूबता वैसे वह भी मनुष्यत्व से लिप्त नहीं होता। (१००) वह आँख से न देखते सब विश्व को देख चुका है, कुछ भी न करते सब कर चुका है और कुछ भी न भोगते सब भोग्य वस्तुओं का भोग ले चुका है। (१) वह यद्यपि एक ही जगह बैठा हो परन्तु सर्वत्र भर गया है; और तो क्या, वह स्वयं विश्व हो गया है। (२)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

जिस पुरुष को कर्म के विषय कुछ विषाद नहीं होता परन्तु कोई फल की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होती, (३) और जिसका मन ऐसे सङ्कल्प से दूषित नहीं होता कि मैं यह कर्म करूँगा अथवा यह आरम्भ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा, (४) जिसने सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की ज्वाला में जला डाले हैं, उसे मनुष्य के रूप में परब्रह्म ही समझो। (५)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

जो शरीर के विषय में उदासीन रहता है, फल-भोग के विषय में निरिच्छ रहता है, और सर्वदा आनन्दी रहता है, (६) हे धनुर्धर! जो सन्तोषरूपी मध्यगृह में भोजन करते समय आत्मज्ञानरूपी भोजन के परोसे से कभी नहीं अघाता, (७)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते॥ २२॥

और जो अहङ्कार सहित आशारूपी निछावर का त्याग करके अधिक अधिक प्रेम से महासुख की माधुरी चखता है, (८) अतएव

जो कुछ समयानुसार प्राप्त हो जाय उसी से जो सुखी होता है और जिसे अपना और पराया दोनों ही नहीं है, (९) वह मनुष्य जो कुछ देखता है वही आप हो रहता है, और जो कुछ सुनता है वही आप हो जाता है; (११०) और चरणों से चलना, मुख से बोलना, इत्यादि चेष्टाओं का जितना समूह है वह सब आप ही हो रहता है। (११) और तो क्या, संसार भर में देखो तो उसे निज आत्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, तो फिर कर्म कौनसी वस्तु है, और उससे उसे बाधा ही क्या हो सकती है? (१२) इतना द्वैतभाव, कि जिससे मत्सर उत्पन्न हो, उसमें रह ही नहीं जाता तो उसके निर्मत्सर होने में सन्देह ही क्या है? (१३) अतएव इसमें सन्देह कुछ नहीं कि वह सर्वथा मुक्त है, सकर्म होता हुआ भी कर्म-रहित है, सगुण होता हुआ भी गुणातीत है; (१४)

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

वह देह के सङ्ग से रहता है परन्तु ब्रह्मस्वरूप के समान जान पड़ता है, और परब्रह्म की कसौटी से देखते अत्यन्त शुद्ध दिखाई देता है। (१५) इस पर भी यदि वह कुतूहल से यज्ञादिक कर्म करे तो वे सम्पूर्ण कर्म उसी में लय को प्राप्त होते हैं। (१६) जैसे अनवसर से आये हुए मेघ बरसे बिना ही उत्पन्न होने के साथ आकाश में लुप्त हो जाते हैं, (१७) वैसे ही यद्यपि वह मनुष्य यज्ञादिविहित कर्मों का अनुष्ठान करता है तथापि वे कर्म उसके ऐक्यभाव के कारण एकत्व को ही प्राप्त होते हैं। (१८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

क्योंकि उसकी बुद्धि में यह भिन्नता नहीं रहती कि यह यज्ञ है और मैं यज्ञकर्ता हूँ, अथवा इस यज्ञ में यह भोक्ता है। (१९) जिस इष्ट यज्ञ का वह हवन करता है और जिस होम, मन्त्र, और द्रव्यों से यजन करता है उन्हें वह आत्मरूप जान अविनाशी समझता है। (१२०) इसलिए हे धनुर्धर! जिसकी ऐसी समबुद्धि हो गई है कि 'जो ब्रह्म वही कर्म है' उसे कर्तव्य ही निष्कर्मता है। (२१) अ-

जिनकी अविवेकरूपी बाल्यावस्था निकल गई है और विरक्ति से विवाह हो चुका है, और फिर जिन्होंने योगाग्नि की पूजा का आरम्भ किया है, (२२)

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

जो दिन-रात यज्ञ करते हैं, मन सहित अविद्या को गुरु वाक्य-रूपी अग्नि में हवन करते हैं, (२३) हे पाण्डुकुँवर! ऐसे योगाग्नि-होत्री जो यज्ञ करते हैं वह दैवयज्ञ कहा जाता है, जिससे आत्मसुख की इच्छा पूर्ण हो सकती है। (२४) जिसका पालन प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है उस शरीर के पोषण की चिन्ता जो नहीं करता उसे दैवयोग से महायोगी जानो। (२५) अब सुनो, हम और दूसरे ब्रह्माग्निहोत्रियों का वर्णन करते हैं जो यज्ञ कर्मों से परमात्मा की उपासना करते हैं। (२६)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कोई आत्मसंयमरूपी अग्नि के हवन करनेहारे होते हैं। वे युक्ति-त्रय के (वज्रासन, जालन्धर, ओढियाण) मन्त्र से और इन्द्रियरूपी पवित्र सामग्री से हवन करते हैं। (२७) कोई वैराग्यरूपी सूर्य का उदय होते ही संयमरूपी स्थल बनाकर वहाँ इन्द्रियरूपी अग्नि प्रज्व-लित करते हैं, (२८) और जब उसकी वैराग्यरूपी ज्वाला निकलते ही विकार के ईंधन जलने लगते हैं और अन्तःकरण-पंचक के कुण्डों में से आशारूपी धुवाँ निकलता है (२९) तब इन्द्रियरूपी अग्निकुण्ड में वे विहित वाक्यों की कुशल रीति से विषयरूपी विशाल आहुति का हवन करते हैं। (१३०)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

हे पार्थ! कोई इस प्रकार पापों की सर्वथा शुद्धि करते हैं, तो कोई हृदयरूपी अरणी पर विवेकरूपी मथानी रखते हैं, (३१) उसे शान्ति की डोरी से बाँधते हैं, धैर्य के बल से दबाते हैं, और गुरुवाक्य के सहाय से ज़ोर से घुमाते हैं। (३२) ऐसी वृत्तियों की एकता से

मन्थन करते ही तत्काल कार्य होता है, अर्थात् ज्ञानाग्नि प्रदीप्त हो जाती है। (३३) पहले जो ऋद्धि-सिद्धियों का मोहरूपी धुवाँ उठता है उसके निकल जाने पर सूक्ष्म चिनगारी उत्पन्न होती है। (३४) उसमें—पहले ही से यम-नियम के अनुष्ठान से सूख कर सूक्ष्म हुए—मन का बहुत-सा ईंधन डाला जाता है (३५) जिसके प्रदीप्त होते ही बड़ी ज्वाला उत्पन्न होती है। वे अनेक वासनारूपी समिधा को अनेक प्रकार के घृत-सहित उसमें जलाते हैं। (३६) और, यज्ञकर्ता दीक्षित सोऽहं मन्त्र से इन्द्रियकर्मों की आहुति उस प्रदीप्त ज्ञानरूपी अग्नि में डालते हैं। (३७) तदनन्तर प्राणकर्मों के स्रुवा से अग्नि में पूर्णाहुति पड़ते ही सहज ही एकत्वबोधरूपी अवभृथ स्नान होता है। (३८) फिर आत्मज्ञान के सुख का जो कि संयमयज्ञ का बचा हुआ द्रव्य है उस यज्ञशेष का—वे भोग लेते हैं। (३९) कोई इस प्रकार यज्ञ करने से संसार में मुक्त हो रहते हैं। यज्ञ क्रियाएँ तो भिन्न हैं परन्तु उनका प्राप्तव्यमात्र एक है। (१४०)

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

ये जो यज्ञ मैंने कहे उनमें एक द्रव्ययज्ञ कहलाता है। एक तपरूपी सामग्री से किया जाता है। एक को योगयज्ञ कहते हैं। (४१) एक में शब्द में शब्द का होम किया जाता है उसे वाग्यज्ञ कहते हैं। जिसमें ज्ञान से ज्ञेय वस्तु प्राप्त की जाती है वह ज्ञानयज्ञ कहाता है। (४२) हे अर्जुन! ये सब यज्ञ विकट हैं, क्योंकि इनका अनुष्ठान बहुत कठिन है। परन्तु ये जितेन्द्रिय मनुष्य को उसके योग्यतानुसार साध्य हो सकते हैं। (४३) वे इन यज्ञों में प्रवीण रहते हैं और योग्यसमृद्धि से संपन्न रहते हैं। इसलिए वे आत्मा में निज का हवन करते हैं। (४४)

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

कोई अपानवायुरूपी अग्नि की ज्वाला में अभ्यासयोग से प्राणवायुरूपी द्रव्यों का हवन करते हैं; (४५) कोई प्राणवायु में अपान अर्पण करते हैं और कोई दोनों का ही निरोध करते हैं। हे पाण्डुकुँवर! वे प्राणायामी कहाते हैं। (४६)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञ क्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कोई हठयोग के अभ्यास से विषयरूपी आहार का नियमन करके प्राणवायुरूपी अग्नि में सब प्राणों का तत्काल हवन करते हैं। (४७) इस प्रकार ये सभी मोक्ष की इच्छा करनेहारे हैं, सभी यज्ञकर्ता हैं, जिन्होंने यज्ञ के द्वारा मन के मल की शुद्धि की है। (४८) सब अज्ञान के नाश हो जाने से जो वस्तु स्वभावत: निज स्वरूप से रह जाती है, जहाँ अग्नि और यज्ञ करनेहारे का कोई भेद नहीं रहता, (४९) जिससे यज्ञ करने की इच्छा पूर्ण हो जाती है, यज्ञ की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, और फिर सब कर्मसमूह भी समाप्त हो चुकता है, (१५०) जिसमें बुद्धि का प्रवेश नहीं सकता, कामना जिसे स्पर्श नहीं कर सकती, और जो द्वैतदोष की सङ्गति से लिप्त नहीं होता, (५१)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

ऐसा जो अनादिसिद्ध शुद्ध और यज्ञ का शेषज्ञान है उसका ब्रह्मनिष्ठ लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' मंत्र से सेवन करते हैं। (५२) वे इस शेषरूपी अमृत से तृप्त हो चुकते हैं, अथवा अमरता को प्राप्त होते हैं। अतएव वे अनायास ब्रह्म ही हो जाते हैं। (५३) अन्यों को विरक्ति कभी जयमाल नहीं डालती। उनसे कभी संयमाग्नि की सेवा नहीं बन पड़ती। वे जन्मभर कभी योग-याग नहीं करते। (५४) उनका ऐहिक भी ठीक नहीं रहता तो फिर उनके पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या कही जाय? हे पाण्डुकुँवर! उनकी बात ही छोड़ो। (५५)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे जो हमने अनेक यज्ञ अनेक प्रकार से तुम्हें बताये उनका वेदों ने विस्तार से निरूपण किया है। (५६) परन्तु उस विस्तार से क्या काम है? यह जान लो कि ये सब यज्ञ कर्म से सिद्ध होते हैं। इतने ही से सहज में कर्म का बन्धन न होगा। (५७)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन! वेद जिनका मूल है, जो बाह्य क्रिया-प्रधान हैं और जिनका अपूर्व फल स्वर्ग का सुख है, (५८) वे वास्तव में द्रव्ययज्ञ हैं परन्तु सूर्य्य के सामने नक्षत्रों की प्रकाशसम्पत्ति के समान वे भी ज्ञानयज्ञ की बराबरी नहीं कर सकते। (५९) देखो, परमात्म-सुखरूपी निधि प्राप्त करने के लिए योगी जन अपने नेत्रों में जिसका अञ्जन लगाना नहीं छोड़ते, (१६०) जो क्रियमाण कर्म का प्राप्तव्य विषय है, कर्मातीत बोध की खानि है, जो आत्म-प्राप्ति के लिए भूखे मनुष्य को साधन से उत्पन्न हुई तृप्ति है, (६१) जहाँ प्रवृत्ति लँगड़ी हो जाती है, तर्क की दृष्टि दीन हो जाती है, जिसके सङ्ग से इन्द्रियाँ विषयों का सङ्ग भूल जाती हैं, (६२) मन का मनत्व नहीं रहता, शब्द का शब्दत्व बन्द हो जाता है, और ज्ञेय वस्तु ब्रह्म जिसके अन्तर्गत दिखाई देती है, (६३) जहाँ वैराग्य की हीनता नष्ट हो जाती है, विवेक की उत्कण्ठा टूट जाती है और न खोजते भी आत्मतत्त्व से सहज ही भेंट हो जाती है, (६४)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

उस उत्तम ज्ञान को जानने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हर प्रकार से सन्तों की सेवा करो। (६५) क्योंकि जो ज्ञानरूपी घर है उसकी देहली सेवा है। हे सुभट! सेवा करके इस ज्ञान को अधीन करो। (६६) शरीर से, मन से और जीव से सन्तों के चरणों से लगो और गर्व-रहित हो उनकी ख़ूब सेवा करो (६७) तो वे इष्ट प्रश्न पूछते ही उपदेश करेंगे। उस उपदेश से बोधित हुए अन्तःकरण में कल्पना उत्पन्न न होगी। (६८)

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

और उसके वाक्यरूपी प्रकाश से चित्त निर्भय हो निःसंशय ब्रह्म की योग्यता प्राप्त कर लेगा। (६९) उस समय तुम्हें अपने समेत यह सब जगत् निरन्तर मेरे स्वरूप में दिखाई देगा। (१७०) हे पार्थ! जब श्रीगुरु की कृपा होती है तब ज्ञान का प्रकाश होता है और मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। (७१)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

तुम यद्यपि पाप की खानि हो, भ्रान्ति के समुद्र हो और भ्रम के पर्वत हो। (७२) तथापि ज्ञानशक्ति के सामने ये सब बातें अत्यल्प हैं। इस ज्ञान में ऐसी उत्तम सामर्थ्य है। (७३) देखो, विश्वाभास जैसी जो निराकार स्वरूप की परछाईं है सो भी जिसके प्रकाश के आगे नहीं टिकती (७४) उसके सामने मन के अज्ञान की क्या कथा है? इसकी बात निकालना ही अयोग्य है। संसार में ज्ञान के समान बड़ी वस्तु दूसरी नहीं है। (७५)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

कहो तीनों भुवनों का जो आकाश में धुवाँ उड़ा देता है उस प्रलयकाल के तूफ़ान के सामने क्या मेघ टिक सकते हैं? (७६) अथवा पवन के कोप के सहाय से जो पानी भी जला डालती है वह प्रलयाग्नि क्या घास और ईंधन से बुझ सकती है? (७७)

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥

बहुत क्या कहा जाय, ये बातें हो नहीं सकतीं। इनका विचार ही असङ्गत दिखाई देता है। ज्ञान के समान कोई भी वस्तु पवित्र दिखाई नहीं देती। (७८) इस संसार में ज्ञान ही एक उत्तम वस्तु है। जैसे चैतन्य-जैसी दूसरी वस्तु नहीं होती, वैसे ही इस ज्ञान की-सी दूसरी वस्तु कहाँ है? (७९) यदि सूर्य के तेज की कसौटी से प्रतिबिम्ब उज्ज्वल दिखाई दे सकता हो, अथवा यदि आकाश चपेटने से चपेटा जा सकता हो, (१८०) अथवा यदि पृथ्वी की बराबरी का कोई माप मिल सकता हो, तभी हे पाण्डुकुँवर! ज्ञान की कोई उपमा मिल सकती है। (८१) अतएव अनेक प्रकार से देखने से और बारम्बार विचार करने से यही कहना पड़ता है कि इस ज्ञान की पवित्रता ज्ञान ही में है। (८२) जैसे अमृत का स्वाद बखाना जाय तो अमृत जैसा ही कहा जावेगा, वैसे ही ज्ञान की उपमा ज्ञान ही हो सकती है। (८३) अब इस पर और जो कुछ कहा जाय वह सब वृथा समय खोना है। तब अर्जुन ने

कहा कि जो कुछ आप कहते हैं सत्य है। (८४) परन्तु अर्जुन पूछनेवाला था कि वह ज्ञान कैसे जाना जाय, इतने में श्रीकृष्ण ने उसका हेतु जान लिया (८५) और कहा हे किरीटी! अब हम तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। उस पर ध्यान दो। (८६)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जिसे आत्मसुख के स्वाद के कारण सम्पूर्ण विषयों की होक आती है, जो इन्द्रियों की प्रतिष्ठा नहीं रखता, (८७) जो मन से कोई इच्छा विदित नहीं करता, जो प्रकृति के कर्म को अपना कर्म नहीं समझता और जो श्रद्धा के सम्भोग से सन्तुष्ट हुआ है, (८८) जिसमें भरपूर शान्ति भरी है उसी मनुष्य को खोजते खोजते ज्ञान निश्चय से पहुँच जाता है (८९) वह ज्ञान जब हृदय में स्थिर होता है, और शान्ति का अंकुर फूटता है तब आत्मबोध का विस्तार प्रकट होता है। (१९०) फिर जिस ओर दृष्टि जाती है वहाँ शान्ति ही दिखाई देती है और विचार करने से अपना और पराया नहीं देख पड़ता। (९१) इस प्रकार इस ज्ञानबीज के विस्तार का जितना अधिक वर्णन किया जाय उतना ही थोड़ा है। अतएव अब रहने दो। (९२)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

सुनो, जिस प्राणी को इस ज्ञान के लिए रुचि नहीं है उसके जीवन के विषय में क्या कहा जाय? उससे मृत्यु भली है। (९३) जैसे कोई सूना घर अथवा प्राणरहित शरीर हो वैसे ही ज्ञान के बिना मोहयुक्त जीवन है। (९४) अथवा, ज्ञान तो निश्चय से प्राप्त न हो किन्तु उसकी इच्छा हो तो भी कुछ प्राप्ति का सम्भव हो सकता है। (९५) परन्तु यदि, ज्ञान की तो बात ही क्या, मन में आस्था भी नहीं है तो ऐसे मनुष्य को संशयरूपी अग्नि में पड़ा हुआ जानो। (९६) क्योंकि जब ऐसी अरुचि उत्पन्न होती है कि अमृत भी नहीं भाता तब यह समझा जाता है कि निश्चय से मृत्यु आती है। (९७) वैसे ही यह निःसंदेह जानो कि विषयों के सुख से जो सुखी होता है, ज्ञान के विषय में जो बेपरवाह है, वह संशय के वश हो

जाता है, (९८) और यदि एक बार संशय में जा पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है और इस लोक और परलोक के सुख से हाथ धो चुकता है। (९९) जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है, (२००) वैसे ही वह संशय से व्याकुल मनुष्य भी सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता। (१) जन्मान्धे को जैसे रात और दिन जान नहीं पड़ते वैसे ही संशय में रहने से कुछ भी नहीं जान पड़ता। (२) इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियों के लिए यह नाश का जाल है। (३) इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। यह ज्ञान के अभाव में रहता है। पहले इसी को जीतना चाहिए। (४) जब अज्ञान का अँधेरा हो जाता है तब मन में इस संशय की अत्यन्त वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही बन्द हो जाता है। (५) और यह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी खोज कर ग्रस लेता है, अतएव इससे तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते हैं। (६)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

यद्यपि यह संशय इतना बढ़ा हुआ हो तथापि एक उपाय से वश में आ सकता है। यदि हाथ में उत्तम ज्ञान का खड्ग हो (७) तो उस तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र से इसका निःशेष नाश हो सकता है, और फिर मन का दुःख मिट जाता है। (८)

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए हे पार्थ! अपने हृदय के संशय का नाश करके शीघ्र उठ खड़े हो। (९) सञ्जय ने कहा—हे राजा! सुनो; सर्वज्ञों के नाथ, ज्ञान के दीपक, श्रीकृष्ण दयालु हो इस प्रकार बोले। (२१०) तब, इस पूर्वापर विवेचन का विचार करके पाण्डु का पुत्र अर्जुन जो समयोचित प्रश्न करेगा (११) वह सुसङ्गत कथा, भाव का भाण्डार, रस की पुष्टि आगे वर्णी जायगी (१२) जिसकी उत्तमता पर आठों रस निछावर हैं, तथा जो संसार में सज्जनों की बुद्धि का विश्राम है। (१३) अब वह प्राकृत वाणी सुनिए, जिससे शान्तरस ही प्रकट होगा, जो समुद्र से भी अगाध है और अर्थ से भरी हुई है। (१४) जैसे सूर्य

का बिम्ब तो छोटा-सा रहता है परन्तु प्रकाश के लिए उसे त्रिभुवन भी अल्प होता है उसी प्रकार इस वाणी की व्यापकता का अनुभव लीजिए। (१५) अथवा जैसे कल्पवृक्ष इच्छा करनेवाले की मनमानी इच्छा पूर्ण करता है वैसे ही यह वाणी भी व्यापक है। इसलिए ध्यान दीजिए। (१६) और क्या कहा जाय, आप सर्वज्ञ हैं, सहज ही सब कुछ जानते हैं तथापि मेरी विनती है कि अच्छी तरह चित्त दीजिए। (१७) जैसे कोई कुलवती स्त्री सौन्दर्यवती और पतिव्रता भी हो वैसे ही इस वाणी में अलङ्कार और शान्तरस भरा है। (१८) पहले ही यदि खाँड़ भाती हो और वही यदि ओषधि में मिलाई गई हो तो आनन्द से बार बार क्यों न खाई जाय? (१९) मलयगिरि की वायु स्वभावतः मन्द और सुगन्धित है; उसमें यदि अमृत का स्वाद हो जाय और उसी में यदि दैवगति से नाद भी उत्पन्न हो जाय (२२०) तो वह स्पर्श से सब शरीर को शीतल करेगी, स्वाद से जिह्वा को नचावेगी, तथा कानों से भी "वाह वाह" कहलावेगी (२१) वैसे ही इस कथा का श्रवण करना कानों के व्रत का पारण है और किसी विकार के बिना ही संसार के दुःखों की निवृत्ति है। (२२) यदि मन्त्र से ही शत्रु की मृत्यु होती है तो कटार बाँधने का क्या काम है? यदि दूध और शक्कर से रोग निवृत्त होता है तो फिर नीम पीने की क्या आवश्यकता है? (२३) वैसे ही मन को दुःख और इन्द्रियों को कष्ट न देते इस कथा के केवल श्रवण से ही मोक्ष मिला मिलाया धरा है। (२४) इसलिए मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ कि समाधान-सम्पन्न होने के लिए इस उत्तम गीतार्थ को सुनिए। (२२५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

तब पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा कि आप यह कैसा विवरण करते हैं? एक ही बात हो तो अन्तःकरण से विचारी जा सकती है। (१) पहले आप ही ने सकल कर्मों के संन्यास का अनेक प्रकार से निरूपण किया। फिर अब पुनः कर्मयोग का विवेचन क्यों अधिक बढ़ाते हैं? (२) हे श्रीअनन्त! आप ऐसी द्व्यर्थी भाषा बोलते हैं कि उससे हम अज्ञानियों के चित्त में जैसा चाहिए वैसा बोध नहीं होता। (३) सुनिए एकतत्त्व का बोध करना हो तो एकता की स्थिति का ही निरूपण करना चाहिए, यह बात क्या आपको दूसरों से जानने की आवश्यकता है? (४) इसी लिए मैंने आपसे विनती की थी कि ये परमार्थ की बातें केवल ध्वनि से न कहिए। (५) परन्तु पिछली बातें जाने दीजिए। हे देव! सम्प्रति यह निर्णय कीजिए कि दोनों में अधिक भला मार्ग कौन-सा है (६) जो निदान तक साथ निबाहे, फल भी पूर्ण दे तथा जिस मार्ग से चलना स्वभावतः सुलभ हो, (७) और पालकी में जैसे निद्रासुख का भङ्ग नहीं होता और रास्ता भी बहुत-सा कट जाता है वैसा सुगम हो। (८) अर्जुन के इन वचनों से श्रीकृष्ण मन में आनन्दित हुए और सन्तोष से बोले कि फिर सुनो। (९) देखिए, जिस भाग्यवान् मनुष्य की कामधेनु-जैसी माता है उसे, अगर वह चाहे तो, खिलौने के लिए चन्द्र भी मिल सकता है। (१०) देखो भला, श्रीशंकर ने प्रसन्नता से उपमन्यु की इच्छा पूर्ण करने के हेतु क्या उसे दूध-भात माँगते ही क्षीर-समुद्र नहीं दे दिया? (११) वैसे ही औदार्य का घर जो श्रीकृष्ण, उनके प्राप्त होते हुए अर्जुन सब सुखों का आश्रय क्यों न हो? (१२) इसमें आश्चर्य ही क्या है? श्रीलक्ष्मीकान्त जैसा धनी

प्राप्त हुआ है अतएव इससे अपने इच्छानुसार माँग लेना ही योग्य है। (१३) यही सोचकर अर्जुन ने उपर्युक्त विनती की। वह श्रीकृष्ण ने पूर्ण की। अब श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा उसका मैं वर्णन करता हूँ। (१४)

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—हे कुन्तीसुत! संन्यास और कर्मयोग दोनों का विचार करने से मालूम होगा कि तत्त्वत: दोनों ही मोक्ष के देनेवाले हैं। (१५) तथापि स्त्री बालादिकों को जल के पार जाने के लिए जैसे नाव है वैसे ही ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिए कर्मयोग निश्चय से सुलभ है। (१६) तथा सारासार विचार करते कर्मयोग ही सुगम दिखाई देता है। इससे अनायास संन्यास के फल का लाभ होता है। (१७) अब इस पर हम तुम्हें संन्यासियों के लक्षण बताते हैं जिससे तुम्हें संन्यास और कर्मयोग की अभिन्नता का ज्ञान होगा। (१८)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

जो गई बात का स्मरण नहीं करता, जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो हृदय में मेरु जैसा अत्यन्त स्थिर रहता है, (१९) और जिसका अन्त:करण "अहन्ता व ममता" का स्मरण भी भूल जाता है उसे, हे पार्थ! निरन्तर संन्यासी समझो। (२०) जो मन से इस प्रकार स्थिर हो गया है उसका सङ्ग विषय छोड़ देते हैं और उसे अनायास निरन्तर सुख प्राप्त होता है। (२१) तब फिर घर इत्यादि संसार छोड़ने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन विषयों का ग्रहण करनेहारा स्वभावत: नि:सङ्ग हो रहता है। (२२) देखो आग बुझ जाने पर जो केवल राख रह जाती है, उसका आच्छादन कपास जैसे बिना जले कर सकता है (२३) वैसे ही जिसकी बुद्धि में सङ्कल्प नहीं रह जाता वह मनुष्य कर्म के बन्ध से बाँधा नहीं जा सकता। (२४) अतएव जब कल्पना छूट जाती है तब संन्यास होता है, और इसी लिए संन्यास और कर्मयोग दोनों समान हैं। (२५)

जाता है, (९८) और यदि एक बार संशय में जा पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है और इस लोक और परलोक के सुख से हाथ धो चुकता है। (९९) जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है, (२००) वैसे ही वह संशय से व्याकुल मनुष्य भी सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता। (१) जन्मान्धे को जैसे रात और दिन जान नहीं पड़ते वैसे ही संशय में रहने से कुछ भी नहीं जान पड़ता। (२) इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियों के लिए यह नाश का जाल है। (३) इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। यह ज्ञान के अभाव में रहता है। पहले इसी को जीतना चाहिए। (४) जब अज्ञान का अँधेरा हो जाता है तब मन में इस संशय की अत्यन्त वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही बन्द हो जाता है। (५) और यह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी खोज कर ग्रस लेता है, अतएव इससे तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते हैं। (६)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

यद्यपि यह संशय इतना बढ़ा हुआ हो तथापि एक उपाय से वश में आ सकता है। यदि हाथ में उत्तम ज्ञान का खड्ग हो (७) तो उस तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र से इसका निःशेष नाश हो सकता है, और फिर मन का दुःख मिट जाता है। (८)

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए हे पार्थ! अपने हृदय के संशय का नाश करके शीघ्र उठ खड़े हो। (९) सञ्जय ने कहा—हे राजा! सुनो; सर्वज्ञों के नाथ, ज्ञान के दीपक, श्रीकृष्ण दयालु हो इस प्रकार बोले। (२१०) तब, इस पूर्वापर विवेचन का विचार करके पाण्डु का पुत्र अर्जुन जो समयोचित प्रश्न करेगा (११) वह सुसङ्गत कथा, भाव का भाण्डार, रस की पुष्टि आगे वर्णी जायगी (१२) जिसकी उत्तमता पर आठों रस निछावर हैं, तथा जो संसार में सज्जनों की बुद्धि का विश्राम है। (१३) अब वह प्राकृत वाणी सुनिए, जिससे शान्तरस ही प्रकट होगा। जो समुद्र से भी अगाध है और अर्थ से भरी हुई है। (१४) जैसे सूर्य

का बिम्ब तो छोटा-सा रहता है परन्तु प्रकाश के लिए उसे त्रिभुवन भी अल्प होता है उसी प्रकार इस वाणी की व्यापकता का अनुभव लीजिए। (१५) अथवा जैसे कल्पवृक्ष इच्छा करनेवाले की मनमानी इच्छा पूर्ण करता है वैसे ही यह वाणी भी व्यापक है। इसलिए ध्यान दीजिए। (१६) और क्या कहा जाय, आप सर्वज्ञ हैं, सहज ही सब कुछ जानते हैं तथापि मेरी विनती है कि अच्छी तरह चित्त दीजिए। (१७) जैसे कोई कुलवती स्त्री सौन्दर्यवती और पतिव्रता भी हो वैसे ही इस वाणी में अलङ्कार और शान्तरस भरा है। (१८) पहले ही यदि खाँड़ भाती हो और वही यदि ओषधि में मिलाई गई हो तो आनन्द से बार बार क्यों न खाई जाय ? (१९) मलयगिरि की वायु स्वभावतः मन्द और सुगन्धित है; उसमें यदि अमृत का स्वाद हो जाय और उसी में यदि दैवगति से नाद भी उत्पन्न हो जाय (२२०) तो वह स्पर्श से सब शरीर को शीतल करेगी, स्वाद से जिह्वा को नचावेगी, तथा कानों से भी "वाह वाह" कहलावेगी (२१) वैसे ही इस कथा का श्रवण करना कानों के व्रत का पारण है और किसी विकार के बिना ही संसार के दुःखों की निवृत्ति है। (२२) यदि मन्त्र से ही शत्रु की मृत्यु होती है तो कटार बाँधने का क्या काम है ? यदि दूध और शक्कर से रोग निवृत्त होता है तो फिर नीम पीने की क्या आवश्यकता है ? (२३) वैसे ही मन को दुःख और इन्द्रियों को कष्ट न देते इस कथा के केवल श्रवण से ही मोक्ष मिला मिलाया धरा है। (२४) इसलिए मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ कि समाधान-सम्पन्न होने के लिए इस उत्तम गीतार्थ को सुनिए। (२२५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः।

जाता है, (९८) और यदि एक बार संशय में जा पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है और इस लोक और परलोक के सुख से हाथ धो चुकता है। (९९) जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है, (२००) वैसे ही वह संशय से व्याकुल मनुष्य भी सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता। (१) जन्मान्धे को जैसे रात और दिन जान नहीं पड़ते वैसे ही संशय में रहने से कुछ भी नहीं जान पड़ता। (२) इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियों के लिए यह नाश का जाल है। (३) इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। यह ज्ञान के अभाव में रहता है। पहले इसी को जीतना चाहिए। (४) जब अज्ञान का अँधेरा हो जाता है तब मन में इस संशय की अत्यन्त वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही बन्द हो जाता है। (५) और यह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी खोज कर ग्रस लेता है, अतएव इससे तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते हैं। (६)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

यद्यपि यह संशय इतना बढ़ा हुआ हो तथापि एक उपाय से वश में आ सकता है। यदि हाथ में उत्तम ज्ञान का खड्ग हो (७) तो उस तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र से इसका निःशेष नाश हो सकता है, और फिर मन का दुःख मिट जाता है। (८)

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए हे पार्थ! अपने हृदय के संशय का नाश करके शीघ्र उठ खड़े हो। (९) सञ्जय ने कहा—हे राजा! सुनो; सर्वज्ञों के नाथ, ज्ञान के दीपक, श्रीकृष्ण दयालु हो इस प्रकार बोले। (२१०) तब, इस पूर्वापर विवेचन का विचार करके पाण्डु का पुत्र अर्जुन जो समयोचित प्रश्न करेगा (११) वह सुसङ्गत कथा, भाव का भाण्डार, रस की पुष्टि आगे वर्णी जायगी (१२) जिसकी उत्तमता पर आठों रस निछावर हैं, तथा जो संसार में सज्जनों की बुद्धि का विश्राम है। (१३) अब वह प्राकृत वाणी सुनिए, जिससे शान्तरस ही प्रकट होगा, जो समुद्र से भी अगाध है और अर्थ से भरी हुई है। (१४) जैसे सूर्य

का बिम्ब तो छोटा-सा रहता है परन्तु प्रकाश के लिए उसे त्रिभुवन भी अल्प होता है उसी प्रकार इस वाणी की व्यापकता का अनुभव लीजिए। (१५) अथवा जैसे कल्पवृक्ष इच्छा करनेवाले की मनमानी इच्छा पूर्ण करता है वैसे ही यह वाणी भी व्यापक है। इसलिए ध्यान दीजिए। (१६) और क्या कहा जाय, आप सर्वज्ञ हैं, सहज ही सब कुछ जानते हैं तथापि मेरी विनती है कि अच्छी तरह चित्त दीजिए। (१७) जैसे कोई कुलवती स्त्री सौन्दर्यवती और पतिव्रता भी हो वैसे ही इस वाणी में अलङ्कार और शान्तरस भरा है। (१८) पहले ही यदि खाँड़ भाती हो और वही यदि ओषधि में मिलाई गई हो तो आनन्द से बार बार क्यों न खाई जाय ? (१९) मलयगिरि की वायु स्वभावतः मन्द और सुगन्धित है; उसमें यदि अमृत का स्वाद हो जाय और उसी में यदि दैवगति से नाद भी उत्पन्न हो जाय (२२०) तो वह स्पर्श से सब शरीर को शीतल करेगी, स्वाद से जिह्वा को नचावेगी, तथा कानों से भी "वाह वाह" कहलावेगी (२१) वैसे ही इस कथा का श्रवण करना कानों के व्रत का पारण है और किसी विकार के बिना ही संसार के दुःखों की निवृत्ति है। (२२) यदि मन्त्र से ही शत्रु की मृत्यु होती है तो कटार बाँधने का क्या काम है ? यदि दूध और शक्कर से रोग निवृत्त होता है तो फिर नीम पीने की क्या आवश्यकता है ? (२३) वैसे ही मन को दुःख और इन्द्रियों को कष्ट न देते इस कथा के केवल श्रवण से ही मोक्ष मिला मिलाया धरा है। (२४) इसलिए मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ कि समाधान-सम्पन्न होने के लिए इस उत्तम गीतार्थ को सुनिए। (२२५)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः।

———

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

तब पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा कि आप यह कैसा विवरण करते हैं ? एक ही बात हो तो अन्तःकरण से विचारी जा सकती है। (१) पहले आप ही ने सकल कर्मों के संन्यास का अनेक प्रकार से निरूपण किया। फिर अब पुनः कर्मयोग का विवेचन क्यों अधिक बढ़ाते हैं ? (२) हे श्रीअनन्त ! आप ऐसी द्व्यर्थी भाषा बोलते हैं कि उससे हम अज्ञानियों के चित्त में जैसा चाहिए वैसा बोध नहीं होता। (३) सुनिए एकतत्त्व का बोध करना हो तो एकता की स्थिति का ही निरूपण करना चाहिए, यह बात क्या आपको दूसरों से जानने की आवश्यकता है ? (४) इसी लिए मैंने आपसे विनती की थी कि ये परमार्थ की बातें केवल ध्वनि से न कहिए। (५) परन्तु पिछली बातें जाने दीजिए। हे देव ! सम्प्रति यह निर्णय कीजिए कि दोनों में अधिक भला मार्ग कौन-सा है (६) जो निदान तक साथ निबाहे, फल भी पूर्ण दे तथा जिस मार्ग से चलना स्वभावतः सुलभ हो, (७) और पालकी में जैसे निद्रासुख का भङ्ग नहीं होता और रास्ता भी बहुत-सा कट जाता है वैसा सुगम हो। (८) अर्जुन के इन वचनों से श्रीकृष्ण मन में आनन्दित हुए और सन्तोष से बोले कि फिर सुनो। (९) देखिए, जिस भाग्यवान् मनुष्य की कामधेनु-जैसी माता है उसे, अगर वह चाहे तो, खिलौने के लिए चन्द्र भी मिल सकता है। (१०) देखो भला, श्रीशंकर ने प्रसन्नता से उपमन्यु की इच्छा पूर्ण करने के हेतु क्या उसे दूध-भात माँगते ही क्षीर-समुद्र नहीं दे दिया ? (११) वैसे ही औदार्य का घर जो श्रीकृष्ण, उनके प्राप्त होते हुए अर्जुन सब सुखों का आश्रय क्यों न हो ? (१२) इसमें आश्चर्य ही क्या है ? श्रीलक्ष्मीकान्त जैसा धनी

प्राप्त हुआ है अतएव इससे अपने इच्छानुसार माँग लेना ही योग्य है। (१३) यही सोचकर अर्जुन ने उपर्युक्त विनती की। वह श्रीकृष्ण ने पूर्ण की। अब श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा उसका मैं वर्णन करता हूँ। (१४)

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—हे कुन्तीसुत! संन्यास और कर्मयोग दोनों का विचार करने से मालूम होगा कि तत्त्वतः दोनों ही मोक्ष के देनेवाले हैं। (१५) तथापि स्त्री बालादिकों को जल के पार जाने के लिए जैसे नाव है वैसे ही ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिए कर्मयोग निश्चय से सुलभ है। (१६) तथा सारासार विचार करते कर्मयोग ही सुगम दिखाई देता है। इससे अनायास संन्यास के फल का लाभ होता है। (१७) अब इस पर हम तुम्हें संन्यासियों के लक्षण बताते हैं जिससे तुम्हें संन्यास और कर्मयोग की अभिन्नता का ज्ञान होगा। (१८)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

जो गई बात का स्मरण नहीं करता, जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो हृदय में मेरु जैसा अत्यन्त स्थिर रहता है, (१९) और जिसका अन्तःकरण "अहन्ता व ममता" का स्मरण भी भूल जाता है उसे, हे पार्थ! निरन्तर संन्यासी समझो। (२०) जो मन से इस प्रकार स्थिर हो गया है उसका सङ्ग विषय छोड़ देते हैं और उसे अनायास निरन्तर सुख प्राप्त होता है। (२१) तब फिर घर इत्यादि संसार छोड़ने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन विषयों का ग्रहण करनेहारा स्वभावतः निःसङ्ग हो रहता है। (२२) देखो आग बुझ जाने पर जो केवल राख रह जाती है, उसका आच्छादन कपास जैसे बिना जले कर सकता है (२३) वैसे ही जिसकी बुद्धि में सङ्कल्प नहीं रह जाता वह मनुष्य कर्म के बन्ध से बाँधा नहीं जा सकता। (२४) अतएव जब कल्पना छूट जाती है तब संन्यास होता है,

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

हे पार्थ! सामान्यतः जो लोग सर्वथा मूर्ख होते हैं वे ज्ञान और कर्मयोग की व्यवस्थिति कैसे समझ सकते हैं? (२६) स्वभावतः अज्ञानी होने के कारण वे उन दोनों को भिन्न समझते हैं। नहीं तो, एक ही दीपक क्या जुदा जुदा प्रकाश देता है? (२७) जिन्होंने उत्तम अनुभव के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्व जान लिया है वे सांख्य और योग दोनों को एक भाव से मानते हैं। (२८)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो वस्तु ज्ञानमार्ग से प्राप्त होती है वही कर्मयोग से भी मिल सकती है। अतएव दोनों मार्गों की इस प्रकार स्वाभाविक एकता है। (२९) देखो, आकाश और अवकाश में जैसा भेद नहीं है वैसा ही जो कर्मयोग और संन्यास का ऐक्य पहचानता है, (३०) जिसे सांख्य और योग का भेद-रहित ज्ञान हुआ है, उसी को संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है, उसी ने निज को पहचाना है। (३१)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे पार्थ! जो योग के मार्ग से मोक्षरूपी पर्वत पर चढ़ता है वह शीघ्र ही महासुख के शिखर पर पहुँच जाता है। (३२) और अन्य जन जो योगस्थिति का अवलम्बन नहीं करते वे वृथा खटपट करते रहते हैं परन्तु उन्हें कभी संन्यास की प्राप्ति नहीं होती। (३३)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जिसने अपना मन भ्रम की ओर से हटाकर, गुरुवाक्य से शुद्ध कर, दृढ़ता से आत्मस्वरूप में लगा दिया है; (३४) जब तक समुद्र में लवण नहीं गिरता तब तक जैसे वह किञ्चित् भिन्न दिखाई देता है परन्तु समुद्र में मिलते ही समुद्र जैसा हो जाता है, (३५) वैसे ही जिसका सङ्कल्प की ओर से हटाया हुआ मन चैतन्य-

रूप हो जाता है, वह यद्यपि परिच्छिन्न है तथापि तीनों लोकों में व्यापक हो जाता है। (३६) फिर आप ही आप कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों का अन्त हो जाता है और वह मनुष्य कर्मकर्ता हो तथापि अकर्त्ता बना रहता है। (३७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

क्योंकि, हे पार्थ, उसे इस बात का स्मरण नहीं रहता कि मैं देहरूप हूँ। फिर कहो उसे वृथा कर्तृत्व बाक़ी रह जाता है? (३८) इस प्रकार योगयुक्त पुरुषों में देह त्याग के बिना ही परब्रह्म के सम्पूर्ण गुण दिखाई देते हैं। (३९) यों तो अन्यों के समान वह भी एक देहधारी है और अशेष कर्मों में व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। (४०) वह भी नेत्रों से देखता है, कानों से सुनता है परन्तु आश्चर्य देखो कि वह उन इन्द्रियों में सर्वथा आसक्त नहीं रहता। (४१) उसे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह नाक से सुगन्ध सूँघता है, समयोचित भाषण भी करता है, (४२) आहार को स्वीकार करता है, जिसका त्याग करना चाहिए उसे छोड़ता है, निद्रा के समय सुख से सोता है, (४३) अपने इच्छानुसार चलता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार वह निश्चय से सब कर्मों में व्यवहार करता है। (४४) एक एक बात क्या कहें, श्वास और उच्छ्वास करना और पलक मूँदना-खोलना आदि (४५) सब बातें हे पार्थ! वह करता है, तथापि वह अनुभवबल के कारण इन सब कर्मों का कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। (४६) क्योंकि जब वह भ्रान्तिरूपी शय्या पर सोया था तब उसे स्वप्नरूपी सुख का अनुभव होता था, परन्तु अब वह ज्ञानोदय-काल में जागृत हो गया है। (४७)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

अब उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपने अपने विषयों में

अधिष्ठान के सान्निध्य से व्यवहार करती हैं। (४८) जैसे दीपक के प्रकाश में घर के सब व्यापार होते हैं वैसे ही उस योगयुक्त पुरुष के देह से सब कर्म होते हैं। (४९) वह सब कर्म करता है परन्तु जैसे जल में उगा हुआ कमल-पत्र जल से नहीं भीगता वैसे ही वह कर्मबन्ध के वश नहीं होता। (५०)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये ॥११॥

देखो, जो ऐसा कर्म है कि जिसमें बुद्धि का सम्बन्ध ही नहीं है, जिसमें मन का अंकुर भी नहीं उगता वह शारीर कर्म कहाता है। (५१) यही बात सुलभ रीति से कहिए, तो योगीजन बालक की चेष्टा के समान केवल शरीर से कर्म करते हैं। (५२) और यह पञ्च-भूतात्मक शरीर मानों सो जाता है और केवल मन ही स्वप्नवत् व्यापार करता है, (५३) [हे धनुर्धर ! आश्चर्य देखो, वासना का कैसा विस्तार है कि वह, देह को मालूम न होते हुए, सुख-दुःख भोगती है।] (५४) इस प्रकार इन्द्रियों को कुछ भी मालूम न होते जो कर्म उत्पन्न होता है वह केवल मानस कर्म कहलाता है। (५५) योगीजन मानस कर्म भी करते हैं परन्तु वे उससे बाँधे नहीं जाते। क्योंकि उन्होंने अहंभाव की सङ्गति छोड़ दी है। (५६) और भ्रमयुक्त हो जाने से जैसे इन्द्रियों की चेष्टा पिशाच के चित्त के समान अव्यवस्थित दिखाई देती है—जैसे (५७) स्वरूप का दिखाई देना, बुलाने से सुन पड़ना, मुख से शब्द निकलना परन्तु ज्ञान न होना—(५८) वैसे जो कर्म, किंबहुना जो निष्कारण किया जाता है, वह केवल इन्द्रियों का कर्म समझो। (५९) और [श्रीहरि अर्जुन से कहते हैं कि जो सर्वत्र जानने की क्रिया है वह बुद्धि का कर्म है। (६०) योगीजन बुद्धि को प्रमुख करके मन लगा कर भी कर्म करते हैं, परन्तु वस्तुतः वे कर्म से मुक्त रहते हैं। (६१) क्योंकि बुद्धि से लगाकर देह तक उन्हें अहंकार का स्मरण ही नहीं रहता। अतएव कर्म करते करते वे शुद्ध हो गये हैं। (६२) अजी, कर्त्ता के बिना जो कर्म किया जाता है वही निष्कर्मता है। यह गुरुकृपा ही से समझने योग्य रहस्य योगीजन जानते हैं। (६३) अब इसके उपरान्त शान्तरस की ऐसी बाढ़ आई है कि वह पात्र में न समाकर उभरा रहा है क्योंकि अब जो वचन बोले जावेंगे वे वाणी

के परे के हैं। (६४) जिनकी इन्द्रियों की इच्छा अच्छी तरह पूर्ण हो चुकी हो वे ही ये वचन श्रवण करने के योग्य हैं। (६५) परन्तु [श्रोताओं ने कहा कि] अब विषयान्तर रहने दो, कथा का सम्बन्ध मत छोड़ो, क्योंकि श्लोकसङ्गति का भङ्ग होगा। (६६) जो बात मन से ग्रहण करने के लिए कठिन है, प्रयत्न करने से भी बुद्धि को प्राप्त नहीं होती, उसका भाग्यवशात् तुमने उत्तम रीति से वर्णन किया है। (६७) जो वस्तु स्वभावतः शब्द के परे है वह यदि शब्दों से ही व्यक्त हो रही है तो और दूसरी बातों का क्या काम है? अतएव कहो। (६८) श्रोताओं की ऐसी उत्कट इच्छा जानकर निवृत्त के दास बोले कि श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद बार बार सुनिए। (६९) श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मैं तुम्हें पहुँचे हुए पुरुष का पूर्ण लक्षण बताता हूँ उसकी ओर चित्त दो। (७०)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥१२॥

जो आत्मज्ञान से सम्पन्न है, जिसके हृदय में कर्म के फल का तिरस्कार उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य संसार में शान्ति के घर में घुस कर उसे वर लेता है (७१) परन्तु हे किरीटी! जो आत्मयोगी नहीं है वह कर्मबन्ध के कारण फलभोगरूपी खूँटी से फलेच्छा की गाँठ दे बाँधा जाता है। (७२)

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

फल की इच्छा से कर्म करनेहारा जैसे कर्म करता है उसी प्रकार जो सब कर्म तो करता है, परन्तु जो उस कर्म की इस भाव से उपेक्षा करता है कि मैं उसका करनेहारा नहीं हूँ (७३) वह मनुष्य जिस ओर दृष्टि देता है वहीं सुख की सृष्टि हो जाती है। वह जहाँ चाहे वहीं महाबोध उपस्थित रहता है। (७४) वह फल का त्याग करनेहारा इस नवद्वार देह में रहते हुए भी नहीं रहता, और कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। (७५)

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जैसे, देखने में तो सर्वेश्वर अकर्त्ता है परन्तु वही इस त्रिभुवन के विस्तार की रचना करता है; (७६) और उसे कर्त्ता कहिए तो वह किसी भी कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उदासीन वृत्ति के हाथ-पाँव कर्म में लिप्त नहीं होते, (७७) उसकी योगनिद्रा का भङ्ग न होते, उसके अकर्तृत्व में कुछ कमी न होते, वह भली भाँति महाभूतों का समुदाय रचकर खड़ा कर देता है। (७८) वह जगत् के हृदय में भरा है परन्तु वह कभी किसी का नहीं है। जगत् उत्पन्न होता और नाश पाता है पर इसकी उसे खबर भी नहीं है। (७९)

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

सब पाप-पुण्य पास है तथापि वह उन्हें न देखता और न उनका साक्षी होता है। तो फिर और बातों का पूछना ही क्या है? (८०) देह की संगति से वह प्रभु मूर्तिमान् हो क्रीड़ा करता है परन्तु उसकी निराकारता कभी मलिन नहीं होती, (८१) एवं चराचर में यह जो मत विख्यात है कि वह संसार की रचना करता, स्थिति रखता और नाश करता है, वह अज्ञान है। (८२)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

यह अज्ञान जब सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है तब भ्रम का अन्धकार मिट जाता है और मुक्त ईश्वर की निष्कर्मता प्रकट होती है। (८३) एतावता यदि चित्त में यह ज्ञान हो कि ईश्वर अकर्त्ता है और यदि इस विवेक का उदय हो कि (८४) स्वभावतः आरम्भ से मैं ही ईश्वर हूँ, तो उस मनुष्य को तीनों लोकों में किस बात का भेद रह जावेगा? स्वानुभव होते ही वह अपने समान ही सब जगत् को मुक्त समझेगा, (८५) जैसे कि सूर्य का उदय होते ही पूर्व दिशा के घर में दिवाली हो जाती है, तथा उसी समय अन्य दिशाओं के अन्धकार का भी नाश हो जाता है। (८६)

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

अपनी बुद्धि के निश्चित होते ही उसे आत्मज्ञान हो जाता है। वह निज को ब्रह्मरूप जानता है और रात-दिन ब्रह्मपरायण हो पूर्ण ब्रह्मस्थिति विद्यमान रखता है। (८७) इस प्रकार उत्तम व्यापक ज्ञान जिनके हृदय को ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचा है उनकी एकत्व की दृष्टि का मैं शब्दों से और क्या वर्णन करूँ? (८८) इसमें क्या आश्चर्य है कि वे स्वयं जैसे एक हैं वैसे सब विश्व को देखते हैं! (८९) परन्तु जैसे भाग्यवान् को कभी कुतूहल से भी दरिद्रता दिखाई नहीं देती, अथवा विवेक जैसे कभी भ्रान्ति को नहीं पहचानता, (९०) अथवा सूर्य जैसे अन्धकार का नमूना स्वप्न में भी नहीं देखता, अथवा अमृत जैसे मृत्यु की कथा कभी कान से नहीं सुनता, (९१) और, रहने दो, जैसे चन्द्र को कभी यह खबर नहीं होती कि सन्ताप क्या वस्तु है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राणियों में कभी भेद का नाम नहीं जानते। (९२)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

तब फिर यह मशक है और यह हाथी है, अथवा यह चाण्डाल है और यह ब्राह्मण है, यह अपना है और यह पराया है, इत्यादि बातें कहाँ रहीं? (९३) अथवा और अधिक क्या कहें, यह गौ है और यह कुत्ता है, यह बड़ा है और यह छोटा है, इत्यादि स्वप्न उस जागृत को कहाँ से होंगे? (९४) उसे तो भेद तभी दिखाई दे सकता है जब अहंभाव बच रहा हो। वह सब पहले ही नष्ट हो जाता है, फिर भिन्नता क्योंकर रह सकती है? (९५)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अतएव समदृष्टि का सम्पूर्ण मर्म यही समझो कि जो सर्वदा और सर्वत्र समान है वह अद्वितीय ब्रह्म स्वयं मैं हूँ। (९६) जिन्होंने न तो विषयों का सङ्ग छोड़ा और न इन्द्रियों को ही दण्ड दिया, पर कामना-रहित होकर निःसङ्गता का भोग किया है; (९७) और जिन्होंने संसार के आश्रय से व्यावहारिक कर्म तो किये हैं परन्तु मूढ़ता से भरे हुए लौकिक कर्मों को ऐसे त्याग दिया है, जैसे कि

सोया हुआ आदमी सब कामों से अलग रहता है (९८) ऐसे पुरुष यद्यपि देहधारी हैं फिर भी संसारी बुद्धिवाला उनको उसी तरह नहीं पहचान सकता जिस तरह लोगों में मौजूद रहने पर भी पिशाच किसी को देख नहीं पड़ता। (९९) और रहने दो, पवन के योग से जैसे जल में जल हिलोरता है और लोग उसे अलग तरङ्ग समझते हैं, (१००) वैसे ही जिसका मन सर्वत्र समता को प्राप्त हुआ है उसे नाम और रूप हैं, परन्तु वास्तव में वह ब्रह्म ही है। (१) जो इस प्रकार समदृष्टि हुआ है उस पुरुष की पहचान के कुछ चिह्न भी हैं। श्रीकृष्णने कहा हे अर्जुन! वे लक्षण हम संक्षेप से वर्णन करते हैं; सुनो। (२)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

मृगजल की बाढ़ से जैसे पर्वत नहीं डिगते वैसे ही भला या बुरा अवसर प्राप्त होने से भी जिसे विकार नहीं उत्पन्न होता (३) वही सच्चा है, वही तत्त्वतः समदर्शी है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पाण्डुसुत! वही ब्रह्म है। (४)

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

इसमें क्या आश्चर्य है कि जिसे आत्मस्वरूप छोड़ कर इन्द्रियसमूह की ओर लौटना ही नहीं है वह विषयों का उपभोग नहीं करता? (५) उसका अन्तःकरण सहज और अमर्याद आत्मसुख के आनन्द से भरा हुआ रहता है इसलिए वह बाहर की ओर पाँव नहीं डालता। (६) कहो, चन्द्रविकासी कुमुद की पत्तल में जिस चकोर ने शुद्ध चन्द्र-किरणों का भोजन किया है वह क्या रेत के कण खावेगा? (७) वैसे ही इसमें कहना ही क्या है कि जिसे आत्मसुख उत्पन्न हुआ है, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे विषय सहज ही छूट जाते हैं। (८) यों भी, तनिक ठीक विचार कर देखो तो इन विषयों के सुख में कौन फँसता है? (९)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

जिन्होंने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किया है वे ही इन इन्द्रियों के विषयों से सुखी होते हैं। जैसे भूखे दरिद्री लोग चूनी का भी सेवन करते हैं, (११०) अथवा प्यास की पीड़ा से पीड़ित हुए मृग भ्रम से जल के आभास को जल समझ कर पथरीली जमीन पर आ पहुँचते हैं, (११) वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप नहीं देखा, जिसे सर्वदा आत्मसुख की दरिद्रता बनी है, उसे ये विषय ही सुन्दर जान पड़ते हैं। (१२) नहीं तो विषयों में सुख है यह कहना ठीक नहीं। ऐसा हो तो संसार में विद्युत् के प्रकाश से ही क्यों नहीं देखा जाता? (१३) यदि हवा, वर्षा और गर्मी का निवारण करने के लिए अभ्र की छाया से ही निर्वाह हो सके तो तिमञ्जिले मकान क्यों खड़े किये जाते हैं। (१४) अतएव विषयों में सुख समझना वृथा अज्ञान से जल्पना करना है जैसे वचनाग को मधुर कहना, (१५) अथवा मङ्गल ग्रह को मङ्गल समझना, किंवा मृगजल को जल कहना, वैसे ही यह विषय-सम्बन्धी सुख का कथन वृथा है। (१६) और जाने दो, यह कहो कि सर्प के फन की छाया चूहे को कहाँ तक शीतल मालूम होगी? (१७) हे पाण्डव! मीन जैसे मांस का कौर न लीले तभी तक भला है वैसे ही निश्चय से सब विषयों के सङ्ग को भी जानो। (१८) हे किरीटी! इसे जो विरक्तों की दृष्टि से देखो तो यह पाण्डुरोग के समान दिखाई देता है। (१९) अतएव विषयभोग में जो सुख है उसे सम्पूर्ण दुःख ही जानो। परन्तु अज्ञानी क्या करें। बिना भोगे उनका निर्वाह नहीं होता। (१२०) वे बेचारे भीतरी मर्म नहीं जानते इसलिए उन्हें विषय भोगने ही पड़ते हैं। कहो, क्या पीवरूपी कीचड़ के कीड़ों को कभी उसकी हीक आती है? (२१) उन दुःखियों को दुःख ही आत्मसुख है। वे विषयरूपी कीचड़ के दादुर, भोगरूपी जल के जलचर, उस कीचड़ अथवा जल को कैसे छोड़ सकते हैं? (२२) और यदि जीव विषयों के विषय से विरक्त हो जायँ तो जो दुःख की योनियाँ हैं वे क्या निरर्थक न हो जायँगी? (२३) अथवा गर्भवास इत्यादि सङ्कट तथा जन्म-मरण के कष्ट इत्यादि की बाट (जिसमें जरा भी विश्राम नहीं है) कौन चलेगा? (२४) यदि विषयासक्त पुरुष विषयों को छोड़ देंगे तो महापाप कहाँ रहेंगे और जगत् में संसार का नाम झूठा न हो जावेगा? (२५) अतएव जो मिथ्या अविद्या-समूह है वह उन्हीं ने सच कर दिखाया है जिन्होंने विषयरूपी दुःख को सुख जानकर स्वीकार किया है। (२६) इसलिए हे उत्तम योद्धा!

विचार कर देखने से विषय निकृष्ट दिखाई देते हैं। तुम कभी इस मार्ग से भूल कर भी मत जाना। (२७) विरक्तजन इसको विष के समान जान कर त्याग देते हैं। उन आशा-रहित लोगों को विषयों में दिखाई देनेवाले दुःखों की चाह नहीं रहती। (२८)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

और ज्ञानियों में तो निश्चय से विषयों की बात भी नहीं रहती। वे तो देह रहते हुए देह के विकार अपने अधीन कर लेते हैं। (२९) वे वाह्य विषयों का बिलकुल नाम भी नहीं जानते। उनके हृदय में एक सुख भरा रहता है। (१३०) परन्तु उस सुख का भोग एक जुदी ही स्थिति में रह कर लिया जाता है। जैसे पत्ती फल का चुम्बन करते हैं वैसा यह भोग नहीं है। उसमें भोक्तृभाव का भी विस्मरण हो जाता है। (३१) उस भोग के समय एक ऐसी वृत्ति उठती है कि जो अहङ्कार का अंचल दूर कर सुख को दृढ़ आलिङ्गन देती है। (३२) उस आलिङ्गन से आप ही आप एक-रूपता हो जाती है। तब जल में मिला हुआ जल जैसे अलग नहीं दिखाई देता, (३३) अथवा आकाश में वायु मिल जाती है तो आकाश और वायुरूपी भेद का नाश हो जाता है वैसे ही उस सुख के समय सुख ही निज स्वरूप से रह जाता है। (३४) इस प्रकार द्वैत का नाम मिट जाता है। यदि यह कहा जाय कि उस समय एकता हो जाती है, तो उस एकता का जाननेहारा साक्षी भी कौन रह जाता है? (३५)

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

इसलिए सब वर्णन रहने दो। जो अकथनीय है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? आत्मा ही स्वभावतः उस संकेत को पहचानेगा। (३६) जो इस सुख से मत्त हुए हैं, अपने स्वरूप में ही निमग्न रहते हैं, मैं समझता हूँ वे निखिल ब्रह्मानन्द से ही ढले हुए हैं। (३७) वे आनन्द के स्वरूप हैं, सुख के अंकुर हैं, अथवा मानो महाबोध के क्रीड़ा

स्थान हैं। (३८) वे विवेक के नगर हैं, अथवा परब्रह्म के स्वभाव हैं, अथवा ब्रह्मविद्या के अलङ्कार पहने हुए अवयव हैं। (३९) वे तत्त्व के सात्त्विक अंश हैं, अथवा चैतन्य के शरीर के अवयव हैं। "बहुत हुआ, एक एक बात क्या वर्णन करते हो? (१४०) तुम सन्तों की स्तुति में रमते हो तो तुम्हें कथा का स्मरण भी नहीं रहता, और निरालम्ब स्वरूप का प्रेमयुक्त वर्णन करते रहते हो, (४१) परन्तु अब उस रस की अधिकता रहने दो, ग्रन्थार्थरूप दीपक प्रकाशित करो, और साधुओं के हृदयरूपी मन्दिरों में मङ्गलरूपी प्रातःकाल करो।" (४२) इस प्रकार गुरु का अभिप्राय पाते ही निवृत्तिदास बोले—सुनो, श्रीकृष्ण ने कहा (४३) हे अर्जुन! जो अनन्त सुख के दह में डूब कर एकदम तले जा बैठे हैं और वहाँ स्थिर रह कर तद्रूप हो गये हैं, (४४) अथवा जिन्हें शुद्ध आत्मज्ञान के सहाय से अपने ही आत्मा में सब संसार प्रतीत होता है, वे हैं तो मनुष्य-देह-धारी तथापि ख़ुशी से परब्रह्म रूप माने जा सकते हैं। (४५) जो वास्तव में सबसे परे है, अथवा जो अविनाशी और सीमा-रहित है, जिस नगर में रहने का अधिकार केवल निष्काम जनों को है, (४६) जो महर्षियों में उन्नत है, विरक्तों के ही हिस्से में आता है, जो निःसन्देह जनों को निरन्तर ही बना है, (४७)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जिन्होंने अपना मन विषयों से जुदा कर जीत लिया है वे जिस स्थान में सोये हुए जागृत नहीं होते, (४८) ऐसा मोक्ष का स्थान, आत्मज्ञानियों का कारण, जो परब्रह्म है, वही हे पाण्डुकुमार! उपर्युक्त पुरुषों को समझो। (४९) यदि तुम पूछो कि वे ऐसे कैसे बन जाते हैं कि देह रहते ही ब्रह्मत्व को पहुँच जाते हैं, तो मैं उसका संक्षेप से वर्णन करता हूँ। (१५०)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

जो वैराग्य के आधार से विषयों को बाहर निकाल कर शरीर में मन को एकाग्र करते हैं, (५१) तथा जहाँ स्वभावतः (इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक) तीनों नाड़ियों का मिलाप होता है और जहाँ दोनों भौंहें मिलती हैं वहाँ जो उलटी दृष्टि लगा देते हैं,

(५२) वे चिदाकाश में सञ्चार करनेहारे योगी दाहिना और बायाँ भाग छोड़कर चित्तसहित प्राण और अपान वायु को समान कर रखते हैं। (५३)

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

गङ्गा नदी रास्ते के जिस भले-बुरे जल-सहित समुद्र में मिलती है वह जल जैसे अलग अलग छाँटा नहीं जा सकता, (५४) वैसे ही हे अर्जुन! जब चिदाकाश में प्राण वा अपान वायु से मन का लय किया जाता है तब अन्य वासनाओं के विचार आप ही आप बन्द हो जाते हैं। (५५) जिस पर इस संसार का चित्र प्रतिबिम्बित होता है वह मनोरूपी परदा फट जाता है, और जैसे सरोवर सूख जाने से सूर्य ही प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता (५६) वैसे ही उस समय जब मूल मन ही नहीं रहता तब अहंभाव इत्यादि कहाँ रह सकते हैं? अतएव इस प्रकार अनुभव लेनेवाला देहसहित ब्रह्म हो जाता है। (५७)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

पीछे हम कह चुके हैं कि जो देह-सहित ब्रह्मत्व को पहुँचे हैं वे इसी मार्ग से गये हैं; (५८) और यम, नियम, इत्यादि रूपी पर्वत को तथा अभ्यास के सागर को आक्रमण करके पार जा पहुँचे हैं। (५९). उन्होंने निज को उपाधि-रहित बनाकर प्रपञ्च का अनुभव किया है और फिर वे सचमुच शान्ति-स्वरूप ही हो रहे हैं। (१६०) इस प्रकार जब हृषीकेश ने योगमार्ग के अभिप्राय का वर्णन किया तब अर्जुन को, मार्मिक होने के कारण, सानन्द आश्चर्य हुआ। (६१) यह देख श्रीकृष्ण ने उसका भाव पहचाना और हँस कर पार्थ से कहा "क्या इन वचनों से तुम्हारा चित्त प्रसन्न हुआ है?" (६२) तब अर्जुन ने कहा कि हे पर-मनोगति के जाननेहारे! आपने मेरे मन का भाव ठीक पहचाना। (६३) मैं जो कुछ विचार कर पूछना चाहता हूँ वह आपने पहले ही जान लिया है। तो आपने जो कुछ कहा है उसी का विस्तार से वर्णन कीजिए। (६४) जैसे गहरे पानी की अपेक्षा पाँव-उतार सुगम रहता है, वैसे ही आपने जो मार्ग बताया (६५) सो संसार में हमारे जैसे निर्बल मनुष्यों के लिए साङ्ख्य योग की अपेक्षा सुलभ जान पड़ता है, परन्तु इस बात का स्वीकार

हम कुछ काल के अनन्तर करेंगे। (६६) अतएव हे देव! एक बार, पर्याय से इसी विषय का वर्णन कीजिए। विस्तार से हो तो भी कुछ हानि नहीं। साद्यन्त वर्णन कीजिए। (६७) तब श्रीकृष्ण बोले—हाँ, तुम्हें यह मार्ग भला मालूम होता है तो क्या अड़चन है, मैं कहता हूँ, आनन्द से सुनो। (६८) हे अर्जुन! तुम श्रवण करते हो और श्रवण किये हुए तत्त्व का आचरण करने के लिए उद्यत हो तो फिर हम उपदेश की क्यों कमी करें? (६९) श्रीकृष्ण का चित्त यों ही स्नेहयुक्त है, तिस पर भक्त का मिस हुआ है; फिर उस स्नेह की अद्भुतता का वर्णन कौन कर सकता है? (१७०) उसे कारुण्यरस की वृष्टि कहूँ किंवा नूतन प्रेम की सृष्टि कहूँ? किंबहुना, श्रीकृष्ण की उस कृपादृष्टि का मैं वर्णन ही नहीं कर सकता। (७१) क्योंकि वह दृष्टि मानों अमृत की ढली हुई थी, अथवा प्रेम ही पीकर मत्त हो गई थी। इसलिए अर्जुन के प्रेम में ऐसी फँस गई थी कि वहाँ से अलग होना भूल गई। (७२) इसका ज्यों ज्यों अधिक वर्णन करेंगे त्यों त्यों कथा का विषयान्तर होगा और तिस पर भी शब्दों से श्रीकृष्णजी और अर्जुन के प्रेम का ठीक ठीक वर्णन न हो सकेगा। (७३) इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो ईश्वर आप ही अपना माप नहीं कर सकता वह किसकी बुद्धि में आ सकता है? (७४) तथापि उपर्युक्त वचनों का अभिप्राय देखते, मुझे वह स्वभावतः प्रेमयुक्त मालूम हुआ; क्योंकि उसने आग्रह से कहा कि हे तात! सुनो। (७५) हे अर्जुन! जिस जिस प्रकार से तुम्हारे चित्त को ज्ञान होगा उसी उसी प्रकार से हम सविनोद निरूपण करेंगे। (७६) योग किस स्थिति का नाम है, उसका क्या उपयोग होता है, अथवा उसके लिए कौन अधिकारी हैं (७७) इत्यादि जो जो बातें इस मार्ग के विषय में कही हैं उन सबों का हम वर्णन करेंगे। (७८) तुम चित्त देकर सुनो। तदनन्तर श्रीहरि ने जो कुछ कहा वह कथा आगे कही है। (७९) निवृत्तिदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने द्वैत न छोड़ते अर्जुन से योग का निरूपण किया उस कथा का हम वर्णन करते हैं। (१८०)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः।

छठा अध्याय

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि फिर श्रीकृष्ण ने जो योगरूपी तत्त्व का निरूपण किया सो सुनो। (१) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सहज लीला से ब्रह्मरस का भोजन दिया उसी समय वहाँ हम भी पाहुने बनकर पहुँच गये। (२) इस भाग्य की महत्ता वर्णन नहीं की जाती। जैसे प्यासे को पानी दीजिए और वह उसका स्वाद लेकर देखे तो अमृत मालूम हो, (३) वैसे ही हमारा तुम्हारा हाल हुआ है। क्योंकि मुख्य तत्त्व हमारे हाथ लग गया है। तब धृतराष्ट्र ने कहा, हमने तुमसे यह बात नहीं पूछी। (४) इन वचनों से सञ्जय ने राजा का हृदय पहचान लिया कि उसे उस समय अपने पुत्रों की चिन्ता लग रही थी। (५) यह जान कर सञ्जय मन में हँसा और उसने कहा कि बूढ़ा मोह से पागल हो गया है; अभी तक जो संवाद हुआ वह बढ़िया हुआ, (६) परन्तु यह बात कैसे हो सकती है कि जन्मान्ध देख सके? तथापि यह जान कर कि धृतराष्ट्र को क्रोध होगा सञ्जय डरा। (७) परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का लाभ होने से वह आप ही अपने चित्त में अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। (८) अब वह उस आनन्द से तृप्त हो अन्तःकरण का अभिप्राय प्रकट कर जो प्रेम से बोलेगा (९) वही गीता में तत्त्वनिर्णयरूपी छठा अध्याय है। जैसे क्षीर समुद्र में अमृत हाथ लगा है, (१०) वैसे ही जो सब गीतार्थ का सार है, जो विवेकरूपी समुद्र का परतीर है, अथवा जो योगरूपी सम्पत्ति का घर है, (११) जो मूल प्रकृति का विश्रान्तिस्थान है, जहाँ वेदों का मौन हो जाता है, जहाँ से गीतारूपी बल्ली का अंकुर फूटता है, (१२) उस छठे अध्याय का वर्णन मैं अलङ्कारिक भाषा में करूँगा। उसे ध्यान देकर सुनिए। (१३) मेरे बोल यद्यपि अज्ञानी (प्राकृत) के हैं परन्तु मैं ऐसे मधुर शब्दों का प्रयोग करूँगा कि वे अमृत का भी शर्तिया पराभव करेंगे। (१४) उनकी मृदुता की तुलना से सप्त स्वरों के प्रकार भी हीन दिखाई देंगे। उनमें रत रहने से सुगन्ध भी तुच्छ हो जावेगी। (१५) उनकी सुरसता के लोभ से कानों को भी जीभें उत्पन्न होंगी तथा इन्द्रियों में आपस में कलह उत्पन्न होगी। (१६) यों तो शब्द श्रवण का विषय है परन्तु रसना कहेगी कि यह रस हमारा है। घ्राणेन्द्रिय को गन्ध विषय का भाव ज्ञात होता है, इसलिए यह भाषा सुगन्ध बन

जावेगी। (१७) इस नवल भाषा-पद्धति को देखते ही नेत्रों को तृप्ति प्राप्त होगी। वे समझेंगे कि रूपविषय की खानि ही है। (१८) जहाँ सम्पूर्ण पद समाप्त होगा वहाँ मन दौड़ कर बाहर आवेगा और उसे आलिङ्गन देने के लिए बाँहें फैलावेगा। (१९) इस प्रकार इन्द्रियगण अपने अपने भाव के अनुसार इसे जानने की चेष्टा करेंगे परन्तु जैसे सूर्य सब जगत् को समान ही चेतना देता है वैसे ही यह भाषा की वाणी सबको समान ही बोध करेगी। (२०) उसी प्रकार इस भाषा की व्यापकता भी असाधारण है। देखनेवालों को और अर्थ जाननेवालों को उसमें चिन्तामणि के गुण दिखाई देते हैं। (२१) और क्या कहूँ, इस प्रकार भाषा की थालियाँ बनी हैं और उनमें ब्रह्मरस परोसा गया है। निष्काम लोगों के लिए मैंने यह कलेवा तैयार किया है। (२२) जो नित्य नूतन रहनेवाले आत्मज्योतिरूप दीपक के प्रकाश में इन्द्रियों के बिन जाने इस कलेवा का भोग लेगा उसी को इसका लाभ होगा। (२३) यहाँ श्रोताओं को श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध से विरहित होना चाहिए। इसे मानसिक शरीर से भोगना चाहिए। (२४) इस भाषा का ऊपरी आच्छादन निकाल दिया जाय तो इससे ब्रह्मस्वरूप ही प्रकट होगा और अनायास सुख में ही सुख का भोग प्राप्त होगा। (२५) यदि उप-युक्त मृदुता का लाभ हो, तो इस वाणी का उपयोग होगा; नहीं तो सब गूँगे-बहिरे की कथा हो जावेगी। (२६) परन्तु अब यह सब रहने दो; श्रोताओं को सावधान करने की कुछ आवश्यकता नहीं। क्योंकि वे सब कामना-रहित हैं, तथा स्वभावत: अधिकारी हैं। (२७) उन्होंने आत्मज्ञान की रुचि के हेतु स्वर्ग और संसार को निछावर कर डाला है। उनके सिवाय और कोई इस भाषा का माधुर्य नहीं जान सकता। (२८) जैसे कौवे चन्द्रमा को नहीं पहचानते वैसे ही सामान्य जन इस ग्रन्थ की महिमा नहीं जान सकते। और जैसे चन्द्रमा ही चकोर का खाद्य है (२९) वैसे ही यह ग्रन्थ ज्ञानियों का आश्रय है और अज्ञानियों के लिए पराया स्थल है। इसलिए विशेष कहने की तो कुछ आवश्यकता नहीं है (३०) तथापि प्रसङ्गानुसार मैंने जो कुछ कहा है उसके लिए सज्जनों को मुझे क्षमा करना चाहिए। अब श्रीकृष्ण ने जो निरूपण किया सो कहता हूँ। (३१) बुद्धि से उस निरूपण का आकलन होना कठिन है, अतएव वह शब्दों द्वारा कठिनता से प्रकट हो सकता है। परन्तु वह मुझे श्रीनिवृत्ति के कृपारूप दीपक के प्रकाश से दिखाई दे सकेगा। (३२) यदि

इन्द्रियातीत ज्ञान के बल का लाभ हो तो जो वस्तु दृष्टि को प्राप्त नहीं है वह दृष्टि के बिना ही दिखाई दे सकती है; (३३) अथवा यदि दैवयोग से पारस हाथ लग जाय तो कीमिया बनानेवाले को भी न जुरनेहारा सुवर्ण लोहे से ही प्राप्त हो सकता है, (३४) उसी तरह यदि सद्गुरु की कृपा हो तो प्रयत्न करने से क्या प्राप्त नहीं होता? एवं ज्ञानदेव कहते हैं कि वह कृपा मुझ पर अपार है, (३५) इसलिए मैं निरूपण करता हूँ! मैं शब्दों से अरूप ब्रह्म का रूप प्रकट करूँगा और वह इन्द्रियों के परे है सही तथापि इन्द्रियों से उसका भोग करा दूँगा। (३६) सुनिए; तदनन्तर यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूपी छः श्रेष्ठ गुण जिसमें बसते हैं (३७) और इसलिए जो भगवान् कहाता है, वह निःसङ्गों का सँगाती पार्थ से बोला कि अब मेरी ओर चित्त दो। (३८)

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें जुदे मत मानो। साधारणतः विचार करने से वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। (३९) दूसरा नाम केवल आरोप है, उसे छोड़ दो तो जो योग है वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखते दोनों में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। (१४०) एक ही मनुष्य को जैसे जुदे जुदे नामों से पुकारते हैं अथवा जैसे एक ही जगह जाने के लिए जुदे जुदे मार्ग रहते हैं, (४१) अथवा जैसे पानी स्वभावतः एक है परन्तु जुदे जुदे घड़ों में भरा हुआ रहता है वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो। (४२) हे अर्जुन! संसार में सबकी यही सम्मति है कि योगी उसी को समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता। (४३) जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है परन्तु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती (४४) वैसे ही सर्वत्र जो आत्मा व्याप्त है उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो (४५) वही उचित जान जो करता है, परन्तु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता, एवं जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुँचती (४६) वही संन्यासी है। हे पार्थ! सुनो, वास्तव में वही योगीश्वर है। (४७) अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बद्धक समझ कर छोड़ देता है और तत्काल

दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है (४८) वह, जैसे एक लेप पोंछकर तुरन्त ही दूसरा लगाया जाय ऐसे, आग्रह के अधीन हो वृथा विडम्बना में पड़ता है। (४९) पहले से जो स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है वही बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है। (५०) अतएव श्रौत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लङ्घन न हो तो निज में ही सहज योगसुख प्राप्त होता है। (५१)

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

सुनो, "जो संन्यासी है वही योगी है," इस एकवाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है। (५२) उन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहाँ त्याग किये हुए सङ्कल्प का लोप होता है वहीं योग-साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है। (५३)

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

अब हे पार्थ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचना हो तो यह कर्ममार्गरूपी जीना मत छोड़ो। (५४) इस मार्ग के द्वारा यमनियमरूपी आधार भूमि पर से आसनरूपी पगडण्डी पकड़ कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो। (५५) फिर प्रत्याहाररूपी मध्यभाग है, जहाँ बुद्धि के भी पैर फिसलते हैं और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं, (५६) तथापि अभ्यास के बल से उस प्रत्याहार के निरालम्ब आकाश में भी धीरे धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जावेगा। (५७) इस प्रकार वायुरूपी घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो जब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ। (५८) तब फिर इस मार्ग से चलना बन्द हो जावेगा। प्रवृत्ति की इच्छा भी बन्द हो जावेगी। ब्रह्मानन्द की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जावेंगे। (५९) आगे चलना बन्द हो जावेगा और पिछला स्मरण भी रुक जावेगा। ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जावेगी। (६०) इस उपाय से योगारूढ़ हो जो अत्यन्त प्रवुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निर्णय करते हैं, सुनो। (६१)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जिसके इन्द्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं है, जो आत्मज्ञान की कोठरी में सोता है, (६२) सुख-दुःखरूपी शरीर से सङ्घटित होते भी जिसका मन जागृत नहीं होता, जो पास आये हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता, (६३) इन्द्रियगण कर्म में प्रवृत्त हों तथापि जो फल के हेतु की अन्तःकरण में कभी इच्छा नहीं करता, (६४) इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जागृत में भी निद्रित दिखाई देता है उसी को भली भाँति योगारूढ़ हुआ समझो । (६५) तब अर्जुन ने कहा, हे अनन्त ! यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य होता है । अतएव कहिए, उस योगी को इस प्रकार की योग्यता कौन देता है ? (६६)

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

तब श्रीकृष्ण ने हँसकर कहा कि क्या तुम्हारा यह प्रश्न आश्चर्यकारक नहीं है ? इस अद्वैत में कौन किसे क्या दे सकता है ? (६७) भ्रमरूप शय्या पर दृढ़ अज्ञानरूपी निद्रा आती है तब यह जन्ममृत्युरूपी दुःस्वप्न का भोग प्राप्त होता है । (६८) अनन्तर जब अकस्मात् चेत आता है तब वे सब बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं । इस प्रकार जो सद्भाव उत्पन्न होता है वह भी निज में ही उत्पन्न होता है । (६९) हे धनञ्जय ! फल यह हुआ कि हम मिथ्या देहाभिमान पर चित्त देकर आप ही अपना घात करते हैं । (७०)

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्ततात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

विचार कर इस अहङ्कार का त्याग किया जाय, और जो नित्य बना है वह ब्रह्मरूप प्राप्त किया जाय, तो हम आप ही अपना कल्याण सहज में कर लेंगे । (७१) नहीं तो जो इस सुशोभित शरीर को ही आत्मा समझता है वह कोसे के कीड़े के समान आप ही अपना वैरी है । (७२) लाभ के समय दुर्दैवी मनुष्य को कैसी अन्धत्व की इच्छा होती है जो वह आप ही अपनी खुली हुई आँखें मूँद लेता है । (७३) अथवा जैसे कोई भ्रम के कारण समझ ले कि मैं नहीं हूँ, मैं खो गया, और अन्तःकरण में ऐसा

मिथ्या हठ किये रहे, (७४) तो यथार्थ में वह जो है सो ही है, तथापि क्या किया जाय, उसकी बुद्धि वैसी नहीं होती। देखो, स्वप्न में लगे हुए घाव से क्या कोई सचमुच मरता है? (७५) तोते के शरीर के भार से उसे पकड़ने के लिए रक्खी हुई नली उलटी फिरती है, तब वह चाहे तो उड़ जाय, परन्तु उसके मन का सन्देह नहीं जाता। (७६) वह वृथा गर्दन ऐंठता है, छाती संकुचित कर नली को दबाता है, और उसे अपने पाँव के पञ्जे से दृढ़ खींचे रहता है। (७७) वह समझता, है कि मैं निःसदेह बाँधा गया हूँ। ऐसी भावना के खड्ड में पड़ते ही वह खुले हुए पाँव के पञ्जे को और भी अधिक फँसाता है। (७८) इस प्रकार जो निष्कारण फँसता है उसे क्या कोई दूसरा बाँधता है? परन्तु चाहे उसे आधा काट डालो तो भी वह नली नहीं छोड़ता। (७९) अतएव, श्रीकृष्ण ने कहा कि वह आप ही अपना वैरी है जिसने अपना सङ्कल्प बढ़ा रक्खा है तथा जो मिथ्या वस्तु के वश नहीं होता वही आत्मज्ञानी है। (८०)

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

अन्तःकरण को जीतनेहारे तथा सकल कासना के शमन करनेहारे उससे परमात्मा कुछ जुदी और दूरस्थ वस्तु नहीं है। (८१) जैसे सोने का मैल निकल जाय तो वह खरा सोना बना ही हुआ है, वैसे ही सङ्कल्प का नाश होते ही जीव को ब्रह्मत्व ही प्राप्त है। (८२) जैसे घटाकाश का नाश हो तो उसे आकाश में मिल जाने के लिए किसी दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता (८३) वैसे ही जिसका मिथ्या देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है वह पहले से ही सब जगह भरा हुआ परमात्मरूप ही है। (८४) उसमें शीत और उष्ण के प्रवाह, सुख-दुःख के विचार, मान-अपमान के शब्द, इत्यादि बातों का समावेश नहीं होता। (८५) क्योंकि जैसे जिस मार्ग से सूर्य जाता है वह विश्वप्रदेश तेजरूप हो जाता है, वैसे ही वह जो वस्तु प्राप्त करता है तद्रूप ही हो जाता है। (८६) देखो, मेघों से निकली हुई वर्षा की धाराएँ जैसी समुद्र में गड़ी हुई जुदी नहीं रहतीं, वैसे ही योगीश्वर शुभाशुभ कर्म जुदे नहीं समझता। (८७)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

यह जो संसार-ज्ञानात्मक भाव है उसका विचार करते ही वह उसे मिथ्या जान पड़ता है; और ज्योंही विचार करता है त्योंही वह स्वयं ज्ञान-रूप हो जाता है। (८८) फिर यह तर्क करना कि मैं व्यापक हूँ कि अव्यापक, द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप बन्द हो जाता है। (८९) इस प्रकार जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है उसे, यद्यपि वह देहधारी हो तथापि, योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझना चाहिए। (९०) जितेन्द्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी ऐसा भेद नहीं करता कि यह छोटा और यह बड़ा है; (९१) जो मेरु पर्वत जैसा विशाल सोने का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों को समान ही समझता है; (९२) और जो इतना निरिच्छ है कि ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को, कि जिसके आगे पृथ्वी का मोल भी थोड़ा है, पत्थर के समान समझता है। (९३)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र इत्यादि विचित्र और भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है? (९४) उसे कौन कहाँ का मित्र है और कौन द्वेषी है? जिसे ज्ञान हो गया है कि मैं ही विश्व हूँ (९५) उसकी दृष्टि में, हे किरीटी! क्या अधमोत्तम भेद रह सकता है? क्या पारस की कसौटी से सुवर्ण के उत्तम मध्यम भेद हो सकते हैं? (९६) वह कसौटी जैसे शुद्ध सुवर्ण ही को उत्पन्न करती है वैसे उस योगी की बुद्धि को चराचर में निरन्तर एकता ही प्रकट होती है। (९७) यद्यपि ये बिखरे हुए विश्वरूपी अलङ्कार अलग अलग प्रकार के हैं तथापि वे एक ही परब्रह्मरूपी सुवर्ण के बने हैं—(९८) ऐसा जो उत्तम ज्ञान है वह सब उस पुरुष को प्राप्त हो गया है। इसलिए वह बाह्य चित्र-विचित्र रचना में नहीं फँसता। (९९) यदि पट की ओर दृष्टि दी जाय तो जैसे सम्पूर्ण तन्तु की सृष्टि दिखाई देती है वैसे ही उसके पास एकता के सिवाय दूसरी वार्ता ही नहीं रहती। (१००) जिसे ऐसी प्रतीति प्राप्त होती है, जिसे ऐसा अनुभव होता है वही समबुद्धि है। यह बात मिथ्या मत जानो। (१) जिसका नाम तीर्थराज के तुल्य है, जिसके दर्शन से शान्ति उत्पन्न होती है, जिसके सङ्ग से भ्रान्त लोगों को भी ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है, (२) जिसके वचन धर्म का जीवन हैं, जिसकी दृष्टि से महासिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं तथा स्वर्ग इत्यादि सुख जिसके खेल हैं, (३) उसका यदि

अकस्मात् भी चित्त में स्मरण हो तो वह स्मरण करनेहारे को अपनी योग्यता प्राप्त करा देता है। बहुत क्या कहें, उसकी स्तुति करना लाभदायक है। (४)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

जिसे ऐसे अद्वैतरूपी दिन का उदय हुआ है कि जो पुनः कभी अस्त नहीं होता, और जो निरन्तर अपने आप में निमग्न रहता है, (५) हे पार्थ! जो इस प्रकार विवेकी है वही अद्वितीय है, क्योंकि तीनों लोकों में वही है जो परिवार-रहित है। (६) श्रीकृष्ण ने, जहाँ तक उनसे हो सका वहाँ तक, सिद्धों के इस प्रकार असाधारण लक्षण वर्णन किये (७) और कहा कि जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो देखनेवालों की दृष्टि का प्रकाशक है, जिस प्रभु के सङ्कल्प से विश्व की रचना होती है, (८) ओंकाररूपी हाट में जो शब्दब्रह्मरूपी वस्त्र मिलता है वह भी जिसकी कीर्ति के सामने अल्प होता हुआ उसका आच्छादन करने के लिए बस नहीं होता, (९) जिसके शरीर के तेज से सूर्य और चन्द्र के व्यापार की महिमा है, (तो फिर उसके बिना इस जगत् के प्रकाशित होने की वार्ता ही क्या है?) (११०) अजी जिसके केवल नाम के सामने गगन भी अल्प दिखाई देता है, उसका एक एक गुण तुम कहाँ तक जान सकोगे? (११) अतएव यह स्तुति रहने दो। हम नहीं कह सकते कि इस स्तुति के मिस से हमने किसके लक्षणों का वर्णन किया अथवा यह वर्णन ही क्यों किया। (१२) सुनो, द्वैत का जो निशान मिटा देती है वह ब्रह्मविद्या यदि व्यक्त कर दी जाय तो हे अर्जुन! प्रेम का माधुर्य्य चला जावेगा। (१३) इसी लिए हमने वैसा वर्णन नहीं किया। हमने प्रेम का भोग लेने के लिए एक पतले से परदे की आड़ रख कर मन को अलग-सा कर दिया। (१४) जो सोहंभाव में अटके हुए हैं, जो मोक्ष-सुख के लिए दीन हो रहे हैं उनकी दृष्टि का कलङ्क अपने जैसे भक्त के प्रेम को न लगने दो। (१५) कदाचित् भक्त का अहंभाव चला जाय और वह मद्रूप हो जाय तो फिर मैं अकेला क्या करूँगा? (१६) फिर ऐसा कौन रहेगा कि जिसे देखकर हमारी दृष्टि जुड़ावे, अथवा जिससे हम मनमाना वार्तालाप कर सकें, अथवा जिसे दृढ़ आलिङ्गन दे सकें? (१७) यदि हमारा ऐक्य हो जाय तो अपने हृदय की उत्तम और मन में न समानेवाली बातें हम किनसे कहेंगे? (१८) इस प्रकार ... की दीनता के वश हो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करने के

बहाने अपने ही मन से मन को आलिङ्गन देने की चेष्टा की। (१९) यह बात सुनने में औघट जान पड़ती है परन्तु पार्थ को स्पष्ट श्रीकृष्ण-सुख की ढली हुई मूर्त्ति ही समझो। (१२०) और तो क्या, जैसे बाँझ स्त्री को वृद्धापकाल में एक ही पुत्र होता है और फिर उस में जैसी मोह की प्रपञ्च-रचना प्रकट होने लगती है (२१) वैसा ही हाल श्रीकृष्ण का हुआ। यह बात मैं न कहता यदि मैं उनके प्रेम की अधिकता न देखता। (२२) देखो प्रेम कैसी आश्चर्यकारक वस्तु है! कहाँ उपदेश और कहाँ युद्ध, परन्तु बीच में प्रेमियों का प्रेम ही प्रकट हो रहा है। (२३) प्रेम और लजावे नहीं, व्यसन और थकावे नहीं, भ्रम और भुलावे नहीं, तो फिर बात ही क्या रही? (२४) भावार्थ यह है कि अर्जुन मैत्री का आश्रयस्थान है, अथवा मानों सुख-शृंगार किये हुए मन का दर्पण है। (२५) इस प्रकार वह अत्यन्त पुण्य और पवित्र है, तथा संसार में भक्तिरूपी बीज बोने के लिए मानों एक उत्तम खेत है। इसी लिए वह श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र हुआ है। (२६) अथवा आत्म-निवेदन के पूर्व जो सख्य नामक एक भूमिका है अर्जुन उसकी आश्रय-भूत देवी है। (२७) वह श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्यारा है कि उसके पास खड़े हुए स्वयं श्रीकृष्ण की स्तुति चाहे न की जाय पर सेवक की स्तुति अवश्य करनी चाहिए। (२८) देखो, जो प्रेम से पति की सेवा करती है और पति जिसका आदर करता है वह पतिव्रता, पति की अपेक्षा, क्या अधिक नहीं बखानी जाती? (२९) वैसे ही मेरे हृदय में अर्जुन की विशेष स्तुति करना ही भाता है। क्योंकि वही एक त्रिभुवन के भाग्य का अधिष्ठान हो रहा है। (१३०) उसके प्रेम के वश से निराकार परमात्मा ने भी साकारता स्वीकारी है और स्वयं पूर्ण होते भी उसे उसकी उत्कण्ठा लग रही है। (३१) तब श्रोताओं ने कहा—"अहो भाग्य है! कैसी सुन्दर वाणी है! मानों नाद-ब्रह्म को तथा सौन्दर्य्य को जीतकर आई हो! (३२) अजी आश्चर्य नहीं, भाषा हो तो ऐसी ही हो। मानों आकाश में अलङ्काररूपी नाना प्रकार के रङ्ग उठ रहे हैं। (३३) कैसी स्वच्छ ज्ञानरूपी चाँदनी चमकी है, और भावार्थ-रूपी शीतलता छा रही है, तथा श्लोकार्थरूपी कमलिनी सहज विकसित हो रही है! (३४) इससे मनोरथों की ऐसी बाढ़ हुई है कि निष्काम लोगों को भी कामना उत्पन्न होगी।" इस प्रकार श्रोतागण अन्तःकरण में आनन्दित हो डोलने लगे। (३५) यह देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर

ने कहा—"ध्यान दीजिए। पाण्डवकुल में कृष्णरूपी एक अनोखे सूर्य का प्रकाश हो रहा है। (३६) उसे देवकी ने गर्भ में धारण किया, यशोदा ने कष्ट कर पालन किया, परन्तु निदान में वह पाण्डवों का उपयोगी हुआ। (३७) इसलिए कई दिनों तक सेवा करने का और फिर अवसर से विनती करने का कष्ट उस भाग्यवान् अर्जुन को नहीं पड़ा। (३८) परन्तु यह बात रहने दो। अब शीघ्र कथा-निरूपण करता हूँ।" अर्जुन ने प्रेम से कहा कि हे देव! आपके वर्णन किये हुए सन्तों के लक्षण मुझमें नहीं हैं। (३९) यों तो इन लक्षणों के तात्पर्य के माप से मैं निश्चय से अल्प हूँ, तथापि सुनिए, मैं आपके वचनों से श्रेष्ठता पा सकता हूँ। (१४०) यदि आप मन में लावें तो मैं ब्रह्म हो सकता हूँ। कुछ भी हो, आप जो कहें सो अभ्यास कर सकता हूँ। (४१) आपने न जाने किसका वर्णन किया परन्तु उसे सुनकर मेरे अन्तः-करण में उसकी श्लाघा उत्पन्न होती है, तो फिर वैसी योग्यता प्राप्त होने से कितना आनन्द होगा? (४२) क्या मैं ऐसा बन सकूँगा? हे गोस्वामी! क्या आप अपनी ओर से इतनी कृपा करेंगे? तब श्रीकृष्ण ने हँस कर कहा—"हाँ हाँ, करेंगे"। (४३) देखो, जब तक एक सन्तोष प्राप्त नहीं होता तभी तक सुखप्राप्ति के विषय में बहु-तेरी कठिनता मालूम होती है। परन्तु सन्तोष प्राप्त होते ही क्या कभी सुख की न्यूनता रहती है? (४४) वैसे ही अर्जुन सर्वेश्वर जैसे समर्थ धनी का सेवक था इसलिए वह सहज ही ब्रह्म हो गया। वह कैसा भाग्यरूपी पकी हुई फ़सल के बोझ से झुक रहा है। (४५) जिसकी भेंट इन्द्रादि देवताओं को भी सहस्रावधि जन्मों में होना दुर्लभ है वह इस अर्जुन के इतना अधीन हो गया है कि उसका एक शब्द भी विफल नहीं होने देता! (४६) अर्जुन ने जो ब्रह्म होने की इच्छा प्रकट की वह श्रीकृष्ण ने सुन ली। (४७) उन्होंने सोचा कि उसे ब्रह्मत्व के दोहद हो रहे हैं जिससे यह जाना जाता है कि इसकी बुद्धि के पेट में वैराग्य का गर्भ है। (४८) यों तो, इसके दिन पूरे नहीं हुए हैं, तथापि यह अर्जुन-वृक्ष वैराग्य-वसन्त की बहार के कारण सोहं-भावरूपी बौर से झुक रहा है; (४९) एवं श्रीकृष्ण को यह निश्चय हुआ कि अर्जुन ऐसा विरक्त हो गया है कि उसे मोक्ष-प्राप्तिरूपी फल पाने में विलम्ब न लगेगा। (१५०) वे जान गये कि जो जो तत्त्व यह ग्रहण करेगा सो आरम्भ करते ही इसे फलद्रूप होगा। इसलिए इसे जो

अभ्यास वताया जाय वह वृथा न जावेगा। (५१) यह समझ कर उस समय श्रीहरि ने अर्जुन से कहा कि अब हम तुम्हें सब योगों में श्रेष्ठ योग वताते हैं, सो सुनो। (५२) उस मार्ग में संसाररूपी वृक्ष के नीचे करोड़ों मोक्ष-फल बिछे हैं। उस मार्ग से श्रीशङ्कर अभी तक यात्रा कर रहे हैं। (५३) प्रथम योगीजन चिदाकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही गये थे। परन्तु वहाँ उनके अनुभवरूपी पाँव के चिह्न बन जाने से एक रास्ता बन गया। (५४) इसलिए उनके अनुगामी, और सब अज्ञानरूपी मार्गों को छोड़कर, इसी आत्मज्ञानरूपी सीधे मार्ग से दौड़ते चले। (५५) इसी मार्ग से साधक सिद्ध हो गये तथा तत्वज्ञानी श्रेष्ठ हो गये। यह मार्ग देखो तो भूख-प्यास भूल जाती है तथा रात और दिन नहीं जान पड़ते। (५६-५७) चलते समय जहाँ पाँव पड़ जाय वहीं मोक्ष की खानि प्रकट हुई दिखाई देती है, तथा टेढ़े-मेढ़े जाने से भी स्वर्गसुख प्राप्त होता है। (५८) पूर्व दिशा की ओर मुँह करके निकलिए तो शान्तता से पश्चिम के घर पहुँच जाते हैं। हे धनुर्धर! इस मार्ग का चलना ऐसा ही है। (५९) इस मार्ग से जिस गाँव को जाइए वह गाँव आप ही बन जाते हैं। यह मैं क्या वर्णन करूँ, तुम्हें सहज ही मालूम हो जावेगा। (१६०) तब पार्थ ने पूछा कि हे देव! तो फिर कब मालूम हो जावेगा? इस उत्कण्ठारूपी समुद्र में डूबे हुए मुझको आप बाहर क्यों नहीं निकालते? (६१) तब श्रीकृष्ण ने कहा, ऐसे अधीर वचन क्यों बोलते हो? हम स्वयं कहनेवाले ही थे कि इतने में तुमने प्रश्न किया। (६२)

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

तो अब हम विशेष रीति से निरूपण करते हैं। परन्तु उसका उपयोग अनुभव से ही होगा। प्रथम ऐसा एक स्थान ढूँढ़ना चाहिए (६३) कि जहाँ समाधान की इच्छा से बैठते ही उठने की इच्छा न हो जिसे देखते ही वैराग्य की दुगनी बाढ़ हो; (६४) जिसे सन्तों ने बसाया हो, जो सन्तोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का प्रोत्साहन देता हो; (६५) जहाँ रमणीयता निरन्तर ऐसी बढ़ी हुई हो कि अभ्यास ही स्वयंसाधक के वश हो जाय तथा अनुभव आप ही आप हृदय में आ बसे; (६६) जिसके समीप से निकलते ही हो

पार्थ! नास्तिकों को भी श्रद्धा उत्पन्न होकर तपश्चर्या की इच्छा हो; (६७) जहाँ यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते चलते अकस्मात् पहुँच जाय तो उसे फिर लौटने का स्मरण न हो। (६८) इस प्रकार, ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए कि जो न रहनेहारे को रख ले, भ्रमण करनेहारे को बैठा दे तथा वैराग्य को थपट कर जागृत करे; (६९) जिसे देखते ही शृङ्गारियों को ऐसा मालूम हो कि बड़ा राज भी त्याग दें और वहीं शान्तता से बैठे रहें; (१७०) जो उत्तम तथा निर्मल हो, एवं जहाँ ब्रह्मस्वरूप आँखों से प्रकट दिखाई देता हो। (७१) एक बात और देखनी चाहिए। वह स्थान साधकों से बसा हो परन्तु और लोगों के पाँवों की धूलि से मलिन न हुआ हो। (७२) वहाँ अमृत के समान जड़ से मीठे और सदा फलनेहारे वृक्ष सघन हों। (७३) डग डग पर पानी हो, जो वर्षा-काल को छोड़ सदा निर्मल रहे। निर्भर भी बहुत सुभीते के हों। (७४) घाम थोड़ा ही तपता हो तथा शीतल पवन अत्यन्त निश्चल और मन्द मन्द बहती हो। (७५) प्रायः कहीं शब्द न होता हो, और वन ऐसा सघन हो कि श्वापदों का प्रवेश न हो सके। तोते या भ्रमर भी वहाँ न हों। (७६) पानी के समीप रहनेहारे हंस हों, दो-चार सारस हों, किसी समय कोयल भी आ बैठे, (७७) निरन्तर नहीं तथापि कुछ मोर भी आते जाते रहें तो हम ना नहीं कहते। (७८) परन्तु ऐसा स्थान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। वहाँ कोई गुप्त मठ हो अथवा शिवालय हो। (७९) इन दोनों में से कोई एक—जिससे चित्त प्रसन्न हो—होना चाहिए और वहाँ प्रायः एकान्त में बैठना चाहिए। (१८०) मतलब यह है कि ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए और यह परीक्षा करनी चाहिए कि वहाँ मन स्थिर होता है या नहीं। यदि होता हो तो वहाँ इस प्रकार आसन लगाना चाहिए (८१) कि ऊपर सुन्दर मृगचर्म हो, बीच में धुले हुए वस्त्र की तह हो और नीचे अग्र-सहित अत्यन्त कोमल कुश ऐसी व्यवस्थित रीति से बिछाये गये हों (८२) कि वे सहज ही समान मिले हुए और एक से रह सकें। (८३) कदाचित् आसन ऊँचा हो जाय तो शरीर हिल जावेगा और नीचा हो जाय तो भूमि के सम्बन्ध का दोष प्राप्त होगा (८४) इसलिए ऐसा न होना चाहिए। आसन को समान रखना चाहिए। बहुत क्या कहें, आसन उपर्युक्त वर्णन के अनुसार होना चाहिए। (८५)

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

फिर योगी को वहाँ एकाग्र अन्तःकरण कर सद्गुरु का स्मरण-रूपी अनुभव लेना चाहिए। (८६) प्रेम से स्मरण करते ही सबाह्य अन्तःकरण सात्विक भावों से भर जाय, अहंभावरूपी जड़ता चली जाय, (८७) विषयों की विस्मृति हो जाय, हृदय में मनरूपी वस्त्र की तह बन जाय, (८८) ऐसी एकता जब तक सहज ही प्राप्त न हो जाय तब तक स्मरण करते रहना चाहिए। इस प्रकार के अनुभवसहित आसन पर बैठना चाहिए। (९९) उस समय ऐसी प्रतीति होने लगती है कि शरीर ही शरीर को सँभालता है, तथा प्राण ही प्राण को सँभालता है, (१९०) प्रवृत्ति पीछे फिरती है। समाधि इस पार ही रह जाती है। आसन पर बैठते ही सब अभ्यास सुकर हो जाते हैं। (९१) आसन की ऐसी महिमा है। अब हम आसन की विधि का वर्णन करते हैं, सुनो। जङ्घा को पिंडुली से मिला दो। (९२) पाँव के तलुए एक पर एक ड्योढ़ा कर गुदस्थान के मूल में स्थिर रख ज़ोर से दबाओ। (९३) दहना पाँव नीचे रक्खो और वृषण से गुदस्थान तक जो रेखा है उसे उससे दबाओ। इस वृति में बायाँ पाँव आप ही ऊपर रहेगा। (९४) गुदा और शिश्न के बीच जो केवल चार अंगुल जगह है उसमें से दोनों ओर डेढ़ डेढ़ अंगुल छोड़ कर (९५) बीच में जो एक अंगुल रह जाती है वहाँ एड़ी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर तोल धरो। (९६) पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया न उठाया मालूम न हो तथा दोनों घुटनों का भी तौल सँभालो (९७) तब हे पार्थ! सम्पूर्ण शरीर का ढाँचा एड़ी के माथे पर स्थिर हो रहेगा। (९८) हे अर्जुन! यह मूलबन्ध का लक्षण है। इसे गौण वज्रासन कहते हैं। (९९) इस प्रकार जब मूलाधार का बन्ध सिद्ध होता है और अपान वायु का अधोमार्ग बन्द हो जाता है तब वह वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है। (२००)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

हाथ द्रोणाकार किये हुए सहज ही बायें पाँव पर रहते हैं और बाहु-

मूल फूले हुए दिखाई देते हैं। (१) बीच में शरीरदण्ड स्थिर रहने के कारण शिरकमल भीतर घुसा हुआ मालूम होता है तथा नेत्रद्वार के किवाड़रूपी पलक बन्द होते से दिखते हैं। (२) ऊपर की बिन्नियाँ नहीं हिलतीं तथा नीचे की नीचे स्थिर बनी रहती हैं जिससे नेत्रों की अर्धोन्मीलित स्थिति हो जाती है। (३) दृष्टि भीतर की ओर रहते हुए कुतूहल से बाहर पग डालता है, और नासाग्र तक आई हुई दिखाई देती है; (४) तथा भीतर की दृष्टि भीतर ही रहकर बाहर नहीं निकलती इसलिए उस अर्द्धदृष्टि का निवास नासाग्र पर स्थिर हो रहता है। (५) तब दिशाओं की भेंट लेना अथवा रूप देखने की बाट जोहना इत्यादि इच्छाएँ आप ही आप बन्द हो जाती हैं। (६) कण्ठ सूखने लगता है। ठोढ़ी कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है और हृदय को ज़ोर से दबाती है, (७) और बीच में कण्ठमणि अदृश्य हो जाती है। इस प्रकार जो बन्ध बनता है उसे जालन्धर कहते हैं। (८) नाभि ऊपर उठ आती है, पेट भीतर घुस जाता है और हृदय में हृदयकमल विकसता है। (९) इस प्रकार नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बन्ध बनता है उसे उड्डियान कहते हैं। (२१०) शरीर के बाहरी अङ्ग से जब इस प्रकार अभ्यास किया जाता है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

तब भीतर मनोधर्म का ठाँव मिट जाता है, (११) कल्पना बन्द हो जाती है, प्रवृत्ति शान्त हो जाती है और शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं। (१२) क्षुधा क्या हुई, निद्रा कहाँ गई इत्यादि का विस्मरण हो जाता है और पुनः शीघ्र स्मरण नहीं होता। (१३) जो अपान वायु मूलबन्ध के द्वारा बन्द कर दी जाती है वह पीछे पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है, (१४) सन्ताप से मत्त हो जाती है, मनमानी जगह गरजती है, और ठहर ठहर कर मणिपूर (नाभिकमल के तृतीय चक्र) से झगड़ने लगती है। (१५) अनन्तर यह तूफ़ान शान्त होते ही वह सब पेट खोज डालती है और लड़कपन का सड़ा हुआ कीच बाहर निकाल फेंकती है। (१६) वह केवल भीतर ही घिरी हुई नहीं रहती वरन् कोठे में भी सञ्चार करती है, तथा कफ और पित्त का ठाँव नहीं रहने देती। (१७) धातु

के समुद्रों को उलट देती है। मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है और भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है। (१८) नाड़ियाँ छुड़ा देती है। अवयवों को ढीला कर देती है। इस प्रकार वह अपानवायु साधकों को डराती है परन्तु इससे डरना नहीं चाहिए। (१९) वह व्याधि प्रकट करती है, परन्तु साथ ही उसका नाश करती है। वह जलतत्व और पृथ्वीतत्व एक में सानती है। (२२०) इतने में, हे धनुर्धर ! दूसरी ओर आसन की उष्णता कुण्डलिनी नामक शक्ति को जागृत करती है। (२१) जैसे कोई नागिन का सँपोला कुंकुम में नहाया हो और गिण्डी मार कर सो रहा हो, वैसी वह छोटी सी कुण्डलिनी साढ़े तीन गिण्डी मारकर नीचे मुँह किये हुए सर्पिनी सी सोई रहती है। (२३) विद्युत् का बना हुआ कङ्कण अथवा अग्नि की ज्वालाओं की घरी अथवा घोटे हुए सोने के पाँसे (२४) की सी उत्तम बँधी हुई और कसी हुई जो कुण्डलिनी छोटे से संकुचित स्थान में दबी हुई रहती है सो वज्रासन के दबाव से जाग जाती है। (२५) मानों कोई नक्षत्र उलट पड़ा हो, अथवा सूर्य का आसन छूट गया हो, अथवा चहुँ ओर तेज के बीज में से अंकुर फूटे हों, (२६) वैसी वह शक्ति, गिण्डी को छोड़ कौतुक से अँगड़ाई लेती उठी हुई, नाभिस्थान पर दिखाई देती है। (२७) पहले ही उसे बहुत दिनों की भूख लगी रहती है तिस पर जगाने का मिस हो जाता है। इसलिए वह आवेश से ठीक ऊपर की ओर मुँह फाड़ती है। (२८) हे किरीटी ! हृदयकमल के नीचे जो पवन भरा रहती है वह सबको चपेट लेती है। (२९) ऊपर नीचे मुँह की ज्वाला फैला कर मांस के कौर खाने लगती है। (२३०) जो जो स्थल मांसल हैं वहाँ सहज ही कौर मिल जाते हैं। तदनन्तर एक-दो कौर हृदय के भी भर लेती है। (३१) फिर तलुवों और हथेलियों का भी भेद करती है। इस प्रकार वह हर एक अवयव की गाँठों की खोज लेती है। (३२) अधो-भाग भी नहीं छोड़ती वरन् नख का भी सत्व निकाल लेती है, और त्वचा को धोकर हड्डी के ढाँचे से जोड़ देती है। (३३) हड्डियों की नलियों का रस निकालती है, नसों के जाले धो डालती है जिससे रोम-मूलों की बाह्य-वृद्धि बन्द हो जाती है। (३४) अनन्तर वह प्यासी कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समुद्र का घूँट पीती है जिससे शरीर का हर एक भाग अत्यन्त शुष्क हो जाता है। (३५) नाक के छेदों में से जो हवा बारह अंगुल तक निकलती है उसे खिंचिया कर पीछे हटा वह

फिर भीतर घुसती है। (३६) तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है और ऊपर की नीचे उतरती है। और, जिस समय दोनों का मिलाप होता है तब चक्रों के केवल पूरज़े ही बचते हैं। (३७) यों तो ये दोनों वायु तभी मिल जायँ परन्तु कुण्डलिनी क्षण भर व्यग्र हो मानों इनसे कहती है कि जाओ तुम्हारा यहाँ क्या काम है? (३८) इस प्रकार वह शरीर की सब पृथ्वीमय धातु खाकर कुछ नहीं बचने देती। अनन्तर जल का भाग भी पोंछ डालती है। (३९) इस प्रकार वह दोनों महाभूतों को खा डालती है तब पूर्ण तृप्त होती है और सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शान्त हो रहती है। (२४०) और तृप्ति के संतोष से जो गरल मुँह से उगलती है उस अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। (४१) भीतर से वह विष अग्निरूप हो निकलता है परन्तु सबाह्य शीतल करने लगता है। तब कहीं पहले गले हुए अवयव दृढ़ होने लगते हैं। (४२) जब कि नाड़ियों के मार्ग बन्द हो गये हैं, नवों प्रकार की वायु का चलना बन्द हो गया है इसलिए शरीर के धर्म नहीं रहे हैं, (४३) इडा और पिङ्गला नाड़ियाँ एक में मिल गई हैं, तीनों गाँठें छूट गई हैं और चक्रों की छहों कलियाँ खिल गई हैं, (४४) चन्द्र और सूर्य्य नामक जो कल्पित वायु हैं वे दीपक से भी खोजते नहीं मिलतीं, (४५) बुद्धि का विकास बन्द हो गया है और घ्राणेन्द्रिय में जो सुगन्धि रहती है वह भी कुण्डलिनी के सङ्ग सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो गई है, (४६) उस अवस्था में ऊपर की ओर से चन्द्रामृत का सरोवर धीरे से कनिया कर कुण्डलिनी के मुँह में गिरता है। (४७) उससे नली में जो रस भर जाता है वह सब शरीर में फैलता है और प्राणवायु के योग से जहाँ का तहाँ सूख जाता है। (४८) तपाये हुए मोम के साँचे का मोम निकल जाने पर जैसे वह उसमें डाले हुए रस का ही बना हुआ रह जाता है, (४९) वैसे ही उस शरीर के रूप से मानों कान्ति ही अवतार लेती है और ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़ लेती है। (२५०) जैसे सूर्य मेघरूपी घूँघट काढ़े रहता है और फिर मेघ निकल जाने पर तेजस्वी दिखाई देता है (५१) वैसे ही ऊपर से जो शरीर का त्वचारूपी सूखा पपड़ा रहता है वह भुस की तरह झड़ जाता है। (५२) तब अवयवकान्ति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानों वह स्फटिक की ही हो;—अथवा रत्नरूपी बीज में अंकुर निकले हों, (५३) अथवा सन्ध्याकाल के आकाश के रङ्ग निकाल कर उन्हीं

का वह शरीर बनाया गया हो; अथवा आत्मज्योति का लिङ्ग ही स्वच्छ किया रक्खा हो; (५४) अथवा वह शरीर कुंकुम से भरा हुआ हो, आत्मरस से ढला हुआ हो, अथवा मैं समझता हूँ कि वह मूर्तिमान् शान्ति का ही स्वरूप हो; (५५) अथवा वह आनन्दरूपा चित्र की लिखावट हो, महासुख की प्रतिमा हो वा सन्तोषरूपी वृक्ष का रोपा स्थिर किया गया हो; (५६) अथवा वह सुवर्ण-चम्पक की कली हो, वा अमृत की मूर्ति हो वा कोमलता के बरेजे में बहार आई हो; (५७) अथवा शरदृऋतु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हुआ हो वा मूर्तिमान् तेज ही स्वयं आसन पर बैठा हुआ हो। (५८) कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतान्त भी उस देहाकृति से भय खाता है। (५९) वार्धक्य पीछे हटता है। यौवन की गाँठ खुल जाती है, और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है। (२६०) उसकी आयु ही छोटी दिखाई देती है। वास्तव में उसके धैर्य की निरुपम महिमा बढ़ जाती है। बाल शब्द का अर्थ बालक नहीं, बल करना चाहिए। (६१) उस शरीर में ऐसे नये और उत्तम नख निकलते हैं मानों सुवर्णवृक्ष के पल्लवों में नित्य नूतन रत्नों की कलियाँ निकली हों। (६२) दाँत भी नये हो जाते हैं परन्तु बहुत छोटे छोटे होते हैं, मानों दुतरफ़ा हीरों की पंक्तियाँ बैठी हों। (६३) माणिक के कण जैसे सहज ही नोकदार होते हैं वैसे ही सब शरीर पर रोमों की नोकें उगती हैं। (६४) हथेलियाँ और तलुवे रक्तकमल के समान हो जाते हैं और नेत्र, क्या वर्णन करूँ, अत्यन्त स्वच्छ हो जाते हैं। (६५) पक्वदशा के कारण मोती के सीप में न समाने से जैसे सीप के ढकनों की सियन खुल जाती है (६६) वैसे ही उसकी दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह अर्द्धोन्मीलित रहती है परन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है। (६७) शरीर सुवर्ण का हो जाता है, परन्तु वह वायु का लघुत्व रखता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं रहते। (६८) उसे समुद्र का परतीर दिखाई देता है, स्वर्ग का मन्द शब्द सुन पड़ता है, और चींटी के भी मन का हाल मालूम हो जाता है। (६९) वह पवन के घोड़े पर सवार हो सकता है, जल पर चले तो उसके तलुवे नहीं भीगते। प्रसङ्गानुसार उसे ऐसी ही अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। (२७०) सुनो, प्राण का हाथ पकड़, हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के ज़ीने से हृदय में पहुँची हुई (७१) वह जगदम्बा कुण्डलिनी, जो

चैतन्यरूपी चक्रवर्ती की शोभा है जिसने जगद्बीज ओङ्कार के अंकुररूप जीव पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है जो परमात्मा शिव का सम्पुट है, जो ओङ्कार की केवल जन्मभूमि है, (७२-७३) और क्या वर्णन करें, वह कुण्डलिनीवाला जब हृदय में प्रवेश करती है तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है। (७४) कुण्डलिनी के साथ ही बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इससे उस बुद्धि को वह ध्वनि धीरे से सुनाई देती है। (७५) वह ध्वनि ऐसी रहती है मानों घोषाकार कुण्ड में ध्वनि के चिह्न के आकार तथा ओङ्कार के रूप लिखे हुए हों। (७६) यह बात कल्पना से जानी जा सकती है। परन्तु उस समय कल्पना करनेहारा भी कहाँ रहता है? अतएव वहाँ काहे की ध्वनि हो रही है यह जान नहीं पड़ता। (७७) हे अर्जुन! मैं एक बात भूल गया। जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिए वह गरजता है। (७८) जब उस अनाहतरूपी मेघ के कारण आकाश गरजने लगता है। तब सहज ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है। (७९) सुनो, जो कमलगर्भ के आकार के समान है, जो दूसरा महदाकाश ही, जहाँ चैतन्य अधर निवास करता है, (२८०) उस हृदयरूपी भुवन में यह कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पण कर देती है। (८१) बुद्धिरूपी शाक का इस प्रकार उत्तम नैवेद्य करती है कि द्वैत न दिखाई दे। (८२) कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ देती है और केवल प्राणरूप हो रहती है। उस समय कैसी दिखाई देती है, (८३) मानों किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की सारी उतार कर अलग रख दी हो; (८४) अथवा किसी दीपक की दृष्टि वायु से भिड़कर लुप्त हो गई हो; अथवा विद्युत् चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो। (८५) इस प्रकार हृदय-कमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखाई देती है मानों सोने की शलाका हो; अथवा जैसे प्रकाश-रूपी जल का झरना बहता हुआ आवे (८६) और हृदय-भूमि के दर्रे में एकदम समा जाय वैसे ही उस शक्ति का रूप शक्ति में ही लुप्त हो जाता है; (८७) तथापि उसे शक्ति ही कहना चाहिए। अन्यथा उसे केवल प्राण ही समझो। उस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति ये नहीं रहते। (८८) अथवा मन का वश करना, वा पवन का आश्रय करना वा ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि बातें नहीं रहतीं।

(८९) यह भी नहीं रहता कि कोई कल्पना की जाय या कोई छोड़ दी जाय। इसे महाभूतों का स्पष्ट निर्मल रूप ही जानो। (२९०) पिण्ड से पिण्ड का ग्रास जो नाथसम्प्रदाय का मर्म है वही अभिप्राय श्रीमहाविष्णु ने वर्णन किया। (९१) उसी ध्वनि की मानों गठरी छोड़ कर श्रोताओं को ग्राहक जान मैंने यथार्थरूपी वस्त्र की तह झटकार कर दिखाई है। (९२)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

सुनिए, जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी [इतना सूक्ष्म हो जाता है कि] आँख में छिप सकता है। (९३) यों तो वह पहले के समान ही अवयव-सम्पन्न रहता है, परन्तु ऐसा दिखाई देता है मानों वायु का ही बना हुआ हो; (९४) अथवा कोई केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग किये हुए खड़ा हो; अथवा आकाश को ही कोई अवयव उत्पन्न हुआ हो। (९५) जब उसका शरीर इस प्रकार हो जाता है तब उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही साधारण शरीरधारी लोगों में उसके चमत्कार दिखाई देते हैं। (९६) योगी कहीं से निकल जाय तो उसके पाँवों की जो रेखा बन जाती है वहाँ जगह जगह अणिमादिक सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं। (९७) परन्तु उससे हमें क्या कार्य है? हे धनञ्जय! यह जान लो कि देह के देह में पृथ्वी, आप और तेज, तीनों भूतों का इस रीति से लोप हो जाता है—(९८) हृदय में पृथ्वीतत्त्व को जलतत्त्व गला देता है, जल को तेज सुखा देता है, और तेज को वायुतत्त्व बुझा देता है। (९९) अनन्तर केवल वायुतत्त्व ही रह जाता है, परन्तु शरीर का आधार लिये रहता है। फिर कुछ काल के अनन्तर वह भी आकाश में जा मिलता है। (३००) उस समय उसे कुण्डलिनी नाम के बदले वायु नाम प्राप्त होता है। परन्तु जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं जा मिलती तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। (१) फिर वह जालन्धर-बन्ध छोड़ देती है; सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, और गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है। (२) ओंकार की पीठ पर पाँव देते हुए शीघ्रता से पश्यन्तीरूप सीढ़ी चढ़ जाती है। (३) पश्चात्, जैसे सागर

में सरिता वैसे ही ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। (४) फिर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर रह कर सोहं भावरूपी बाँहें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। (५) उस समय बीच का महाभूतों का परदा फटकर दोनों का सम्मेलन हो जाता है। उस ब्रह्मानन्द में गगनसमेत सब कुछ विलीन हो जाता है। (६) समुद्र ही जैसे मेघों के मुख से निकल कर, नदीप्रवाह में बह कर, पुनः आप ही में मिल जाता है। (७) वैसे ही हे पाण्डुकुँवर! पिण्ड के मिस से मानों ब्रह्म ही ब्रह्मपद में प्रवेश करता है। ऐसी एकता हो जाती है। (८) उस समय यह विवेचना करने के लिए भी कोई नहीं बचता कि दूसरा कोई था या पहले से एक ही वस्तु बनी हुई है। (९) गगन में गगन का लीन हो जाना जो बात है उसका जिसे अनुभव हो जाय वही पुरुष सिद्ध है। (३१०) उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ नहीं आती, जिससे संवादरूपी गाँव में प्रवेश किया जाय। (११) हे अर्जुन! इस अभिप्राय को प्रकट करने का अभिमान करनेवाली वाणी भी दूर रह जाती है। (१२) भ्रुकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं होता। अकेले प्राण को भी गगन में जाते सङ्कट होता है, (१३) और अनन्तर वह जब वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का नाश हो जाता है। (१४) अतएव महदाकाश के देह में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता तब शब्द की कहाँ थाह लगे? (१५) तात्पर्य यह है कि यह वस्तु निश्चय से ऐसी स्पष्ट नहीं है कि शब्दों से वरणी जाय अथवा कानों से सुनी जाय। (१६) जब दैवयोग्य से कुछ अनुभव प्राप्त हो तब तुम आप ही यह वस्तु बन रहोगे। (१७) पश्चात् ज्ञातव्य कुछ न रहेगा। अतएव रहने दो। हे धनुर्धर! वही बात वृथा कहाँ तक कहें? (१८) इस प्रकार जब शब्दमात्र पीछे हटता है तब सङ्कल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहाँ विचार की हवा का भी प्रवेश नहीं होता। (१९) जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्या का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परमतत्व है, (३२०) जो विश्व का मूल है, योगवृक्ष का फल है, जो आनन्द का केवल जीवन है, (२१) जो आकार की सीमा है, मोक्ष का एकान्त है, जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हैं, (२२) जो महाभूतों का बीज है, महातेज का तेज है, एवं हे पार्थ! जो मेरा निज स्वरूप है, (२३) वही यह चतुर्भुज

आकर बना हुआ है, जिसकी शोभा मेरे भक्त-समुदायों के प्रति नास्तिकों का किया हुआ छल देखकर आविर्भूत होती है। (२४) वह महासुख अनिर्वाच्य है, परन्तु प्राप्ति तक जिन पुरुषों के प्रयत्नों की सीमा है वे स्वयं सुखरूप हो रहते हैं। (२५) हमारे बताये हुए इस साधन को जो शरीर से करते हैं वे निर्मल हो हमारी ही योग्यता के हो जाते हैं, (२६) और शरीर से ऐसे दिखाई देते हैं मानों परब्रह्मरूपी रस से देहाकृतिरूप साँचे में ढाले गये हों। (२७) यदि यह अनुभव हृदय में प्रकाशित हो तो सम्पूर्ण विश्व का लय हो जावेगा। तब अर्जुन ने कहा—सत्य है, (२८) हे देव! आपने अभी जो उपाय बताया वह ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है, उसी से प्राप्ति होती है; (२९) इस अभ्यास में जो दृढ़ होते हैं वे निश्चय से ब्रह्मपद को पहुँचते हैं, इत्यादि जो आपने कहा सो मैं समझ गया। (३३०) हे देव! यह वर्णन सुनने से ही चित्त में ज्ञान उपजता है, तो फिर अनुभव प्राप्त होने पर तद्रूपता क्यों न होगी? (३१) अतएव इसमें कुछ असत्य नहीं है। परन्तु निमिष भर मेरी एक बात की ओर चित्त दीजिए। (३२) हे कृष्ण! आपने अभी जिस योग का निरूपण किया है वह मेरे मन में भली भाँति आ गया परन्तु योग्यता-हीन होने के कारण मैं उसका अभ्यास नहीं कर सकता। (३३) जितना मेरा स्वाभाविक शरीरबल है उतने से ही यदि यह योग सिद्ध हो सके तो आनन्द से मैं इसी मार्ग का अभ्यास करूँगा; (३४) अथवा हे देव! आप जैसा योग कहते हैं वैसा यदि मुझसे न बन सके तो तदनुरूप योग्यता के बिना जो कुछ हो सके वही पूछने की (३५) मेरे मन की इच्छा हुई है। इसलिए मैं प्रश्न करता हूँ, ध्यान दीजिए। (३६) आपने जिस साधन का निरूपण किया वह मैं सुन चुका। अभ्यास करने से क्या वह हर किसी को प्राप्त हो सकता है? (३७) अथवा वह ऐसी कुछ बात है कि जो योग्यता के बिना नहीं बन सकती? तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे धनुर्धर! यह क्या पूछते हो? (३८) अधिकार की सहायता के बिना क्या कोई साधारण कार्य भी सिद्ध हो सकता है? भला यह तो मोक्ष का विषय है, (३९) तथापि योग्यता जो कहाती है वह प्राप्ति के अधीन समझनी चाहिए। क्योंकि जो कार्य करते हो फलदायक होता है वही योग्यता के साथ किया गया समझा जाता है। (३४०) इस मार्ग में कोई वस्तु सहज में मिलनेवाली नहीं है। परन्तु योग्यता की क्या कोई खानि रहती है? (४१) क्षणभर जो विरक्त हो,

विहित धर्म में नियत हो, वही क्या व्यवस्थित अधिकारी नहीं कहा जा सकता? (४२) इस हिसाब से तुमको भी वह योग्यता प्राप्त है। इस प्रकार उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सन्देह दूर किया (४३) और कहा, हे पार्थ! योग्यता की व्यवस्था इस प्रकार की होती है; परन्तु अव्यवस्थित मनुष्य को सर्वथा योग्यता नहीं रहती। (४४)

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

जो रसनेन्द्रिय के अधीन हो गया हो, अथवा जो जीव भाव से निद्रा का बिका हुआ हो, वह इस विषय में अधिकारी नहीं कहा जाता। (४५) जो हठ के बन्धन से क्षुधा और तृषा को बाँध देता है, आहार को मारकर तोड़ डालता है, (४६) निद्रा के रास्ते ही नहीं जाता, इस प्रकार जो हठ का अवतार ले व्यवहार करता है उसका शरीर ही जब उसका नहीं रहता तब फिर योग कहाँ से उसका हो? (४७) इसलिए ऐसी भी इच्छा न होनी चाहिए कि विषयों का खूब सेवन किया जाय तथा यह भी उचित नहीं कि उनका सर्वथा निरोध कर दिया जाय। (४८)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

आहार का सेवन तो करना चाहिए परन्तु उसे युक्ति के माप से परिमित करना चाहिए। अन्य सब कर्मों का आचरण भी उसी रीति से करना चाहिए। (४९) परिमित शब्द बोलने चाहिए, गिने हुए डग चलने चाहिए, तथा निद्रा को आदर भी एक नियमित समय पर करना चाहिए। (३५०) जागृति हो, तथापि परिमित होनी चाहिए। ऐसा करने से कफ-वातादि धातुओं की समता रहेगी और सुख उत्पन्न होगा। (५१) इस प्रकार इन्द्रियों को जब युक्ति के द्वारा खाद्य दिया जाता है, तब मन में सन्तोष की वृद्धि होती है। (५२)

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

वाहर की ओर जब योग की मुद्रा इस प्रकार रहती है तब भीतर

ही भीतर सुख की वृद्धि होती है। इससे अभ्यास के बिना सहज ही योग का लाभ होता है। (५३) जैसे भाग्य का उदय होते ही उद्योग के बहाने सब सम्पत्ति अपने आप घर में प्राप्त हो जाती है (५४) वैसे ही युक्तिमान् मनुष्य कुतूहल से भी अभ्यास के मार्ग में प्रवृत्त हो तो उसके अनुभव को आत्मसिद्धिरूपी फल प्राप्त हो जाता है। (५५) इसलिए, हे पाण्डव ! जिस भाग्यवान् को इस युक्ति का लाभ होता है वह मोक्ष के राज्यपद पर विराजता है। (५६)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

युक्ति से योग का मेल होकर जहाँ ऐसा उत्तम प्रयोग बन जाता है वहाँ जिसका मन क्षेत्र-संन्यास की रीति से स्थिर रहे (५७) उसे योगयुक्त समझो। और, प्रसङ्गानुसार यह भी जानो कि उसे निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की उपमा दी जा सकती है। (५८) अब तुम्हारे मन की बात पहचान कर हम कुछ और भी कहते हैं सो अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। (५९) तुम प्राप्ति की इच्छा रखते हो परन्तु अभ्यास में नियुक्त नहीं होते, तो कहो क्या योग की कठिनता से डरते हो ? (३६०) हे पार्थ ! मन में ऐसा डर मत रक्खो। ये दुष्ट इन्द्रियाँ वृथा भय बताती हैं। (६१) देखो जो आयुष्य को स्थिर करती और समाप्त होते हुए जीवन को बचाती है, उस औषधि को जिह्वा क्या वैरी नहीं समझती ? (६२) इसी प्रकार जो जो विषय कल्याण के लिए हितकारी हैं वे सर्वदा इन इन्द्रियों को दुःखदायी हैं। अन्यथा योग के समान सुलभ और क्या है ? (६३)

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

इसलिए हमने जो आसन की दृढ़ता सहित उत्तम अभ्यास बताया है उससे इन इन्द्रियों का निरोध—हो सका तो—होगा। (६४) सामान्यतः इस योग से ज्योंही इन्द्रियों का निग्रह होता है त्योंही चित्त आत्मस्वरूप की भेंट के लिए प्रवृत्त होता है, (६५) पीछे पलट कर ठहरता है, और आप

अपनी ही ओर देखता है तो देखते ही पहचान जाता है कि यह तत्त्व मैं ही हूँ। (६६) पहचानते ही वह सुख के साम्राज्य पर बैठता है और फिर अपनी एकता में विलीन हो जाता है। (६७) और, जिसके परे और कुछ नहीं है, जिसे इन्द्रियाँ कभी नहीं जानतीं, वह वस्तु स्वयं आप ही हो रहता है। (६८)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

फिर मेरु पर्वत से भी बड़े देह-दुःख का दबाव आ पड़े तो भी उस बोझ से उसका चित्त नहीं दबता। (६९) अथवा शस्त्र से देह काटा जाय, अथवा आग में फेंक दिया जाय, तो भी महासुख में सोया हुआ उसका चित्त जागृत नहीं होता। (३७०) इस प्रकार वह निज में प्रवेश कर स्थिर हो रहता है। वह देह की बाट नहीं जोहता। वह दूसरे ही सुख से एकरूप हो जाता है, इसलिए देह को भूल जाता है। (७१)

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जिस सुख की मधुरता से मन सुख का स्मरण ही भूल जाता है और संसार की उलझन तोड़ डालता है, (७२) जो सुख योग की शोभा है, सन्तोष का राज्य है, तथा जिस सुख के लिए ज्ञान का ज्ञातृत्व प्रवृत्त होता है (७३) वह सुख योग का अभ्यास करने से मूर्तिमान् दिखाई देने लगता है, और दिखाई देते ही योगी तद्रूप हो जाता है। (७४)

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अब हे तात! इस योग का एक सुलभ मार्ग यह है कि सङ्कल्प को पुत्रशोक हो अर्थात् सङ्कल्प के पुत्र कामक्रोधों का नाश किया जाय। (७५) सङ्कल्प जो विषयों का लीन होना सुन ले, अथवा इन्द्रियों को निगृहीत स्थिति में देख ले, तो हृदय फाड़ कर अपने जीवन का नाश कर लेता है। (७६) यदि इस प्रकार वैराग्य प्राप्त करोगे तो सङ्कल्प का आवागमन बन्द हो जावेगा और धैर्य के मन्दिर में बुद्धि सुख से निवास करेगी। (७७)

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

धैर्य जब बुद्धि का आश्रय करता है तब वह बुद्धि मन को अनुभव के मार्ग से धीरे धीरे लाकर ब्रह्मस्वरूप में स्थापित कर देती है। (७८) देखो, इस एक प्रकार से प्राप्ति हो सकती है। यह न हो सके तो दूसरे और सुलभ मार्ग हैं। (७९) अपने मन में ऐसा एक ही नियम कर लो कि जो निश्चय किया जाय उसका कभी उल्लङ्घन न करेंगे। (३८०) यदि इतने ही से चित्त स्थिर हो जाय तो सहज ही कार्य हुआ, नहीं तो उसे खुला छोड़ दो। (८१) वह इस प्रकार मुक्त हो जहाँ जहाँ जावेगा वहाँ वहाँ से उक्त नियम उसे लौटा लावेगा। इस तरह चित्त को स्थिरता का अभ्यास हो जावेगा। (८२)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

पश्चात् कुछ काल में उस स्थिरता के बल से चित्त सहज ही आत्म-स्वरूप के पास पहुँच जायगा, (८३) और उसे देखकर उससे मिल जायगा। उस समय अद्वैत में द्वैत डूब जायगा और उस एकता के प्रकाश से त्रैलोक्य प्रकाशित हो जायगा। (८४) आकाश में भिन्न दिखाई देने-वाला मेघ जब विलीन हो जाता है तब जैसे सब जगत् आकाश से ही भर जाता है (८५) वैसे ही चित्त का लय हो जायगा और सब ब्रह्मरूप ही हो रहेगा। ऐसी प्राप्ति इस उपाय से सहज में ही हो जाती है। (८६)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

जो लोग सङ्कल्परूपी सम्पत्ति का त्याग कर इस सुलभ योग-स्थिति का अनेक प्रकार से अनुभव लेते हैं (८७) वे सुख के साथ परब्रह्म में प्रवेश करते हैं। तब लवण जैसे जल को छोड़ना नहीं जानता (८८) वही स्थिति उनके मेल के समय हो जाती है और संसार को ब्रह्मानन्दरूपी

मन्दिर में महासुख की दिवाली दिखाई देता है। (८९) इस प्रकार अपने ही पाँव से उलटे चलना चाहिए। हे पार्थ! यदि यह बात आकलन नहीं होती, यदि यह उपाय नहीं बन सकता, तो दूसरा उपाय सुनो। (३९०)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मैं सकल देहों में हूँ; और वैसे ही यह सब जगत् मुझमें ही है। (९१) इस प्रकार यह परस्पर मिला हुआ ऐसा ही भरा हुआ है। बुद्धि से इस बात का आकलन करना चाहिए। (९२) हे अर्जुन! सामान्यतः जो एकाग्र भावना से मुझे सब भूतों से अभिन्न जानकर भजता है, (९३) भूतों की अनेकता से जिसके अन्तःकरण में अनेकता नहीं उत्पन्न होती, जो केवल मेरी एकता ही जानता है, (९४) वह और मैं एक ही हूँ—यह कह बताना वृथा है, क्योंकि हे धनञ्जय! न कहते भी वह मद्रूप ही है। दीपक और प्रकाश में जैसी एकता की स्थिति है वैसे ही वह मुझमें रहता है और मैं उसमें रहता हूँ। (९५-९६) जैसे उदक के अस्तित्व के कारण रस का अस्तित्व है अथवा गगन की स्थिति के कारण अवकाश है, वैसे ही वह पुरुष मेरे रूप से रूप धारण करता है। (९७)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

हे किरीटी! जो मुझको सर्वत्र ऐसी एकता की दृष्टि से देखता है, जैसे कपड़े में सूत एक ही रहता है; वैसी ही ऐक्य-दृष्टि से जिसने समझ लिया कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, (९८) अथवा अलङ्कार कितने ही क्यों न हों पर सोना तो एक ही है—उसमें अनेकता नहीं—; इस प्रकार के ऐक्यरूप पर्वत की जिसने स्थिति बना ली है (९९) या जिसकी अज्ञान-निशा ऐसे अद्वैत प्रकाश से जगमगा उठी है कि 'जितने पत्ते होते हैं उतने ही पेड़ नहीं होते' (४००) उसे, पञ्चभूतात्मक शरीर में आबद्ध रहने पर भी, अपने स्वरूप में आने के लिए बाधा क्योंकर होगी? क्योंकि अनुभव के द्वारा वह

मेरी एकता को प्राप्त कर लेता है। (१) मेरी सब व्यापकता उसके अनुभव को प्राप्त है इसलिए वह न कहते भी स्वभावतः व्यापक हो जाता है। (२) अतः वह शरीरी तो है परन्तु शरीर का सम्बन्धी नहीं—यह बात क्या शब्दों से कहने योग्य है जो वर्णन की जाय ?

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

इसलिए हम संक्षेप से कहते हैं कि जो विशेष रीति से अथवा अपने ही समान सर्वदा चराचर को देखता है, (४) जो सुख-दुःखादि मर्म अथवा शुभाशुभ कर्म ये दोनों मनोधर्म नहीं रखता, (५) सम-विषम भाव और उनके समान जो अन्य विचित्र बातें हैं उन्हें जो अपने अवयव जैसी मानता है, (६) एक एक कहाँ तक कहें, जिसे सहज ऐसा ज्ञान हो गया है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य मैं हूँ (७) उसे एक देह भले ही हो, व्यवहार में भले ही उसे सुखी-दुखी कहा जाय, परन्तु हमें विश्वास है कि वह परब्रह्म है। (८) इसलिए हे पाण्डव ! समता की ऐसी उपासना करनी चाहिए कि निज में ही विश्व देखना चाहिए और आप ही विश्व बनना चाहिए। (९) यह बात अनेक बार हम तुमसे इसलिए कहते हैं कि सम-दृष्टि से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं है। (४१०)

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

तब अर्जुन ने कहा—हे देव ! आप हमें कृपया उपदेश देते हैं परन्तु इस मन के स्वभाव के सामने हमारी एक नहीं चलती। (११) यह मन कैसा है, कितना बड़ा है, यह देखने जाइए तो हाथ नहीं लगता, परन्तु इसके व्यापार के लिए त्रैलोक्य भी अल्प है। (१२) अतएव यह कैसे हो कि मर्कट को समाधि प्राप्त हो अथवा महावायु रोकने से रुक जाय। (१३) जो बुद्धि का क्षय करता है, निश्चय को टाला देता है, धैर्य से हाथ मिला-कर—धैर्य को दिलासा देकर—भागता है, (१४) जो विवेक को भुलाता है,

सन्तोष की इच्छा उत्पन्न कराता है, और बैठे रहो तो भी दशों दिशाओं में घुमाता है, (१५) निरोध करने से जो और भड़कता है, संयम जिसका सहकारी होता है, वह मन क्या अपना स्वभाव छोड़ देगा? (१६) अतः उपर्युक्त कारण से यह हो ही नहीं सकता कि मन निश्चल रहे और हमें समदृष्टि का लाभ हो। (१७)

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा कि सत्य है। तुम जैसा कहते हो वैसी ही बात है। इस मन का स्वभाव सचमुच चपल ही है। (१८) परन्तु यदि वैराग्य के आधार से इसे अभ्यास के मार्ग से लगाया जाय तो कुछ काल के अनन्तर यह स्थिर हो सकता है। (१९) क्योंकि इस मन की एक बात अच्छी है कि इसे जिस मधुरता का चस्का लग जाता है उसमें यह लुब्ध हो रहता है। इसलिए इसे कुतूहल से आत्मानुभव का सुख ही बताते रहना चाहिए। (४२०)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

यों तो यह बात क्या हम भी नहीं मानते कि जिन्हें वैराग्य नहीं है, जो कभी अभ्यास की चेष्टा नहीं करते, उनसे यह मन वश में नहीं किया जाता? (२१) परन्तु यदि यम-नियम के मार्ग से न चला जाय, कभी वैराग्य का स्मरण न किया जाय, केवल विषयरूप जल में ही डुबकी ले रहा जाय, (२२) जन्मतः कभी मन को युक्ति की डोरी न बाँधी जाय तो कहो वह मन क्यों और कैसे निश्चल हो? (२३) इसलिए मन का निग्रह करने के लिए जो उपाय है उसका आरम्भ करो फिर देखें वह कैसे स्थिर नहीं होता। (२४) योग के जितने साधन हैं वे क्या सब मिथ्या हैं? परन्तु यह कहो कि आपसे अभ्यास नहीं हो सकता। (२५) शरीर में योग का बल हो तो मन कहाँ तक चपल हो सकता है? ये सब महत्तत्त्व इत्यादि क्या वश नहीं हो सकते? (२६) तब अर्जुन ने कहा—ठीक है, देव कहते हैं सो मिथ्या नहीं है। सचमुच योगफल से मनोबल की तुलना नहीं हो सकती। (२७) हमें

इतने दिनों तक इसका विचार भी न था कि यह योग कैसा है और कैसे जाना जा सकता है। इसलिए हम मन को अजित समझते थे। (२८) हे पुरुषोत्तम! हमारे सम्पूर्ण आयुष्य में आज हमें आपके प्रसाद से योग का परिचय हुआ है। (२९)

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

तथापि, हे स्वामी! मुझे एक और संशय होता है। उसका निवारण करने के लिए आपके समान कोई समर्थ नहीं है। (४३०) इसलिए हे श्रीगोविन्द! मान लीजिए कि कोई एक पुरुष अभ्यास के बिना ही केवल श्रद्धा से मोक्षपद की प्राप्ति की चेष्टा कर रहा था। (३१) वह इन्द्रियरूपी ग्राम से निकल कर आत्मसिद्धिरूपी दूसरे नगर को जाने के लिए आस्था के मार्ग से निकला। (३२) परन्तु आत्मसिद्धि को न पहुँचा, और पलट कर भी न आ सका। बीच में ही उसके आयुष्यसूर्य्य का अस्त हो गया। (३३) जैसे असमय में आया हुआ मेघ कुछ पतला भी रहता है और कदाचित् ही आ जाता है परन्तु न टिकता है और न बरसता है (३४) वैसे ही उसकी दोनों बातें रह गईं। क्योंकि प्राप्ति तो दूर ही रही और श्रद्धा के कारण अप्राप्ति अर्थात् इन्द्रियों के विषय भी छूट गये। (३५) इस प्रकार जो दोनों बातों से हाथ धो बैठता है और श्रद्धा के समुदाय में लीन हो जाता है, उसकी कौन गति होती है? (३६)

श्री भगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ! जिसे मोक्ष-सुख की आस्था है उसे क्या मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति है? (३७) परन्तु इतनी ही एक बात होती है कि उसे बीच में ही विश्रान्ति लेनी पड़ती है। किन्तु वह भी ऐसे सुख के साथ कि जो देवों को भी नहीं जुड़ता। (३८) सामान्यतः यदि वह अभ्यास के पाँव उठाता चलता तो आयुष्य-सूर्य्य के अस्त होने के पहले ही सोहंसिद्धि को पहुँच जाता। (३९) परन्तु उसका उतना वेग नहीं था। इसलिए उसे विश्रान्ति आवश्यक हुई। इसके अनन्तर मोक्ष तो उसको रक्खा ही हुआ है। (४४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

सुनो, तुम्हें आश्चर्य मालूम होगा कि जिस इन्द्रपद को लोग अनेक कष्टों के अनन्तर प्राप्त कर सकते हैं उसे यह मोक्ष की इच्छा करनेहारा पुरुष अनायास प्राप्त कर लेता है। (४१) अनन्तर वहाँ ये जो निष्फल न होनवाले और अप्रतिम भोग होते हैं उन सबों का उपभोग लेते लेते उसका मन उकता जाता है; (४२) और स्वर्गभोग भोगते समय उसे नित्य यह पश्चात्ताप हुआ करता है कि हे श्रीभगवन्त! यह विघ्न क्यों अकस्मात् उपस्थित हुआ (४३) अनन्तर वह संसार में जन्म लेता है परन्तु ऐसे कुल में कि जो सकल धर्म का विश्रामस्थान हो। पूर्ण पुष्ट पौदे में से जैसे भरी हुई धान्य की बाल निकलती है वैसा वह योगी ऐश्वर्य के घर उत्पन्न होता है। (४४) जिस कुल के लोग नीतिमार्ग से चलते हैं, सत्य और पवित्र वाणी बोलते हैं, शास्त्र की दृष्टि से जो देखना चाहिए वही देखते हैं, (४५) वेद जिसकी जागती ज्योति है, जिसका व्यवहार स्वधर्म है, सारासार विचार जिसका मन्त्री है; (४६) जिस कुल में चिन्ता केवल ईश्वर को भजनेवाली पतिव्रता है, जिसकी ऋद्धि इत्यादि गृहदेवियाँ हैं, (४७) इस प्रकार आत्मपुण्य के सञ्चय के कारण जिस कुल में सब सुखों की सम्पन्नता है उस सुखी कुल में वह योगभ्रष्ट पुरुष जन्म लेता है। (४८)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अध्याय का सम्बन्ध पिछले अध्याय से लगाना चाहिए। (६३) परन्तु अस्तु, प्रस्तावित ज्ञान के हित या अहित के लिए यही दोनों सम्पत्तियाँ समर्थ हैं। (६४) इनमें से प्रथम उस दैवी सम्पत्ति का वर्णन सुनो जो मुमुक्षु-मार्ग को पहुँचाती है, तथा जो मोहरूपी रात्रि में धर्मरूपी मशाल है। (६५) संसार में सम्पत्ति उसे कहते हैं जिस एक के सम्पादन से एक दूसरे की वृद्धि करनेवाले अनेक पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है। (६६) इस दैवी सम्पत्ति से सुख की प्राप्ति होती है, और दैवगुण के कारण वही एक आश्रय करने के योग्य है, अतएव उसे दैवी सम्पत्ति कहते हैं। (६७)

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अब सुनो। उन दैवगुणों में जो सबसे आगे है, उसे अभय कहते हैं। (६८) बाढ़ में न कूदो तो जैसे डूबने का डर नहीं लगता, अथवा पथ्य सेवन करनेहारे के घर जैसे रोग की सम्भावना नहीं होती, (६९) उसी प्रकार अहङ्कार की कर्मारम्भ की ओर की प्रवृत्ति रोक कर संसार का भय छोड़ देना (७०) अथवा ऐक्य भाव के विस्तारद्वारा सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप जानकर भयवार्ता को हद के पार निकाल बाहर करना, (७१) अथवा जल लवण को डुबाने जाय तो जैसे लवण ही जल बन जाता है वैसे ही स्वयं अद्वैत हो जाने पर भय का नाश हो जाना (७२) इसी को अभय कहते हैं। यह सम्पूर्ण सम्यक्-ज्ञान की सीमा है। (७३) अब जिसे सत्वशुद्धि कहते हैं सो इन लक्षणों से पहचानना चाहिए। राख जैसे न जलती है न बुझती है, (७४) अथवा जैसे चन्द्र, अमावास्या को क्षय की स्थिति पीछे छोड़, पड़वा की वृद्धि की अपेक्षा न करके, बीच में ही अति सूक्ष्म अवस्था में रहता है, (७५) अथवा गङ्गा जैसे वर्षाकाल के अनन्तर तथा ग्रीष्म ऋतु से खण्डित होने के पूर्व बीच के काल में निज स्वरूप से रहती है, (७६) वैसे ही सङ्कल्प और विकल्पों से आकर्षित न होकर रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्ति छोड़ कर बुद्धि आत्मानन्द का उपभोग लेती हुई रहे, (७७) इन्द्रियगण यदि कोई अनुकूल या प्रतिकूल विषय बतावें तो कोई कुछ करे तो भी चित्त में विस्मय न उठे, (७८) जैसे पति किसी अन्य नगर को जाता है तो पतिव्रता उस विरह-दुःख के सामने कैसी भी हानि या

लाभ को नहीं गिनती, (७९) वैसे ही सत्स्वरूप की रुचि के कारण उसमें बुद्धि अनन्य हो रहे, ऐसी जो अवस्था है वह—केशी दैत्य के मारनेहारे श्रीकृष्ण कहते हैं—सत्वशुद्धि है। (८०) अब, आत्मलाभ के हेतु ज्ञान या योग इन दो में से जिस एक की अपने अन्तःकरण में इच्छा भरी हो (८१) उसमें सम्पूर्ण चित्त-वृत्ति का इस प्रकार समर्पण करना जैसे कि कोई निष्काम मनुष्य अग्नि में पूर्णाहुति समर्पण करता है, (८२) अथवा जैसे कोई कुलीन मनुष्य अपनी कन्या उत्तम कुल में ही समर्पित करता है, अथवा लक्ष्मी जैसे श्रीमुकुन्द में स्थिर हो रही है (८३) वैसे ही विकल्प-रहित हो योग और ज्ञान में ही वृत्तिस्थ होना, कृष्णनाथ कहते हैं, तीसरा गुण अर्थात् ज्ञानयोगव्यवस्था है। (८४) अब काया, वाचा, मन से, तथा यथाप्राप्त धन से, शत्रु हो तौ भी किसी आर्त की वञ्चना न करना, (८५) हे धनञ्जय! वृक्ष जैसे पान्थिक को फूल, फल, छाया, मूल या पत्तों से भी वञ्चित नहीं रखता (८६) वैसे ही अवसर आने पर मन से तथा धन से दुःखी जनों के इच्छानुसार उन्हें उपयोगी होना, (८७) दान कहलाता है जो मोक्षरूपी द्रव्य प्रकट करनेवाला अञ्जन है। अस्तु, अब दम का लक्षण सुनो। (८८) वह विषयों और इन्द्रियों का सम्मेलन वियुक्त कर डालता है। फिटकरी जैसे पानी का गँदलापन अलग कर देती है (८९) वैसे ही इन्द्रिय-द्वारों को विषय-मात्र की हवा नहीं लगने देता तथा उन्हें बाँध कर प्रत्याहार के हाथ सौंप देता है, (९०) प्रवृत्ति को आन्तरिक चित्त-प्रदेश तक पीछे हटा कर दशों द्वारों में वैराग्य की आग सुलगा देता है, (९१) श्वासोच्छ्वासों से भी बहुसंख्यक और कठिन व्रताचरण करता है और रात-दिन इस प्रकार व्रताचरण करते हुए उसे अवकाश नहीं मिलता। (९२) दम जिसे कहते हैं उसका स्वरूप उक्त प्रकार का होता है। अब संक्षेप से यज्ञ का अर्थ कहते हैं, सुनो। (९३) ब्राह्मण से लगा कर स्त्री आदि तक अपने-अपने अधिकार के अनुसार (९४) जिसके लिए जो आचरण सर्वोत्तम हो, जो देवता या धर्म भजनीय हो, उसका उसे शास्त्रानुसार या विधिपूर्वक यजन करना चाहिए। (९५) ब्राह्मण का यजनादि षट्कर्म करना और शूद्र का उसका वन्दन करना ये दोनों यज्ञ समान ही हैं। (९६) अतः सबों को अपने-अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ करना चाहिए। परन्तु उसमें फलाशारूपी विष न मिलाना चाहिए; (९७) तथा—'मैं यज्ञ-कर्ता हूँ' यह भाव देहद्वारों से

बाहर न निकलने देना चाहिए, किन्तु स्वयं वेदाज्ञा का आश्रयस्थान बन रहना चाहिए; (९८) हे अर्जुन! शास्त्रोक्त यज्ञ ऐसा रहता है। यह मोक्षमार्ग का एक ज्ञानवान् सङ्गाती है। (९९) अब, जैसे गेंद को भूमि पर मारना मारना नहीं उसे फिर हाथ में लेने की चेष्टा है, अथवा खेत में बीज फेंकना फेंकना नहीं अगली फसल की ओर ध्यान दे बोना है, (१००) अथवा खोई हुई वस्तु ढूँढ़ने के लिए जैसे दीपक का आदर किया जाता है, अथवा शाखा-फलों के हेतु जड़ में पानी सींचा जाता है, (१) और रहने दो, स्वयं अपना रूप देखने के लिए जैसे दर्पण बार बार प्रेम से स्वच्छ किया जाता है, (२) वैसे ही प्रतिपादन करने के योग्य जो ईश्वर है वह गोचर हो जाय इसलिए निरन्तर श्रुतियों का अभ्यास करना, (३) ब्राह्मणों का ब्रह्मसूत्र पढ़ना, और अन्यों का तत्त्व प्राप्त करने के लिए स्तोत्र या नाममन्त्र का पठन करना, (४) हे पार्थ! स्वाध्याय कहाता है। अब तप शब्द का अभिप्राय कहते हैं, सुनो। (५) अपने सर्वस्व का दान कर देना, अन्यथा खर्च करना वृथा समझना, जैसे वनस्पतियाँ फल कर स्वयं सूखती हैं, (६) अथवा जैसे धूप स्वयं अग्नि में जल कर सुगन्धि फैलाती है, अथवा जैसे शुद्ध किया हुआ सोना तौल में कम होता है, अथवा चन्द्र जैसे कृष्ण-पक्ष की वृद्धि करता हुआ निज का ह्रास करता है, (७) वैसे ही हे वीर! आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्राण, इन्द्रिय और शरीर का ह्रास करना ही तप है; (८) अथवा तप का रूप यद्यपि भिन्न हो तथापि यह जान लो कि जैसे राजहंस दूध में चोंच डालता है (९) वैसे ही जो ऐसा विवेक उत्पन्न करता है कि जो उदित होते ही देह और जीव का सङ्गठन तोड़ दे, (११०) तथा जैसे जागृति में निद्रा सहित स्वप्न डूब जाता है वैसे ही जिससे आत्मा की ओर दृष्टि देते हुए बुद्धि का विस्तार कुण्ठित हो जाय (११) उस आत्मावलोकन में जो प्रवृत्ति होना है सो 'तप' है। हे धनुर्धर! यह तप का निर्णय हुआ। (१२) अब, माता का दूध जैसे बालक के हितार्थ रहता है, चैतन्य जैसे अनेक भूतों में समान रहता है, वैसे ही सब प्राणियों से सुजनता रखना ही आर्जव है। (१३)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

जगत् के सुख के हेतु शरीर से, वाणी से, और अन्तःकरण से चेष्टा करना अहिंसा का रूप जानो। (१४) अब, जो तीक्ष्ण हो परन्तु मृदु हो, जैसे कोई चमेली की खिली हुई कली अथवा चन्द्रमा का शीतल तेज, (१५) दिखाने के साथ ही जो रोग का निवारण करती है और जीभ को भी जो कड़वी नहीं लगती वह औषधि ही नहीं, तो फिर उसे उपमा क्या दी जा सकती है? (१६) परन्तु जैसे पानी ऐसा मृदु रहता है कि कमलदल उसमें हिलोरते हैं तो भी नहीं चुभता और वैसे तो पहाड़ को भी फोड़ डालता है, (१७) वैसे ही जो सन्देह का नाश करने में लोहे के समान तीक्ष्ण होता है, परन्तु श्रव्यगुण में जो मधुरता को भी लजाता है, (१८) जिसे कुतूहल से सुनते ही कानों को वाणी-सी फूटती है और यथार्थता के बल से जो ब्रह्म का भी भेद करता है, (१९) बहुत क्या कहें, प्रिय होने के कारण जो किसी की प्रतारणा नहीं कर सकता और यथार्थ होता है तथापि जो किसी का मर्मभेद नहीं करता, (१२०) [अन्यथा बहेलिये का गायन भी सचमुच मधुर रहता है परन्तु वास्तव में देखो तो वह घातक होता है, अग्नि भी सत्र प्रत्यक्ष करती है परन्तु ऐसे सत्य का नाश हो!, (२१) श्रवण में मधुर हो पर अर्थ में जो हृदय के टुकड़े करे वह वाणी नहीं राक्षसी है (२२) परन्तु] जैसे अपराध के समय माता का स्वरूप ऊपर से क्रोधयुक्त और लालन करने में पुष्प के समान कोमल होता है, (२३) वैसे ही जो सुनने में सुखदायक होता है और परिणाम में यथार्थ होता है उस विकार-रहित भाषण को सत्य कहते हैं। (२४) अब, पत्थर पर जल सींचते ही रहो तथापि जैसे उसमें अंकुर नहीं फूटते, अथवा काँजी का कितना भी मन्थन करो तथापि उसमें से जैसे मक्खन नहीं निकलता, (२५) साँप की केंचुली के सिर पर लात मारने से भी जैसे वह फन नहीं फैलाती, अथवा वसन्तकाल भी हो तथापि जैसे आकाश में फूल नहीं लगते, (२६) अथवा रम्भा के स्वरूप को देखकर भी जैसे शुकाचार्य के मन में काम नहीं उत्पन्न हुआ, अथवा राख में घी छोड़ने से भी जैसे अग्नि प्रदीप्त नहीं होती, (२७) वैसे ही जिन शब्दों से बालक भी क्रोधयुक्त हो जाय ऐसे शब्दों के बीजाक्षर भी यदि क्रोध लाने के हेतु इकट्ठे किये जायँ (२८) तथापि जैसे ब्रह्मदेव के पाँव पड़ने से भी मृत मनुष्य सजीव नहीं होता वैसे ही

जिसमें यत्न करने से भी क्रोध की लहर न उठे, (२९) ऐसी अवस्था को अक्रोधत्व जानो। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से वर्णन किया। (१३०) अब, मृत्तिका का त्याग करने से जैसे घट का भी त्याग हो चुका, अथवा तन्तु के त्याग से वस्त्र का या बीज के त्याग से वटवृक्ष का भी त्याग हो चुका, (३१) अथवा जैसे भीत का त्याग करने से उस पर लिखे हुए सम्पूर्ण चित्रों का भी त्याग हो चुका अथवा निद्रा के त्याग से जैसे नाना प्रकार के स्वप्नजाल का भी त्याग हो चुका, (३२) अथवा जल के त्याग से जैसे उसकी तरङ्गों का, वर्षा के त्याग से जैसे मेघों का, अथवा धन के त्याग से जैसे उपभोगों का भी त्याग हो चुकता है, (३३) वैसे ही बुद्धिमानों को देहात्मबुद्धि का त्याग कर सम्पूर्ण सांसारिक विषयों का त्याग कर देना चाहिए। (३४) श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका नाम त्याग है। यह सुन कर भाग्यवान अर्जुन ने कहा ठीक है, (३५) अब मुझे शान्ति का लक्षण स्पष्ट कर बताइए तब श्रीकृष्ण ने कहा बहुत अच्छा, सुनो। (३६) ज्ञेय और ज्ञाता को निलीन कर जब वास्तव में ज्ञान भी विलीन हो जाता है उस स्थिति को शान्ति कहते हैं। (३७) प्रलयकाल का जल जैसे जगत् के विस्तार को डुबा कर, केवल आप ही घना भरा रह जाता है (३८) और फिर व्यवहार में यह भेद नहीं रहता कि यह उसका उद्गम है, यह प्रवाह है या यह समुद्र है, [बल्कि यह जाननेवाला भी कौन बच रहता है कि यह सब जल ही है] (३९) वैसे ही ज्ञेय से आलिङ्गन देते ही ज्ञातृत्व ही पेट में समा जाय और फिर जो बच रहे वही है किरीटी! शान्ति का रूप है। (१४०) अब, उत्तम वैद्य जैसे पीड़ाकारक रोग के निवारण करने के पूर्व यह नहीं सोचता कि यह अपना है और यह पराया है, (४१) अथवा गाय को कीचड़ में फँसी हुई देखकर उसके दुःख से व्याकुल होनेवाला मनुष्य जैसे यह नहीं सोचता कि यह दुबैल है या नहीं, (४२) अथवा डूबते हुए को निकालनेहारा कोई सकरुण मनुष्य जैसे उससे यह नहीं पूछता कि तू ब्राह्मण है या *शूद्र बल्कि वह यही चाहता है कि इसे निकाल कर इसके प्राण बचाऊँ,* (४३) अथवा किसी पापी ने दुर्भाग्य से किसी पतिव्रता को नग्न किया हो, तथापि जैसे शिष्ट पुरुष उसे वस्त्र पहनाये बिना नहीं देखता (४४) वैसे अज्ञान, प्रमाद, इत्यादि दोषों के कारण या पूर्व-जन्मकृत दोषों के कारण जो सब निन्द्य विषयों में डूबे हुए

रहते हैं (४५) उन्हें उत्तम रीति से सहाय कर उनके सलते हुए दुःख भुलवाना, (४६) दूसरों के दोषों को अपनी दृष्टि से शुद्ध कर फिर उन पर कृपा करना, (४७) जैसे पूजा कर फिर देव का दर्शन लेना, बीज बोकर फिर खेत में जाना, अतिथि को संतुष्ट कर प्रसाद ग्रहण करना है (४८) वैसे ही अपने गुणों से दूसरों की न्यूनता दूर कर फिर उनकी ओर दृष्टि देना, (४९) कभी भी उनका मर्मभेद न करना, उनके दुष्कर्म प्रकट न करना, उन्हें नाम न रखना, (१५०) वरन् जिस उपाय से वे पतित जन फिर से उठ खड़े हों वही करना, पर उनके मर्मों पर कभी घाव न करना, (५१) हे किरीटी ! नीच को भी उत्तम की बराबरी का समझने के अतिरिक्त दृष्टि में किसी दोष का न होना, (५२) यह सब अपैशुन्य का स्पष्ट लक्षण है। यह मोक्ष-मार्ग की एक मुख्य पालकी है। (५३) अब, दया ऐसी होती है। जैसे पूर्ण चन्द्र की चाँदनी शीतलता देने के विषय में यह नहीं देखती कि यह छोटा है या बड़ा है (५४) वैसे ही जो सदयता से दुखियों के दुःख हरने के विषय में यह विवेचना नहीं करता कि यह उत्तम मनुष्य है या अधम (५५) संसार में जल जैसे आप शरीर से नष्ट हो जाता है पर तृण के भी छूटते हुए प्राणों की रक्षा करता है, (५६) वैसे ही जो दूसरों के दुःख से सदयता से व्याकुल हो निज के प्राण देना भी अल्प समझता है, (५७) गड्ढा भरे बिना पानी जैसे बाहर नहीं बहता, वैसे ही जो थके हुए मनुष्य का सन्तोष किये बिना आगे नहीं बढ़ता (५८) पाँव में काँटा चुभे तो जैसी व्यथा होती है, वैसा जो दूसरों के सङ्कटों से दुःखी होता है, (५९) अथवा कोई शीतल पदार्थ पाँव में लगने से जैसे आँखों को तरावट पहुँचती है, वैसे ही जो दूसरों के सुख से सुखी होता रहता है, (१६०) बहुत क्या कहें, संसार में जल जैसे तृषितों के लिए ही भरा रक्खा है, वैसे ही दुखितों के हितार्थ ही जिसका जीवन है, (६१) उस पुरुष को हे वीरराज ! मूर्तिमान् दया जानो। उसका जन्म होते ही मैं उसका ऋणी हो उसे प्राप्त हो जाता हूँ। (६२) अब, कमल का फूल अन्तःकरण-पूर्वक सूर्य का अनुसरण करता है पर सूर्य जैसे उसकी सुगन्ध में हाथ नहीं लगाता, (६३) अथवा वसन्त के पीछे-पीछे वन-शोभा की अक्षौहिणी ही प्राप्त होती है पर वह जैसे उसका स्वीकार न करता चला जाता है, (६४) यह रहने दो, महासिद्धि-सहित लक्ष्मी भी प्राप्त हो तथापि महाविष्णु के निकट उसकी

कुछ भी गिनती नहीं, (६५) वैसे ही ऐहिक या पारलौकिक भोग अपनी इच्छा के सेवक बन रहें तथापि उनका उपभोग लेने का विचार भी मन में न लाना चाहिए। (६६) बहुत क्या, जिसमें कुतूहल से भी अन्तःकरण में विषय की अभिलाषा न हो ऐसी दशा को अलोलुपता जानो। (६७) अब, मधुमक्खी को जैसा उसका छत्ता, जलचरों को जैसा जल, अथवा पक्षियों को जैसा यह प्रतिबन्ध-रहित आकाश, (६८) अथवा बालक पर जैसा माता का स्नेह अथवा वसन्त के स्पर्श से युक्त जैसी मलयगिरि की कोमल वायु, (६९) नेत्रों को जैसे प्रियजन की भेंट, अथवा कछुई के बच्चों पर जैसी उसकी दृष्टि, वैसी ही कोमल रीति से सब भूतमात्र में व्यापार करना, (१७०)—स्पर्श में अति मृदु, खाने में स्वादयुक्त, सूँघने में सुगन्धित और शरीर से जो उज्ज्वल है (७१) ऐसा कपूर बहुतसा खाने से यदि हानिकारक न होता तो उक्त कोमलता की कपूर की उपमा दी जा सकती थी, (७२) पर गगन जैसे महाभूतों को निज में लिये है तथा परमाणु में भी समाया हुआ है एवं विश्व के ही स्वरूप सा है (७३) वैसे ही, बहुत क्या कहूँ, जगत् के जी और प्राणों के अनुसार अपना जीवन रखना हो—मार्दव है। (७४) अब, हार जाने से जैसे राजा लज्जा से दुःखी होता है, अथवा नीच स्थिति में जाने से जैसे मानी मनुष्य तेजहीन हो जाता है, (७५) अथवा अकस्मात् चाण्डाल के घर आ जाने से जैसे संन्यासी को अत्यन्त लज्जा उत्पन्न होती है, (७६) रण में से क्षत्रियों के भाग जाने की लज्जास्पद बात जैसे कौन सह सकता है? अथवा पतिव्रता का जैसे वैधव्य निमन्त्रण दे, (७७) रूपवती को कोढ़ हो जाय, किसी माननीय सज्जन को कोई निन्दास्पद दोष लगाया जाय तो जैसे उसके प्राणों पर सङ्कट बीतता है, (७८) वैसे ही इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में शव के समान जीते रहना तथा बारबार उत्पन्न हो होकर मरना, (७९) गर्भ के रक्त या मूत्र के रस की मूर्ति बन कर रहना, (१८०) बहुत रहने दो, दृढ़ धारणा कर नामरूप का स्वीकार करना, आदि बातों से अधिक और कुछ लज्जास्पद नहीं है, (८१) अतः ऐसे-ऐसे सम्पूर्ण दोषों के कारण शरीर से उकता जाना ही लज्जा है जो साधुओं को हुआ करती है। निर्लज्जों को उपर्युक्त बातें प्रिय होती हैं। (८२) अब, डोरी टूटने से जैसे कठपुतलियों का नाचना मन्द हो जाता है वैसे ही

प्राणायाम से कर्मेन्द्रियों का व्यवहार बन्द हो जाता है, (८३) अथवा सूर्य के अस्त होने के कारण जैसे उसकी किरणों का विस्तार भी बन्द हो जाता है, वैसा ही हाल मनोजय करने से बुद्धि और इन्द्रियों का होता है; (८४) एवं मन और प्राणों का संयमन करने से दसों इन्द्रियों का पंगु हो जाना उक्त लक्षण के कारण अचापल्य कहलाता है। (८५)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अब, ईश्वर-प्राप्ति के हेतु ज्ञानयोग में प्रवृत्त होने पर जैसे धैर्य की न्यूनता नहीं रहती, (८६) अग्नि में प्रवेश करने से मृत्यु-सरीखी हानि प्राप्त हो तथापि पतिव्रता स्त्री जैसे अपने प्राणेश्वर के हेतु उस हानि की परवा नहीं करती, (८७) वैसे ही विषरूपी विषयों के समुदाय को आत्मनाथ की प्राप्ति के लिए नियोजित कर शून्यमार्ग में दौड़ने की जो इच्छा होती है, (८८) जहाँ निषेध का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, विधि की कोई मर्यादा नहीं रक्खी जाती, अन्तःकरण में महासिद्धि की भी इच्छा नहीं उत्पन्न होती (८९) इस प्रकार जो मन स्वभावतः ईश्वर की ओर दौड़ता है, उसका नाम आध्यात्मिक तेज है। (१९०) अब सब सहनेहारों में श्रेष्ठ होते हुए भी गर्व का न होना ही क्षमा है, जैसे कि शरीर रोम धारण किये है, पर उसे उनकी खबर भी नहीं। (९१) और इन्द्रियों की गति मस्त हो जाय, अथवा प्रारब्धानुसार वे रोग-क्षुब्ध हो जायँ, अथवा हिताहितों की प्राप्ति या अप्राप्ति (९२) इत्यादि सभी बातों की एक ही समय महावाढ़ भी आ जाय, तथापि जो मनुष्य को अगस्त्य ऋषि से भी धैर्यवान् बना स्थिर रखती है, (९३) आकाश में उठी हुई अत्यन्त बड़ी धूम की रेखा को वायु जैसे एक ही झोके में उड़ा देती है (९४) वैसे ही हे पाण्डव! आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक इत्यादि सङ्कट प्राप्त हों तो उनका जो नाश करती है (९५) तथा चित्त-क्षोभ के समय जो धैर्य बनाये रख स्थिरता रखती है वह धृति कहलाती है। (९६) अब शुचिता ऐसी होती है जैसे शुद्ध किये हुए सोने का कलश गङ्गा के जल से भरा हो। (९७) क्योंकि शरीर से निष्काम आचरण करना और अन्तःकरण में शुद्ध विवेक रखना अन्तर्बाह्य शुचित्व का ही रूप

है। (९८) और गङ्गा का जल जैसे पाप और सन्ताप दोनों का नाश करता हुआ तथा तट पर के वृक्षों का पोषण करता हुआ समुद्र को जाता है, (९९) अथवा सूर्य जैसे ससार का अँधेरा मिटाता हुआ और सुन्दर प्रासाद प्रकट करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिए निकलता है, (२००) वैसे ही बद्धों को मुक्त करते हुए, डूबे हुओं को निकालते हुए, दुःखियों के सङ्कट मिटाते हुए, (१) बहुत क्या कहें, रात-दिन दूसरों का सुख बढ़ाते हुए स्वार्थ मे प्रवेश करना, (२) तथा अपने कार्य के लिए प्राणिमात्र के मार्ग में अहित की इच्छारूपी प्रतिबन्ध न करना, (३) हे किरीटी ! अद्रोहत्व है । यह हमें जैसा दिखाई दिया वैसा हमने वर्णन किया। (४) और हे पार्थ! गङ्गा जैसे शङ्कर के मस्तक पर पहुँचकर संकुचित हो गई है वैसे ही सन्मान से सर्वथा लजाना (५) हे सुमती! सर्वदा अमानित्व जानो। पीछे हम इसका बहुत-कुछ वर्णन कर चुके हैं वही फिर कहते हैं। (६) ब्रह्म-सम्पदा इन छब्बीस गुणों से युक्त रहती है। वह मानों मोक्षरूपी राजा का अग्रहार है; (७) अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानों वैराग्य रूपी सगर के भाग्य से इन गुणरूपी तीर्थों से युक्त नित्य-नूतन गङ्गा ही है, (८) अथवा मानों यह मुक्तिरूपी बाला इन गुण पुष्पो की माला लेकर निरपेक्ष वैराग्यरूप वर का कण्ठ खोज रही है; (९) अथवा इन छब्बीस गुणो की ज्योति लगा कर मानों गीता ही अपने आत्मारूपी निज पति को नीराजन करने के लिए प्राप्त हुई है, (२१०) अथवा इस गीता-समुद्र मे यह दैवी-सम्पत्ति एक शुक्ति दिखाई देती है और ये गुण उसमें से निकले हुए निर्मल मोती जान पड़ते हैं। (११) अधिक क्या वर्णन करूँ, ब्रह्मसम्पदा स्वभावत' इस प्रकार प्रकट होती है। दैवी गुणराशिरूपी सम्पत्ति का वर्णन तो हो चुका। (१२) अब, दोषरूप काँटो से जड़ी हुई आन्तरिक दु खों की जो बेल है उस आसुरी सम्पत्ति का हम वर्णन करते हैं। (१३) यद्यपि वह अनुपयोगी है तथापि त्याज्य वस्तु के त्याग करने के लिए उसे जानना चाहिए। इसलिए अपनी श्रवण-शक्ति को दुरुस्त कर सुनो। (१४) घोर पापों ने मानों नरकदु ख की महिमा बढ़ाने के हेतु जो सम्मेलन किया है वही यह आसुरी-सम्पत्ति है, (१५) अथवा विषवर्गो के समूह का ही नाम जैसे कालकूट है वैसे ही यह आसुरी सम्पत्ति दोषो का ही समुदाय है। (१६)

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

अब, इन आसुरी दोषों में जिस वीर की श्रेष्ठता की कीर्ति है वह दम्भ ऐसा है। (१७) जैसे संसार में अपनी माता को नग्न कर दिखाने से, तीर्थ-रूपिणी होने पर भी, वह पतन का कारण होती है, (१८) अथवा जैसे गुरूपदिष्ट विद्या को चौरस्ते में चिल्ला कर प्रकट करने से वह इष्टदा होने पर भी अनिष्ट का हेतु बनती है, (१९) अथवा जैसे बाढ़ में डूबते हुए को जो तुरन्त ही बचा कर परतीर पर पहुँचा देती है उस नाव को यदि कोई सिर से बाँध ले तो वही डुबा देती है, (२२०) हे पाण्डुसुत! जैसे जीवन का कारण जो अन्न है उसी का सेवन करते समय यदि कोई उसका वर्णन करे तो वह विषरूप हो जाता है, (२१) वैसे ही इह-परलोक का सखा जो धर्म है उसके लिए यदि घमण्ड किया जाय तो तारनेहारा होने पर भी वह पाप का हेतु हो जाता है। (२२) इसलिए धर्म के विस्तार को वाणी के चौरस्ते पर दिखाने से धर्म का अधर्म बन जाना ही दम्भ जानो। (२३) अब, मूर्ख की जिह्वा पर चार अक्षरों के छींटे पड़ते ही वह जैसे तत्त्वज्ञानियों की सभा को कुछ नहीं समझता, (२४) अथवा चाबुक-सवारों का घोड़ा जैसे ऐरावत को भी तुच्छ मानता है, अथवा कँटीली बाड़ी [बाड़] पर चढ़ा हुआ गिरगट जैसे स्वर्ग को भी तुच्छ समझता है, (२५) तृणरूपी ईंधन प्राप्त होते ही अग्नि जैसे आकाश की ओर दौड़ती है, डबरे का जल पाकर ही मीन जैसे समुद्र को कुछ नहीं समझती, (२६) वैसे ही स्त्री, धन, विद्या, स्तुति इनकी अधिकाई से ऐसा मत्त हो जाना, जैसे कि कोई दरिद्री एक दिन परान्न मिलने से मत्त हो जावे, (२७) अथवा अभ्र की छाया मिलते ही जैसे कोई अभागी घर तोड़ डाले, अथवा जैसे कोई मूर्ख मृगजल को देख जलाशय फोड़ डाले, (२८) बहुत क्या कहूँ, सम्पत्ति के कारण इस-इस प्रकार से उन्मत्त होना दर्प है। ये वचन अन्यथा मत समझो। (२९) और जगत् को वेदों में विश्वास है, और ईश्वर श्रद्धा से पूज्य है, तथा जगत् में प्रकाश देनेहारा एक सूर्य ही है, (२३०) संसार में स्पृहणीय वस्तु एक सार्वभौमपद है, और जीवित रहना ही निश्चय से सबों को प्रिय है, (३१) इसलिए यदि उत्साह से इनका वर्णन

करने जाइए तो उसे सुन कर जो भसर करता और फूलने लगता (३२) और कहता है कि खा डालो उम ईश्वर को, त्रिप दो उम वेद को जो मेरी महिमा की मर्यादा को भङ्ग करता है, (३३) पलङ्ग को जैसे ज्योति नहीं भाती, खद्योत को जैसे सूर्य से घृणा उत्पन्न होती है, एक टिटहरी ने जैसे समुद्र से भी स्पर्धा की थी, (३४) वैसे ही जो अभिमान के मोह के कारण ईश्वर यह का नाम भी नहीं सहता; पिता को कहता है कि यह मेरा मौत जैसा वैरी है, (३५) ऐसा जो मान्यता से फूला हुआ हो वह उन्मत्त अभिमानो मानो नरक का एक रूढ़ मार्ग है। (३६) दूसरों का सुख देखने का बहाना होते ही जो मनोवृत्ति को क्रोधाग्निरूपी त्रिप चढ़ जाता है, (३७) तपे हुए तेल को ठण्डे जल की भेंट होते ही जैसे अग्नि भड़कती है, चन्द्रमा को देखते ही जैसे सियार मन में जलता है, (३८) विश्व की अवस्था जिससे प्रकाशित होती है उस सूर्य का उदय देखकर प्रातःकाल ही जैसे पापी घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं, (३९) जैसे संसार के लिए सुखकारी प्रातःकाल चोरों को मृत्यु से भी निकृष्ट मालूम होता है, अथवा जैसे सर्प द्वारा पिया गया दूध भी विष हो जाता है, (२४०) अथवा जैसे वड़वाग्नि अगाध समुद्र-जल को पान करने पर भी जलती है और कभी शान्ति नहीं पाती, (४१) वैसे ही ज्यों-ज्यों दूसरों के विद्या, विनोद, ऐश्वर्य इत्यादि सौभाग्य दिखाई दें त्यों त्यों जो रोष दुगुना हो उसे क्रोध जानो। (४२) जिसका मन सर्प की बाँबी हो, आँखें छूटे हुए बाण हों, भाषण बिच्छुओं की वर्षा हो, (४३) और अन्य क्रियासमूह फौलादी आरा हो, इस प्रकार जिसका बहिरन्तर तीक्ष्ण है (४४) उसे मनुष्यों में अधम, पारुष्य का अवतार ही जानो। अब अज्ञान का लक्षण सुनो। (४५) शीतल या उष्ण स्पर्श का भेद जैसे पत्थर नहीं जानता, अथवा जन्मान्ध जैसे रात और दिन नहीं पहचानता, (४६) पेट में आग लग रही हो तो जैसे कोई खाने के विषय खाद्याखाद्य का विचार नहीं करता, अथवा पारस जैसे यह भेद नहीं करता कि यह सोना है अथवा लोहा, (४७) अथवा करछी जैसे अनेक रसों में प्रवेश करती है परन्तु स्वयं रसस्वाद चाखना नहीं जानती, (४८) अथवा वायु जैसे भले-बुरे मार्ग की परीक्षा नहीं करती, वैसे ही कर्तव्या-कर्तव्य के विषय में अन्धता होना (४९) बालक जैसे स्वच्छ या मलिन न देखकर जो दीखे उसे केवल मुँह में ही डाल लेता है (२५०) वैसे ही पाप-पुण्य की खिचड़ी कर खाने पर बुद्धि को कड़वी या मधुर न मालूम होना, ऐसी जो दशा है (५१) उसका नाम अज्ञान है। ये वचन अन्यथा नहीं हैं।

इस प्रकार हम छहों दोषों के लक्षण कह चुके। (५२) इन छहों दोषों के आश्रय से यह आसुरी सम्पत्ति बलवती हुई है। जैसे सर्प का शरीर छोटा-सा पर विष बड़ा होता है; (५३) अथवा जैसे तीनों अग्नियों की पंक्ति देखने में छोटी- सी मालूम होती है परन्तु उसकी प्राणाहुति के लिए विश्व भी पूरा नहीं पड़ता, (५४) अथवा त्रिदोष हो जाने पर जैसे ब्रह्मदेव की शरण जाने से भी मृत्यु नहीं टलती वैसे ही ये उन तीनों के दूने छः दोष जानो। (५५) इन सम्पूर्ण छहों से यह आसुरी सम्पत्ति उभराई हुई है इसलिए वह न्यून नहीं है। (५६) परन्तु जैसे कभी दुष्टग्रहों का समुदाय एक ही राशि में स्थित हो जाता है, अथवा जैसे निन्दा करनेहारे के समीप सम्पूर्ण पाप पहुँच जाते हैं, (५७) मरनेहारे के शरीर को जैसे सभी रोग व्याप्त कर लेते हैं, अथवा जैसे बुरे मुहूर्त्त पर बुरे योग आ मिलते हैं, (५८) अथवा जैसे कोई विश्वास करनेहारा चोरों के हाथ लग जाता है; अथवा कोई थका हुआ मनुष्य बाढ़ में आ पड़ता है, जैसे ही ये दोष मनुष्य का अनिष्ट करते हैं, (५९) अथवा मृत्यु के समय बकरी को जैसे सात डङ्कों का बिच्छू मार देता है वैसे ही मनुष्य को ये छहों दोष आ लगते हैं। (२६०) मोक्षमार्ग की ओर जिसने पानी छोड़ दिया है, जो संसार से निकलना नहीं चाहता; इसी लिए उसमें डूबा रहता है, (६१) अधम योनियों से उतरते हुए हे किरीटी! जो स्थावरों के नीचे आ बैठता है; (६२) और वर्णन रहने दो, उस मनुष्य में ये छहों दोष आसुरी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं यह जानो। (६३) इस प्रकार ये दोनों सम्पत्तियाँ जो संसार में प्रसिद्ध हैं हमने अलग-अलग लक्षणों सहित कह बताईं। (६४)

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥५॥

इन दोनों में पहली, जिसे हमने दैवी कहा वह, मानों मोक्षरूपी सूर्य का प्रकाशित अरुणोदय है; (६५) और दूसरी जो आसुरी सम्पत्ति है वह मानों जीव के लिए मोहरूपी लोहे की साँकल है। (६६) परन्तु यह सुन कर मन में डरो मत। दिन क्या रात्रि का डर रखता है? (६७) हे धनञ्जय! यह आसुरी सम्पत्ति उसके बन्धन के लिए है जो इन छहों दोषों का आश्रय बनता है। (६८) तुमने तो

हे पाण्डव ! हमने जो दैवी गुणों का वर्णन किया उनके समुद्र वन जन्म लिया है। (६९) इसलिए हे पार्थ ! तुम इस दैवी सम्पत्ति के स्वामी होकर कैवल्य के सुख को प्राप्त हो। (२७०)

द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दैव और आसुर सम्पत्तिमान् मनुष्यों के व्यवहार का प्रसिद्ध मार्ग अनादि काल से सिद्ध है। (७१) जैसे निशाचर रात्रि के समय व्यापार करते हैं और मनुष्य इत्यादि दिन के समय व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, (७२) वैसे ही हे किरीटी ! संसार में दैवी और राक्षसी दोनों सृष्टियाँ अपने-अपने व्यापार के अनुसार चलती हैं। (७३) इनमें से दैवी सम्पत्ति का वर्णन हम पीछे ज्ञानवर्णन इत्यादि प्रस्ताव के समय उत्तम रीति से विस्तार-सहित कर चुके हैं। (७४) अब जो आसुरी सृष्टि है वहाँ की वार्ता कहते हैं, खूब ध्यान से सुनो। (७५) वाद्य के बिना किसी को ध्वनि नहीं सुनाई दे सकती, अथवा पुष्प के बिना जैसे मकरन्द नहीं मिल सकता (७६) वैसे ही यह आसुरी प्रकृति भी एक-आध शरीर का स्वीकार किये बिना केवल अकेली गोचर नहीं होती। (७७) ईंधन में प्रकट हुई अग्नि जैसे दिखाई देती है, वैसे ही प्राणियों के शरीर का आश्रय ले रही यह प्रकृति हाथ लगती है। (७८) उस समय प्राणियों की देह-दशा ऐसी हो जाती है जैसी कि ईख की। ईख की बाढ़ की ही तरह उसके आन्तरिक रस की भी बाढ होती है। (७९) अब हे धनञ्जय ! हम उन प्राणियों का वर्णन करते हैं जो आसुरी दोषों के समूह से घने हैं। (२८०)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

इस ज्ञान का कि पुण्य में प्रवृत्त होना चाहिए और पाप से निवृत्त होना चाहिए उनके मन में अन्धकार रहता है। (८१) जैसे [टसर] का कीड़ा जैसे निकलने या प्रवेश करने के मार्ग की ओर चित्त न दे कर शीघ्र ही सङ्कट में पड़ता है, (८२) अथवा मूर्ख जैसे इस आगे की बात का कि दिया हुआ ऋण वसूल होगा कि न होगा, विचार न करके चोरों को द्रव्य दे देता है (८३) वैसे ही आसुर जन प्रवृत्ति

और निवृत्ति दोनों नहीं जानते और शुचित्व तो वे स्वप्न में भी नहीं देखते। (८४) कोयला अपना कालापन छोड़ दे, चाहे कौआ भी सुफेद हो जावे; राक्षस भी मांस खाने से उकता जावे, (८५) परन्तु हे धनञ्जय! मद्य का पात्र जैसे कभी पवित्र नहीं होता वैसे ही आसुर प्राणियों को शुचिता नहीं रहती। (८६) विध्युक्त कर्मों की इच्छा करना, अथवा अपने पूर्वजों की रीति के अनुसार चलना, अथवा शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करना इत्यादि बातें वे जानते ही नहीं। (८७) जैसे बकरी का चरना या वायु का चलना या अग्नि का जलना चाहे जैसा होता है, (८८) वैसे ही वे आसुरजन स्वेच्छा को आगे कर आचरण करते हैं। सत्य से तो उन्हें सर्वदा वैर ही होता है। (८९) बिच्छू अपने डंक से यदि गुदगुदी पैदा करे तभी उनके सत्य भाषण बोलने की सम्भावना हो सकती है। (२९०) अपान द्वार से कभी सुगन्ध का निकलना हो सके तभी उन आसुरों के समीप सत्य दिखाई दे सकता है। (९१) इस प्रकार वे कुछ न करते हुए स्वभावतः बुरे होते हैं। अब हम उनके भाषण की अपूर्वता का वर्णन करते हैं। (९२) वास्तव में ऊँट का शरीर कैसे भला-चङ्गा हो सकता है? वैसा ही आसुरों का भी हाल है। वह वर्णन भी अवसरानुसार सुनो। (९३) हम स्पष्ट कहते हैं कि धुँवारे का मुँह जैसा धुँवे के भभके उगलता है वैसे ही उनके शब्द होते हैं। (९४)

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

यह जगत् एक अनादि स्थल है, इसका नियन्ता ईश्वर है, यहाँ न्यायान्याय आचरणों का निर्णय वेद की कचहरी में होता है; (९५) वेद जिसे अन्यायी कहता है उसे नरकभोग का दण्ड भोगना पड़ता है और वह जिसे न्यायी कहता है वह सुख से स्वर्ग में जीवन धारण करता है। (९६) हे पार्थ! यह जो विश्व-व्यवस्था अनादिकाल से चली है उसे वे सब वृथा समझते हैं। (९७) वे कहते हैं कि यज्ञों ने मूर्ख याज्ञिकों को ठग लिया है, प्रतिमा या लिङ्गों ने देवों पर विश्वास कराकर पागल लोगों को फँसाया है, और गेरुवे कपड़े पहननेवाले योगी भी समाधि के भ्रम में फँसे हैं। (९८) संसार में अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ मिले उसका उपभोग लेने के अतिरिक्त क्या

और कोई पुण्य है? (९९) अथवा निजाकी निर्बलता के कारण यदि विषयों का उपार्जन नहीं हो सकता है तो विषय-सुख से विहीन हो दुःखी होना ही पाप है। (२००) धनवानों के प्राण लेना यद्यपि पाप हो तथापि उनका सर्वस्व हाथ लगना वास्तव में पुण्य का फल है। (१) बलवान् का निर्बल को खाना जो निषिद्ध कर्म कहा जाय तो मछलियों का निर्वंश क्यों नहीं हो जाता? (२) और यदि ऐसा कहो कि प्रजासाधन के हेतु उत्तम कुल देखकर कुमार और कुमारी का विवाह उत्तम मुहूर्त पर करना चाहिए, (३) तो पशु-पक्षी इत्यादि के विवाह—जिनकी सन्तति की गणना नहीं की जा सकती—कौन से विधि विधान-पूर्वक हुए हैं? (४) चोरी कर लाया हुआ धन किसे विषरूप हुआ है? अपनी रुचि के अनुसार व्यभिचार करने से क्या कोई कोढ़ी हो जाता है? (५) इसलिए ईश्वर अपना स्वामी है, वह धर्माधर्म का भोग करवाता है, और जो धर्माधर्म करता है वही पर-लोक में सुखदुःख भोगता है (६) आदि विधान करना, परलोक या देव दिखाई नहीं देता इसलिए, वृथा है। करनेहारा ही मर जाता है तो भोगों के लिए स्थल ही कौन सा रहा? (७) वास्तव में स्वर्गलोक मे उर्वशी के सङ्ग इन्द्र जैसा सुखी है वैसा ही कृमि भी नरक में पड़ा हुआ सन्तोष मानता है। (८) अतएव नरक या स्वर्ग पाप या पुण्य के स्थल नहीं हैं, क्योंकि दोनों स्थानों में कामसुख का ही भोग है। (९) एतावता सकाम स्त्री-पुरुषों के युग्मों के संयोग से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है; (२१०) और वह अपने स्वार्थ के लिए अपने इच्छा-नुसार जिन जिन वस्तुओं का पोषण करता है उनका नाश भी परस्पर द्वेष के द्वारा काम ही करता है। (११) अतः काम के अति-रिक्त इस जगत् का दूसरा मूल ही नहीं है। यह उन आसुरों का मत है। (१२) अस्तु, अब इस निन्दास्पद वर्णन का विस्तार नहीं करते। इसका वर्णन करना वृथा बोलना है। (१३)

> एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
> प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥

वे आसुर जन ईश्वर के विरुद्ध केवल बकबक ही करते हैं। यह भी नहीं कि अन्तःकरण में कोई एक निश्चय रखते हों। (१४) बहुत क्या, निज को खुल्लमखुल्ला पाखण्डी कहला कर अन्तःकरण में मानों

नास्तिकता का एक निशान खड़ा कर देते हैं। (१५) उस समय स्वर्ग के लिए आदर अथवा नरक का डर आदि वासनाओं का अंकुर ही जल जाता है, (१६) और हे सुहृद ! वे केवल अपने देहरूपी खोल में विषयरूप कीचड़ में अपवित्र जल के बुलबुले के समान डूब जाते हैं। (१७) जलचरों की जब मृत्यु आती है तब दह में ढीमर उपस्थित हो जाते हैं, अथवा शरीर छूटने का समय आता है तो रोगों का उदय हो जाता है (१८) अथवा केतु का उदय जैसे जगत् के अहित के हेतु होता है वैसे ही वे आसुर जन लोगों की मृत्यु के लिए ही जन्म लेते हैं। (१९) अशुभरूपी वृक्ष उगने पर उसके जो अंकुर फूटें वैसे ही वे हैं; अथवा वे मानों पाप के चलते-फिरते कीर्तिस्तम्भ हैं। (३२०) और अग्नि जैसे आगे-पीछे जलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती वैसे ही वे हर किसी का विपरीत ही करते हैं। (२१) अब श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं कि ऐसे कर्म वे जिस बल के सहाय से करते हैं उसका वर्णन सुनो। (२२)

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहादृगृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

जाल पानी से नहीं भरता। आग ईंधन से शान्त नहीं होती। ऐसे कभी न अघानेहारों में श्रेष्ठ जो भूखा काम है (२३) उसका प्रेम अन्तःकरण में रख। हे पाण्डव ! वे दम्भ, सन्मान इत्यादि का समुदाय इकट्ठा करते हैं। (२४) हाथी के मत्त हो जाने से जैसे मदिरा की विशेषता प्रकट होती है वैसे ही ज्यों-ज्यों शरीर वृद्ध होता जाता है त्यों-त्यों वे अभिमान से फूलते हैं (२५) और आग्रह के स्थल भी वही बनते हैं। उस पर उन्हें मूर्खता जैसा सहायक मिल जाता है, फिर उनके निश्चय की स्थिति का क्या वर्णन करें ! (२६) जिनसे दूसरों को दुःख हो, जिनसे दूसरों के अन्तःकरण व्याकुल हों, ऐसे कर्म करते हुए उनकी जन्मवृत्ति दृढ़ हो जाती है। (२७) फिर वे अपने कर्मों की शेखी मारते हैं और सब संसार को धिक्कारते हैं और दसों दिशाओं में अपनी वासना का जाल फैलाते हैं। (२८) ऐसे गुणों के विस्तार से, जैसे कोई धर्मार्थ छोड़ी हुई गाय खेतों का नाश करती फिरती है वैसे, वे पापों की ही महिमा बढ़ाते हैं। (२९)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

'केवल उपर्युक्त सामग्री के सहाय से वे कर्म मे प्रवृत्त होते हैं तथा जीवन के अनन्तर की भी चिन्ता करते हैं। (२३०) जो पाताल से भी गहरी होती है, जिसकी विशालता के सामने आकाश भी छोटा है, तथा जिसके सम्मुख त्रिभुवन एक अणु के बराबर भी नहीं है, (३१) जो भोगरूपी वस्त्र का माप करनेहारी है, जैसे रमणी अपने प्रिय वल्लभ को छोड़ना नहीं जानती वैसे ही जो हृदय मे निरन्तर चिन्तन करती है, (३२) ऐसी अपार चिन्ता को वे सर्वदा बढ़ाते रहते हैं और अन्तःकरण में निःसार विषय इत्यादि का सेवन करते हैं। (३३) स्त्रियों के गीत सुनने चाहिएँ, आँखों से स्त्रियों के रूप देखने चाहिएँ, सब इन्द्रियों से स्त्रियों का ही आलिङ्गन करना चाहिए, (३४) जिस पर से अमृत की निछावर की जावे ऐसा सुख स्त्री के अतिरिक्त है ही नहीं, इस प्रकार का निश्चय उनके चित्त में रहता है। (३५) और उसी स्त्री भोग के लिए वे स्वर्ग, पाताल या दिशाओं की सीमा के बाहर भी दौड़ते फिरते हैं। (३६)

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

मछली जैसे बिना विचारे बड़ी आशा से आमिष का कौर लील लेती है, वही हाल उनका विषयों की आशा से हो जाता है। (३७) जिस वस्तु की इच्छा हो वह तो प्राप्त नहीं होती पर सूखी आशा-सन्तति बढ़ाते-बढ़ाते वे कोसे के कीड़े बन जाते हैं (३८) और जो अभिलाष फैलाते हैं उसका अपूर्ण होना ही द्वेष है, एवं उनका पुरुषार्थ काम या क्रोध के सिवाय कोई अधिक नहीं है। (३९) सिपाही जैसा दिन को मालिक के आगे-आगे चलता है और रात को पहरा देता है, अर्थात् जैसे हे पाण्डव! उसे रात और दिन विश्राम ही नहीं मिलता, (२४०) वैसे ही काम ऊँचे से ढकेलता है तो वे क्रोध की टेकड़ी पर आ गिरते हैं, तथापि वे राग और द्वेष के प्रेम के कारण कहीं फूले नहीं समाते। (४१) मन के अभिलाषानुसार विषय-वासना का समुदाय इकट्ठा किया हो तथापि उसका भोग तो द्रव्य

के ही द्वारा हो सकेगा, कि नहीं ? (४२) अतएव उस भोग के लिए आवश्यक द्रव्य का उपार्जन करने के हेतु वे चारों ओर से संसार से छीना-झपटी करते हैं। (४३) किसी को अवसर देख मारते हैं, किसी का सर्वस्व हर लेते हैं, किसी के नाश के लिए अनेक यन्त्रों का प्रबन्ध करते हैं। (४४) जैसे बहेलिये जङ्गल को जाते समय फन्दे, बोरे, जालियाँ, कुत्ते, बाज पक्षी, चिमटियाँ, भाले इत्यादि ले जाते हैं, (४५) और अपना पेट पालने के लिए प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड मार के लाते हैं, वैसा ही निकृष्ट कर्म वे आसुर लोग करते हैं। (४६) दूसरों के प्राणों का घात कर द्रव्य प्राप्त करते हैं और द्रव्य मिलने पर उन्हें अन्तःकरण में अत्यन्त सन्तोष होता है। (४७)

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

वे मन में कहते हैं कि आज हमने बहुतेरों की सम्पत्ति हस्तगत कर ली ! हम धन्य हुए कि नहीं ? (४८) इस प्रकार ज्योंही वे निज की प्रशंसा करते हैं त्योंही मन में और भी अभिलाषा उत्पन्न होती है। और साथ ही वे सोचने लगते हैं कि कल और दूसरों का धन हर लावेंगे, (४९) तथा यह जितना धन प्राप्त किया है उतनी पूँजी से शेष सब चराचर का नफा प्राप्त करेंगे, (३५०) और इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के धन के स्वामी हमी बनेंगे और फिर जिसे देखेंगे उसे बचने न देंगे। (५१)

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

ये शत्रु जिनका हमने वध किया है थोड़े से हैं; और भी अनेकों को मारेंगे और फिर हमीं अकेले प्रतिष्ठा के साथ रहेंगे। (५२) फिर हमारे जो आज्ञाधारक होंगे उनके अतिरिक्त अन्यों का नाश कर डालेंगे। बहुत क्या कहें, संसार में ईश्वर हमीं हैं। (५३) हम भोगरूपी राज्य के राजा हैं। आज हम सब सुखों के आश्रय हैं, अतएव इन्द्र भी हमारे सन्मुख तुच्छ है। (५४) हम काया-वाचा-मन से जो करना चाहें वह कैसे न होगा ? आज हमारे अतिरिक्त आज्ञापालन करानेहारा दूसरा कौन है ? (५५) काल तभी तक बलवान्

समझना चाहिए जब तक उसे महाबलवान् हम नहीं दिखाई दिये। सच तो यह है कि सुख की एकमात्र राशि हमीं हैं। (५६)

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

कुबेर धनाढ्य कहलाता है पर वह भी हमें नहीं पाता। हमारे समान सम्पत्ति विष्णु के भी नहीं है। (५७) हमारे कुल के महत्त्व अथवा हमारी जाति या गोत्रसमुदाय के सामने ब्रह्मा भी कुछ घटिया जान पड़ता है। (५८) अतएव ईश्वर इत्यादि सब वृथा नाम की ही प्रतिष्ठा बघारते हैं। हमारी बराबरी कर सके ऐसा कोई भी नहीं है। (५९) जादू-टोना जो लुप्त हो गया है उसका हम उद्धार करेंगे। शत्रुओं को पीड़ा करनेहारे यज्ञों की भी स्थापना करेंगे। (३६०) जो लोग हमारी स्तुति गावेंगे, हमारा वर्णन करेंगे, नाट्य या नाच कर हमें रिझावेंगे उन्हें हम जो वे माँगेंगे सो देंगे। (६१) मादक अन्न या पान सेवन कर, स्त्रियों का आलिङ्गन कर, हम त्रिभुवन में आनन्दरूप हो रहेंगे। (६२) बहुत क्या वर्णन करें, वे आसुरी प्रकृति से उन्मत्त हुए जन इस प्रकार अपरिमित मनोरथों के वश हो आकाश-पुष्प सूँघने की चेष्टा करते हैं। (६३)

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

ज्वर के आवेश में रोगी जैसे चाहे जैसी बकबक करता है वैसे ही वे आसुर जन सङ्कल्प के वश हो बका करते हैं। (६४) अज्ञानरूपी धूल में जा पड़ने से वे आशारूपी आँधी के सङ्ग मनोरथरूपी आकाश में घूमते रहते हैं। (६५) आषाढ के मेघ जैसे निरन्तर बने रहते हैं; अथवा समुद्र की लहरें जैसे अखण्डित रहती हैं वैसे ही वे सदैव अनेक मनोरथों की इच्छा करते हैं, (६६) तब उनके हृदयों में मनोरथों की बेलों की जालियाँ बन जाती हैं मानो कमलों के फूल काँटों से फट गये हों; (६७) अथवा हे पार्थ! पत्थर पर जैसे कोई हाँड़ी फूट जाय और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ वैसे उनका अन्तःकरण अनेकधा हो जाता है। (६८) तब फिर ज्यों-ज्यों रात होती है त्यों-त्यों जैसे अँधेरा अधिक होता जाता है वैसे ही उनके हृदय में मोह बढ़ता

जाता है। (६९) और ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है त्यों-त्यों विषय-प्रीति भी बढ़ती जाती है और जहाँ विषय है तहाँ पाप का ठौर है। (३७०) बहुतेरे पाप मिल कर जब अपना बल प्रकट करते हैं तो जीते-जी मानों नरक ही उपस्थित हो जाता है। (७१) अतएव हे सुमति! जो मनोरथों का पालन करते हैं वे उस नरक की बस्ती पाते हैं। (७२) जहाँ तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्तों के वृक्ष हैं, खैर के अङ्गारों के पर्वत हैं और तपे हुए तेल के उफनते हुए समुद्र हैं, (७३) जहाँ यातनाओं की पंक्ति ही नित्य नूतन यमदण्ड है, उस दारुण नरकलोक में वे जा पड़ते हैं (७४) ऐसे नरक के चुने हुए भाग में जिन-जिन का जन्म होता है वे भी देखो तो यज्ञ-यागादि करने में भूले हुए रहते हैं। (७५) यों तो वे सब यज्ञादि क्रियाओं की मूर्त्तियाँ ही हैं परन्तु हे धनञ्जय! उनका आचरण केवल नटों के समान होने के कारण वे क्रियाएँ विफल हो जाती हैं। (७६) जैसे कुलटा स्त्रियाँ वल्लभ की प्रीति सम्पादन कर केवल पति के अस्तित्व से ही सन्तोप मानती हैं, (७७)

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

—वैसे ही वे आप ही निज को श्रेष्ठ समझ कर असामान्य गर्व से फूलते हैं। (७८) गलाये हुए लोहे के खम्भे अथवा आकाश में ऊँचे बढ़े हुए पर्वत जैसे नम्र होना नहीं जानते वैसा ही उनका भी हाल समझो। (७९) वे अपनी भलाई से आप ही अन्तःकरण में सन्तुष्ट हो और सबको तृण से भी तुच्छ समझते हैं। (३८०) हे धनुर्धर! इसके अतिरिक्त वे धनरूपी मदिरा से मत्त हो कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार को अलग कर देते हैं। (८१) जिनके समीप उपर्युक्त सामग्रियाँ हैं उनके पास यज्ञ की वार्त्ता ही क्या पूछना है! तथापि पागल क्या नहीं करते? (८२) एवं किसी समय वे मूर्खता-रूपी मदिरा की धुन में यज्ञों की भी अवहेलना आरम्भ कर देते हैं। (८३) न कुण्ड बनाते हैं, न वेदी, न मण्डप और न योग्य साधन-सामग्री रखते हैं तथा विधि से और उनसे तो सदा ही विरोध रहता है। (८४) देव या ब्राह्मण का नाम लिये हुए तो हवा भी आड़ी नहीं जा सकती—ऐसी जहाँ स्थिति है तहाँ देव या ब्राह्मण कौन आने लगा? (८५) पर चतुर लोग

जैसे कृत्रिम बछड़ा बना कर गाय के सम्मुख रख दूध दुह लेते हैं (८६) वैसे ही वे आसुर जन बड़ी महत्त्वाकांक्षा रख कर यज्ञ के नाम से सम्पूर्ण जगत् का निमन्त्रण कर व्यवहार के बहाने सबको लूटते हैं। (८७) एवं जो कुछ वे अपने उत्कर्ष के लिए हवन करते हैं उससे मानों समस्त प्राणियों के नाश की इच्छा करते हैं। (८८)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

और फिर स्वयं अपने दीक्षितपन का मानों डङ्का और नौबत बजा कर संसार में वृथा डौंडी पीटते हैं, (८९) तथा उस महत्त्व से उन अधमों को और अधिक घमण्ड चढ़ता है। जैसे अन्धकार को काजल के पुट दिये जायँ (९०) उसी प्रकार उनकी मूर्खता घनीभूत होती है, उनका औद्धत्य बढ़ता है तथा अहङ्कार और अविचार दुगुना होता है। (९१) फिर मानों दूसरे बलवान् की वार्ता ही बिलकुल मिटा देने के लिए उनमें बलवानों से भी अधिक बल आ जाता है। (९२) इस प्रकार अहङ्कार और बल का ऐक्य हो जाने से उनका दर्प-रूपी समुद्र अपनी सीमा रेखा का उल्लङ्घन कर उफनाता है। (९३) दर्प के उभड़ने से काम का पित्त भी भड़कता है और उसके प्रकोप से क्रोधाग्नि भी खूब भभक उठती है; (९४) तब जैसे ग्रीष्मऋतु में तेल या घी के कोठे में अत्यन्त प्रखर आग लगे और उस पर हवा भी खूब तेज चले (९५) वैसे ही जिनमें अहङ्कार बलवान् हो गया हो और दर्प, काम और क्रोध से वह संयुक्त हो गया हो, (९६) वे हे वीरेश! अपने इच्छानुसार किन प्राणियों का वध कर हिंसा न करेंगे? (९७) हे धनुर्धर! पहले तो वे जारण मारण इत्यादि से अपना ही मांस या रक्त खर्च करते हैं। (९८) उसमें जिन शरीरों को वे पीड़ा देते हैं उनमें रहनेवाला मैं जो आत्मा हूँ उसे वे घाव सहने पड़ते हैं, (९९) तथा वे जारण-मारण करनेहारे और जो कुछ उपद्रव करते हैं उसमें मुझ चैतन्य को ही पीड़ा पहुँचती है। (४००) उनके जारण मारण से कदाचित् कोई बच जाय तो उस पर भी दुर्जनता का पत्थर फेंकते हैं। (१) पतिव्रता या सत्पुरुष, दानशील याज्ञिक, तपस्वी या कोई असाधारण सन्यासी, (२) अथवा कोई भक्त या महात्मा आदि जो मेरे निज के निवास-

स्थान वेद-विहित होमधर्मों से शुद्ध हुए हैं (३) उन्हें वे दुर्जन द्वेपरूपी तीखे कालकूट विष का लेप कर दुर्वचनों के तीव्र बाण मारते हैं। (४)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इस प्रकार जो सब तरह से मुझसे ही वैर करने में प्रवृत्त हैं उन पापियों का मैं क्या करता हूँ सो सुनो। (५) मनुष्य-देह को एक वस्त्राच्छादन समझ कर संसार से रूठने की योग्यता उनसे मैं हर लेता हूँ और उन्हें ऐसे रखता हूँ (६) कि उन मूर्खों को क्लेश-रूपी गाँव का घूरा या संसारसमुद्र का पनघट जैसी तमोयोनियों की वृत्ति ही दे देता हूँ; (७) और फिर मैं ऐसा करता हूँ कि जहाँ आहार के नाम से तृण भी नहीं उगता ऐसे वन के रहनेहारे बाघ बिच्छू इत्यादि वे बने। (८) वहाँ वे भूख से अत्यन्त व्याकुल हो निज को ही काट-काट खाते और मर-मर कर फिर जन्म लेते ही रहते हैं; (९) अथवा मैं उन्हें सर्प बनाता हूँ, जो बिल अटका हुआ निज की विषाग्नि से अपने ही शरीर की त्वचा जला लेता है; (४१०) तथा, लिया हुआ श्वास बाहर छोड़ने में जितना काल लगता है! उतनी भी विश्रान्ति उन दुर्जनों को न मिले (११) ऐसी स्थिति में रख कर मैं उन्हें उस क्लेश में से, कोटिशः कल्प भी गिनती में थोड़े हों उतने काल तक, बाहर नहीं निकालता। (१२) तथापि अन्त में उन्हें जहाँ जाना पड़ता है वहाँ का यह पहला मुकाम समझो। अन्त के स्थान को पहुँचने पर जो दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं उनके सामने अन्य दुःख कुछ दारुण नहीं हैं। (१३)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी सम्पत्ति इतनी घोर रहती है। वह सम्पत्ति नहीं, उन लोगों की प्राप्त की हुई अधोगति ही समझो। (१४) इसके अनन्तर व्याघ्र इत्यादि तामस योनियों में जो थोड़ी-सी देहाधाररूपी स्वस्थता रहती है (१५) उसका हेतु भी मैं हर लेता हूँ। और फिर उनके लिए सब कुछ एकदम तमोरूप ही हो जाता है, जहाँ जाने से कि अँधेरा

भी काला-कलूटा हो जाता है। (१६) पाप को भी जिनसे घृणा होती है, नरक जिनसे डरता है, खेद भी जिनसे खिन्न हो मूर्च्छित होता है, (१७) मल जिनके सम्बन्ध से मलिन होता है, सन्ताप जिनसे सन्तप्त होता है। जिनके नाम से महाभय भी काँपता है, (१८) पाप जिनसे चकता जाते हैं, अमङ्गल को भी जिन्हें देख असगुन होता है, तथा छूत भी जिनकी छूत से डरती है, (१९) ऐसे इस संसार के निकृष्ट जनों में जो अधम हैं उनका जन्म, उन आसुरों को, तामस योनियाँ भोगने के पश्चात्, प्राप्त होता है। (४२०) हाय! वर्णन करते हुए वाणी को रोना आता है तथा स्मरण होते ही मन पीछे हटता है। हाय! हाय! इन मूर्खों ने कितना पाप जोड़ रक्खा है। (२१) वे ऐसी आसुर सम्पत्ति का उपार्जन क्यों करते हैं जिससे ऐसी अधोगति प्राप्त होती है? (२२) इसलिए हे धनुर्धर! जहाँ आसुर-सम्पत्तिवाले लोग रहते हैं उस मार्ग से ही न चलना चाहिए, (२३) तथा दम्भ इत्यादि छहों दोष जिनमें सम्पूर्ण बसते हैं उनका त्याग करना चाहिए, इसमें—स पूछो तो—कहना ही क्या है? (२४)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ इन तीनों का बल जहाँ विशेष बढ़ा हुआ हो वहाँ अशुभ ही उपजे समझो। (२५) हे धनञ्जय! हर किसी को अपना ही दर्शन देने के लिए सब दुःखों ने इन तीनों को मार्ग-दर्शक बना रक्खा है, (२६) अथवा पापियों को नरक भोगने के लिए पहुँचाने के हेतु उनका मेल मानों संसार में पापों की एक जङ्गी-सभा ही है। (२७) नरक नरक तभी तक पोथियों में सुन लो जब तक ये तीनों हृदय में जागृत नहीं होते। (२८) अपाय इन्हीं के कारण सुगम हो जाते हैं। यातना इन्हीं के कारण सस्ती हो जाती है और हानि हानि कुछ नहीं है, इन तीनों का होना ही हानि है। (२९) हे सुभट! बहुत क्या कहें, हमने ऊपर जिस निकृष्ट नरक का वर्णन किया था यह त्रिपुटी उसका द्वार है। (४३०) इन काम, क्रोध, लोभ के बीच जो दिल से रहेगा उसे नरकपुरी की सभा यहीं प्राप्त हो जावेगी। (३१) अतएव हे किरीटी! सब विषयों में इस

कामादि दोषों की निकृष्ट त्रिपुटी का निरन्तर त्याग ही करना चाहिए। (३२)

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति पराङ्गतिम् ॥२२॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में से कोई भी पुरुषार्थ तभी सिद्ध हो सकता है जब इस दोष-समुदाय का त्याग किया जाय। (३३) जब तक ये तीनों जागृत हैं तब तक देव भी कहते हैं कि कल्याण की प्राप्ति की वार्ता हमारे कान नहीं सुन सकते। (३४) जिसे निज की प्रीति हो, जो आत्मनाश से डरता हो उसे यह मार्ग ही न लेना चाहिए तथा सावधान रहना चाहिए। (३५) समुद्र में तैरने के लिए जैसे कोई छाती से पत्थर बाँध कर कूदे, अथवा जीते रहने के लिए कालकूट भोजन करे, (३६) वैसी कार्यसिद्धि इन काम, क्रोध और लोभ से होती है। इसलिए इनका नाम ही मिटा दो। (३७) जो कदाचित् यह तीन कड़ियों की साँकल टूट जाय तो अपने मार्ग से सुख से चलते बनेगा। (३८) त्रिदोष शरीर से निकल जायँ, चुगली, चोरी, छिनाली, तीनों दुर्गुणों से नगर मुक्त हो जाय, अथवा अन्तःकरण के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सन्ताप शान्त हो जायँ, तो जैसा सुख होता है (३९) वैसा ही सुख संसार में काम आदि तीनों दोषों का त्याग करने से प्राप्त होता है; तथा मोक्ष-मार्ग में सज्जनों की सङ्गति प्राप्त होती है। (४४०) फिर प्रबल सत्सङ्ग से और सच्छास्त्र के बल से जन्म-मृत्यु-रूपी पथरीला जङ्गल पार हो सकता है (४१) और फिर गुरुकृपा से उस नगरी का लाभ होता है जो सदा भली भाँति सम्पूर्ण आत्मानन्द से बसी है। (४२) वहाँ प्रेमियों की जो परम सीमा है उस आत्मा-रूपी माता की भेंट होती है और उसे हृदय से लगाते ही यह सांसारिक कोलाहल बन्द हो जाता है। (४३) अतः जो काम-क्रोध-लोभ को झटकार कर इनसे दूर खड़ा होगा वही ऐसे लाभ का स्वामी होगा। (४४)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराङ्गतिम् ॥२३॥

अन्यथा जो आत्मचोर ऐसा करना नहीं चाहता और काम

इत्यादि दोषों के बीच सिर दिये रहता है, (४५) संसार में मय पर समान कृपावान् और हिताहित दिखानेवाला दीपक जो श्रेष्ठ वेद है उसका जो अवमान करता है, (४६) जो विधि की मर्यादा नहीं रखता, आत्महित की इच्छा नहीं रखता, केवल इन्द्रियों की इच्छा बढ़ाता जाता है, (४७) जो मानों इसी शपथ का पालन करता है कि काम, क्रोध और लोभ का पीछा न छोड़ूँगा, तथा जो स्वेच्छाचार के असीम वन में प्रवेश करता है (४८) उसे फिर कभी मुक्तता रूपी नदी का पानी पीने के लिए नहीं मिल सकता। उस सुख की कहानी उसे स्वप्न में भी दुर्लभ है। (४९) और परलोक का नाश तो उसका निश्चय से होता ही है परन्तु उसे ऐहिक भोग भी भोगने का लाभ नहीं होता। (४५०) जैसे कोई ब्राह्मण मछली के लोभ से धीमरों में मिल जाय पर वहाँ भी नास्तिक कहलाया जाय (५१) वैसे ही विषयों की इच्छा से जो अपना परलोक खो देता है मरण उसे और दूसरी ओर ले जाता है। (५२) इस प्रकार न परलोक वा स्वर्ग और न ऐहिक विषयों का भोग मिलता है, फिर वहाँ मोक्ष-प्राप्ति का मौका ही कैसे हो सकता है? (५३) अत जो काम के अधीन हो बलात्कार से विषयों का सेवन करना चाहता है उसे न विषय मिलते हैं न स्वर्ग मिलता है। उसका उद्धार नहीं होता। (५४)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए हे तात! जिसे निज पर करुणा हो उसे वेदों के सन्देश की अवज्ञा न करनी चाहिए। (५५) पतिव्रता स्त्री जैसे पति की सम्मति के अनुसार चल अनायास आत्महित प्राप्त कर लेती है, (५६) अथवा शिष्य जैसे श्रीगुरु के वचनों की ओर ध्यान रखता हुआ प्रयत्न से आत्मारूपी घर में प्रवेश कर लेता है, (५७) अथवा अपना रक्खा हुआ धन प्राप्त करना हो तो जैसे दीपक आगे कर देखना चाहिए, (५८) वैसे ही जो सब पुरुषार्थों का स्वामी होना चाहता है उसे हे पार्थ! श्रुति-स्मृति को शिर पर धारण करना चाहिए। (५९) शास्त्र जिसका त्याग कहता है वह राज्य* हो तथापि उसे तृणवत् समझना चाहिए, तथा शास्त्र जिसका ग्रहण कहता है वह विष भी हो तो भी उसे विरुद्ध न समझना चाहिए। (४६०) ऐसी वेदनिष्ठा

हो जाय तो हे सुभट ! कौन सा अनिष्ट प्राप्त हो सकता है ? (६१) अहित से बचानेवाली और हितोपदेश कर समृद्धि करनेवाली संसार में श्रुति से बढ़कर दूसरी माता नहीं है। (६२) अतएव जब तक ब्रह्म से एकरूपता न हो जाय तब तक किसी को श्रुति न छोड़नी चाहिए। तुम्हें भी इसकी ऐसी विशेष सेवा करनी चाहिए। (६३) क्योंकि हे अर्जुन ! सम्प्रति तुमने, धर्मबल से युक्त हो, शास्त्र और उनका अर्थ चरितार्थ करने के लिए जन्म लिया है । (६४) फिर स्वभावतः तुम धर्मराज के भ्राता हो इसलिए वेद के विपरीत न चलना चाहिए । (६५) कर्तव्याकर्तव्य का जब विचार करना हो तब शास्त्रों के द्वारा ही परीक्षा करनी चाहिए, और जो अकृत्य ठहरे उसे बुरा समझ कर त्याग देना चाहिए । (६६) और जो सत्य कर्त्तव्य ठहराया जाय उसका, अपने शरीर से अच्छी तरह, प्रेम से आचरण करना चाहिए; (६७) क्योंकि हे सुबुद्धि ! सम्पूर्ण विश्व की प्रामाणिकता के सिक्के की मुहर आज तुम्हारे हाथ में है। लोक-संग्रह के लिए तुम निश्चय से योग्य हो। (६८) इस प्रकार से श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण आसुरवर्ग का वर्णन कर वहाँ से मुक्त होने का मार्ग भी अर्जुन को दिखा दिया। (६९) इस पर अर्जुन जो अन्तःकरण का भाव पूछेगा उसे सावधानता के कानों से सुनिए । (४७०) सञ्जय ने श्रीव्यास के आज्ञानुसार जैसे धृतराष्ट्र का समय व्यतीत कराया, वैसे मैं भी श्रीनिवृत्ति की कृपा से आपके सम्मुख निवेदन करता हूँ। (७१) आप सन्त मुझ पर्वत पर अपनी कृपादृष्टि की वर्षा करें तो मैं भी, जितना आप चाहें, योग्य हो जाऊँगा । (७२) अतएव मैं, ज्ञानदेव, कहता हूँ कि अपना अवधान मुझे प्रसाद में दीजिए। इसमें मैं सनाथ हो जाऊँगा। (४७३)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां षोडशोऽध्यायः।

सत्रहवाँ अध्याय

हे श्रीगुरुराज, हे गणेन्द्र। जिनकी योग-समाधि के द्वारा जगत् का विकासित स्वरूप विलीन हो जाता है उन आपको मैं नमन करता हूँ। (१) यह जगत् जो त्रिगुण-रूपी त्रिपुरों से वेष्टित है तथा जीवरूपी किले में बन्द है उसे आत्मा-रूपी शङ्कर आपका स्मरण करते ही मुक्त कर देते हैं। (२) अतएव शिव से तुलना करने से गुरुत्व में आप ही अधिक दिखाई देते हैं। तथापि आप लघु भी हैं क्योंकि आप माया-जल के पार लगा देनेवाली नौका हैं। (३) जो आपके विषय में मूढ़ हैं उनके लिए आप वक्रतुण्ड हैं, परन्तु ज्ञानियों के लिए आप निरन्तर सरल ही हैं। (४) आपकी दृष्टि देखने में सूक्ष्म दिखाई देती है परन्तु आप नेत्र खोलने और बन्द करते ही उत्पत्ति और प्रलय दोनों आसानी से कर देते हैं। (५) प्रवृत्ति रूपी कान हिलाते ही मदगन्ध-युक्त वायु से आकर्षित होनेहारे जीव-रूपी भ्रमर आपके गण्डस्थल पर ऐसे शोभा देते हैं मानों आपकी नील कमलों से पूजा की गई हो। (६) अनन्तर जब निवृत्ति रूपी कान की झटकार से भ्रमर उड़ जाते या पूजा का विसर्जन हो जाता है तब आपके निर्मुक्त शरीर का लावण्य शोभा देता है। (७) आपकी वामाङ्गी जो माया है उसकी नृत्यक्रीड़ा जो यह जगद्रूप आभास है वह वास्तव में ताण्डव के मिस से आपके ही कौशल्य का परिचय देता है। (८) यह रहने दीजिए। हे आश्चर्यकर्ता। आपसे जिसका बन्धुत्व का सम्बन्ध हो जाता है वह बन्धुत्व के व्यवहार से वञ्चित हो रहता है। (९) बन्धन से मिटते ही वह—आपके जगद्बन्धु—भाव के द्वारा आपमें ही आनन्द प्राप्त कर लेता है। (१०) हे देवराज। जिसके मिस से आप ही दूसरे रूप से दिखाई देते हैं उस द्वैत के लिए उसका शरीर भी शेष नहीं रहता। (११) आपको जुदा समझ कर जो अनेक उपायों की ओर दौड़ते हैं उनके लिए आप प्राय पीछे ही रह जाते हैं। (१२) जो ध्यान के द्वारा आपको मन में रखने की चेष्टा करता है उसके लिए आप उसके प्रदेश में नहीं रहते, पर जो

ध्यान भी भूल जाता है उस पर आप प्रेम करते हैं। (१३) जो सिद्ध सर्वज्ञ बन रहता है वह भी वास्तव में आपको नहीं जानता। वेदों की जैसी वाणी भी आपके कानों तक नहीं पहुँचती। (१४) मौन आपका राशिनाम हो रहा है, फिर मैं कहाँ तक स्तुति करने का हौसला रक्खूँ। जो दिखाई देता है वह तो सब माया है फिर किसका भजन करूँ। (१५) आप देव और मैं आपका सेवक होना चाहूँ तो इस प्रकार भेद करने से दोष ही प्राप्त होगा। इसलिए महाराज! मैं अब आपका कोई नहीं होता! (१६) हे अद्वय, हे आराध्य मूर्ति! जब कोई सर्वथा कुछ भी न हो तभी आपको प्राप्त कर सकता है; आपका यह मर्म मैं जानता हूँ। (१७) अतएव, लवण जैसे भिन्न न रहता हुआ जल से युक्त हो जाता है, वैसे ही मैं आपको नमन करता हूँ। और अधिक क्या कहूँ? (१८) रीता घड़ा समुद्र में डाला जाय तो वह जैसा उभराता हुआ भर जाता है, अथवा बत्ती जैसे दीप के सङ्ग से दीपक ही बन जाती है (१९) वैसे ही हे श्रीनिवृत्ति, मैं आपको नमन करने से पूर्ण हो गया हूँ। अब मैं गीतार्थ प्रकट करता हूँ। (२०) सोलहवें अध्याय के अन्त में अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण देव ने इस सिद्धान्त का निर्णय किया (२१) कि हे पार्थ। कर्त्तव्याकर्त्तव्य-व्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिए तुम्हें सर्वथा शास्त्र ही एक प्रमाण मानना चाहिए। (२२) इस पर अर्जुन ने मन में कहा कि ऐसा क्यों होना चाहिए कि कर्म के लिए शास्त्र के बिना गति ही न हो। (२३) मनुष्य कब सर्प का फन पाकर उसमें से मणि निकाले और कब सिंह की नाक का बाल तोड़े? (२४) उसी बाल में और वही मणि पोह कर पहने तभी क्या उसे अलङ्कार मिल सकता है? अन्यथा क्या वह रिक्त-कण्ठ से रहेगा? (२५) वैसे ही शास्त्र अपरिच्छिन्न हैं, उनसे कौन कब काम ले सकता है? तथा वे एक-वाक्यता के पद पर कब पहुँच सकते हैं? (२६) और एकवाक्यता भी हो तथापि उसके अनुसार अनुष्ठान करने के लिए समय कब मिल सकता है? आयुष्य का विस्तार इतना कहाँ है? (२७) शास्त्रपरिचय, द्रव्य, देश और काल आदि सबकी अनुकूलता एकत्र हो, ऐसा सुयोग सबके हाथ कहाँ लगता है? (२८) इसलिए प्रायः शास्त्र का साधन प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अविद्वान् मुमुक्षुओं के लिए क्या गति है? (२९) यह अभिप्राय पूछने के लिए अर्जुन ने जो प्रस्ताव किया वही सत्रहवें

अध्याय की भूमिका है। (३०) सब विषयों से जो निरिच्छ हो गया है, जो सकल कलाओं में प्रवीण है, अर्जुनरूप से जो श्रीकृष्ण के चित्त का भी आकर्षण करनेहारा एक अपूर्व कृष्ण है, (३१) जो शूरता का अधिष्ठान है, सोमवंश की शोभा है, सुख इत्यादि उपकार करना जिसका खेल है, (३२) जो प्रज्ञारूपी स्त्री का प्रियोत्तम है, ब्रह्मविद्या का विश्रान्ति-स्थान है और जो श्रीकृष्ण का सहचारी मनोधर्म है, (३३)

अर्जुन उवाच—

> ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
> तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

—उस अर्जुन ने कहा—हे तमालपत्र के समान नीलवर्ण श्रीकृष्ण! हे इन्द्रियों को दिखाई देनेहारे ब्रह्म! आपके वचन हमें संशय-कारक जान पड़ते हैं (३४) क्योंकि आपने यह क्योंकर कहा कि प्राणियों को शास्त्र के बिना मोक्ष नहीं मिल सकती? (३५) ऐसा हो तो जिन्हें शास्त्रानुकूल देश नहीं प्राप्त होता, शास्त्राभ्यास करने के लिए काल का अवकाश नहीं मिलता, शास्त्राभ्यास करानेहारा गुरु भी प्राप्त नहीं होता (३६) तथा जो सामग्री अभ्यास के लिए आवश्यक होती है वह भी जिन्हें यथाकाल प्राप्त नहीं होती, (३७) प्रारब्ध अनुकूल नहीं होता, बुद्धि सहाय नहीं करती, इस प्रकार जो शास्त्रसम्पादन नहीं कर सकते, (३८) किंबहुना, शास्त्र के विषय में जो एक नख के बराबर भी प्राप्ति नहीं कर सकते इसलिए जिन्होंने शास्त्रविचार की खटपट ही छोड़ दी है, (३९) परन्तु शास्त्र का निर्णय कर तथा उसके अनुसार पवित्र अनुष्ठान कर जो परलोक पधारे हैं (४०) उनके समान होने की जो मन में इच्छा रख उन्हीं के आचरित-मार्ग से चलते हैं, (४१) हे गुरु! किसी पाठ के अक्षरों के नीचे ही बालक जैसे देख-देख लिखता है, अथवा अन्धा जैसे आँखवाले साथी को आगे कर पीछे पीछे चलता है, (४२) वैसे ही जो सर्वशास्त्रनिपुण लोगों का आचरण प्रमाण मान कर उस पर श्रद्धा रखते हैं (४३) और श्रद्धा से शिव इत्यादि देवों का पूजन, भूमि इत्यादि वस्तुओं का महादान और अग्निहोत्र इत्यादि यजन करते हैं, (४४) उन्हें हे पुरुषोत्तम! सत्त्व, रज या तम इनमें से कौन-सी गति होती है, सुनाइए। (४५) इस पर जो वैकुण्ठभूमि के मुख्य दैवत हैं, जो वेदरूपी कमल के पराग हैं,

जिनकी अङ्गच्छाया से यह जगत् जीवन धारण करता है, (४६) सहज-वृद्धि पाया हुआ काल तथा अलौकिक रूप से विस्तार पाया हुआ और अद्वितीय गूढ़ और आनन्दरूपी मेत्र (४७) ये जिस बल के द्वारा प्रशंसा पाते हैं वह बल जिसके शरीर का है उन श्रीकृष्ण ने निज मुख से कहा (४८)—

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

हे पार्थ ! तुम्हारी अभिरुचि हम जानते हैं। तुम शास्त्राभ्यास को एक प्रतिबन्ध समझते हो (४९) और केवल श्रद्धा से परमपद प्राप्त करना चाहते हो। परन्तु हे प्रबुद्ध ! यह बात इतनी सहज नहीं है। (५०) हे किरीटी ! वह श्रद्धा हो तो भी ऐसा विश्वास नहीं हो सकता कि वह निर्मल श्रद्धा है। ब्राह्मण क्या शूद्र के संसर्ग से शूद्र नहीं हो जाता ? (५१) गङ्गाजल भी हो तथापि यह विचार देखो कि यदि वह मद्य के बासन में रक्खा हो, तो कुछ भी हो, उसे न पीना चाहिए। (५२) चन्दन शीतल होता है, परन्तु अग्नि से सम्बन्ध हो जाने पर क्या वह दाहक नहीं हो सकता ? (५३) हीन सुवर्ण को गला कर उस पर उत्तम सोने का पुट दिया हो तो उसे उत्तम समझ कर लेने से हे किरीटी ! क्या हानि नहीं है ? (५४) वैसे ही श्रद्धा का स्वरूप सचमुच स्वभावतः सुन्दर है परन्तु जब वह प्राणियों के भाग में आती है (५५) तो प्राणी तो सब स्वभावतः अनादि माया के प्रभाव के कारण त्रिगुणों के ही बने हुए होते हैं। (५६) उनमें से जब दो गुण दब जाते हैं और एक उन्नत होता है तब जीवों की वृत्तियाँ उसी उन्नत गुण के अनुसार होती हैं, (५७) वृत्तियों के अनुरूप उनका मन हो जाता है, मन के अनुसार वे क्रियाएँ करते हैं और जैसी क्रियाएँ करते हैं मरने पर वैसा ही शरीर धारण करते हैं। (५८) जैसे बीज नष्ट हो जाता है पर उसका वृक्ष होता है, और वृक्ष नष्ट हो जाता है पर बीज में समाया रहता है, इस प्रकार करोड़ों कल्प बीत जायँ परन्तु पदार्थ की जाति का नाश नहीं होता (५९) वैसे ही जन्मान्तर अनेक होते जायँ परन्तु प्राणियों के त्रिगुणों में अन्तर नहीं पड़ता। (६०) इसलिए प्राणियों के भाग में आई हुई श्रद्धा भी इन्हीं तीनों गुणों के

अनुसार हो जाती है। (६१) कभी शुद्ध सत्वगुण बढ़ जाय तो उससे ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु दूसरे दो गुण उस एक के विरोधी होते हैं। (६२) सत्व के सम्बन्ध से श्रद्धा जब मोक्ष-फल की ओर प्रवृत्त होती है तब रज और तम क्योंकर चुप बैठे रहे ? (६३) अतः सत्व के आधार का नाश कर रजो-गुण जब उन्नत होता है तब वही श्रद्धा कर्म करनेहारी हो जाती है। (६४) और जब तमरूपी प्रवृत्ति ऊँची उठती है तब वही श्रद्धा भिन्न हो अनेक भोगों की इच्छा करती है। (६५)

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुपो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

और हे ज्ञानी। इस जीव-समुदाय में श्रद्धा सत्व, रज वा तम के अतिरिक्त नहीं रहती। (६६) सारांश श्रद्धा स्वभावतः इन सत्व, रज और तम के भेद से त्रिगुणात्मक है। (६७) जैसे जल जीवन ही है पर विप के सम्बन्ध से वह मारक हो जाता है, अथवा काली मिर्च के सङ्ग तीखा वा ईख के सङ्ग मीठा होता है (६८) वैसे ही जो प्रायः तम से सम्बद्ध हो सर्वदा उत्पन्न होता वा मरता है उसकी श्रद्धा भी तद्रूप ही प्रकट होती है। (६९) काजल में और स्याही मे जैसे कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता वैसे ही वह श्रद्धा और तामसी वृत्ति कुछ जुदी नहीं होती। (७०) इसी प्रकार राजस जीव में श्रद्धा रजोमय होती है और सात्विक जीव में उसे सम्पूर्ण सत्वमय ही जानो। (७१) इस तरह से यह सब जगत् सम्पूर्ण श्रद्धा का ही ढला हुआ है, (७२) परन्तु इस श्रद्धा में गुणत्रय के कारण जो त्रिविधता के चिह्न बन गये हैं उन्हे पहचान लो। (७३) इसलिए जैसे फूल से झाड़ पहचाना जाता है, अथवा सम्भाषण से मनुष्य के अन्तःकरण का परिचय होता है, अथवा भोगों से जैसे पूर्वजन्म के कर्म जाने जाते हैं (७४) वैसे ही जिन-जिन चिह्नों से श्रद्धा के तीनों रूप पहचाने जाते हैं उनका वर्णन सुनो। (७५)

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

जिनकी देहरचना सात्विक श्रद्धायुक्त होती है उनकी बुद्धि प्रायः स्वर्ग विपयक रहती है। (७६) वे सकल विद्याएँ पढ़ते हैं, उत्तमोत्तम

यज्ञक्रियाएँ करते हैं, बहुत क्या कहें वे देवलोक प्राप्त करते हैं; (७७) और हे वीरेश ! जो राजसी श्रद्धा के बने हैं वे राक्षसों और पिशाचों को पूजते हैं। (७८) अब जो तामसी श्रद्धा है उसका भी हम वर्णन करते हैं। जो केवल पापों की राशि हैं, निर्दय और अत्यन्त कर्कश स्वभाव के हैं, (७९) जो प्राणियों को मार कर बलि देते हैं और श्मशान में सन्ध्या के समय अमङ्गल भूत-प्रेत-समूहों की पूजा करते हैं (८०) वे मनुष्य तमोगुण का सार निकाल कर बनाये गये हैं। उन्हें तामसी श्रद्धा के घर जानो। (८१) इस प्रकार संसार में श्रद्धा इन तीनों चिह्नों के कारण त्रिविध हो गई है। यह वर्णन हमने इसलिए किया है (८२) कि हे प्रबुद्ध ! जो सात्विक श्रद्धा है उसी की रक्षा करनी चाहिए और दूसरी दोनों श्रद्धाओं का त्याग करना चाहिए। (८३) हे धनञ्जय ! यह सात्विक बुद्धि जिसकी सहकारिणी होती है उसके लिए कैवल्य कोई हौवा नहीं है। (८४) वह चाहे ब्रह्मसूत्र न पढ़ा हो, सब शास्त्र उसके देखे हुए न हों, सिद्धान्त स्वतन्त्रतः उसके हाथ न लगे हों, (८५) तथापि जिनके रूप से श्रुतिस्मृतियों के अर्थ ही मूर्तिमान् हुए हैं, और जो तदनुसार अनुष्ठान कर प्रसिद्ध हुए हैं, ऐसे जो सत्पुरुष हैं (८६) उनके आचरण-मार्ग से जो सात्विक मनुष्य श्रद्धापूर्वक चलता है उसे भी वही फल ऐसा अनायास मिलता है मानों उसके लिए रक्खा ही हुआ था। (८७) कोई एक मनुष्य आयास से दिया जलावे और दूसरा उस दिये से दिया लगाने जावे तो क्या प्रकाश उसे वञ्चित रक्खेगा ? (८८) किसी ने यदि अपार द्रव्य खर्च कर घर बनाया तो क्या उस घर का सुख उसमें कोई दूसरा रहनेवाला नहीं भोग सकता ? (८९) यह उपमा रहने दीजिए। तालाब क्या, जो खोदता है, उसी की तृषा हरता है ? घर में अन्न क्या रसोइये के ही लिए है और दूसरों के लिए नहीं ? (९०) बहुत क्या कहूँ, गङ्गा क्या एक गौतम के लिए ही गङ्गा है और जगत् में दूसरों के लिए क्या वह नाली बन जाती है ? (९१) सारांश, जो एक से एक शास्त्रानुष्ठान में निपुण हैं, जो श्रद्धालु उनका अनुसरण करता है वह मूर्ख हो तो भी तर जाता है। (९२)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

अन्यथा जो जन्म भर शास्त्र के नाम उच्चारना भी नहीं जानते वरन् जो शास्त्रों को अपनी हद नहीं छूने देते, (९३) अपने पूर्वजों की क्रियाएँ देखकर जो उन्हें चिढ़ाते हैं, पण्डितों को चुटकियों पर उड़ाते हैं, (९४) जो अपनी ही शेखी और धनिकता के घमण्ड के वश हो सचमुच पाखण्डरूपी तप का आदर करते हैं, (९५) अपने और दूसरों के अङ्ग में याज्ञिकों के वस्त्र पहना कर यज्ञपात्र को रक्त और मांस से भर-भर कर (९६) जलते हुए कुण्डों में खाली करते और जादू के देवता के मुँह से लगाते हैं, तथा मानता किये हुए बालकों की बलि देते हैं, (९७) जो हठ की बड़ाई मारते हुए क्षुद्र देवताओं से वर-प्राप्ति के लिए सात-सात दिन तक अन्न त्याग करते हैं, (९८) इस प्रकार हे सुहृद्! जो तमरूपी क्षेत्र मे अपने और दूसरों के लिए पीड़ारूपी बीज बोते हैं जिससे कि फिर वैसा ही फल होता है, (९९) हे धनञ्जय! जिसके निज के बाहु नहीं हैं और जो नाव का भी आश्रय नहीं करता उस मनुष्य का समुद्र में जो हाल होता है, (१००) अथवा जो वैद्य से द्वेष करता है और औषधि को लात से उड़ेल देता है वह रोगी जैसे स्वयं व्याकुल ही रहता है, (१) अथवा उपाय न करके कोई अपनी आँखें ही निकाल ले तो वह जैसे आप ही अपनी इच्छा से अन्धा बन जाता है, (२) वही हाल उन असुरों का होता है जो शास्त्र के प्रबन्ध की निन्दा कर मोह से इधर-उधर जङ्गल मे भटकते हैं। (३) काम जो करावे सो वे करते हैं, क्रोध जिसे मारने के लिए प्रवृत्त करे उसे मारते हैं, बहुत क्या कहूँ वे मुझे दुःख-रूपी पत्थरों से पूर देते हैं। (४)

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

वे निज के शरीर को अथवा दूसरों के शरीर को जो जो पीड़ा देते हैं उतना सब क्लेश मुझ आत्मा को ही होता है। (५) वास्तव में उन पापियों का स्पर्श वाचा-पल्लव से भी न करना चाहिए, परन्तु इसमें जो उनका वर्णन करना पड़ा है वह यही बताने के लिए कि उनका त्याग करना चाहिए। (६) मुर्दे को बाहर निकालते हैं अथवा सम्भाषण से ज्ञात हो जानेवाले शूद्र का त्याग करते हैं, अथवा हाथ में लगी हुई कीचड़ को धो डालते हैं, (७) उस समय मन मे शुद्धता का हेतु रहता है, इसलिए उस संसर्ग का कोई दोष नहीं माना जाता, वैसे ही यह

वर्णन भी उन पापियों के त्याग के हेतु से किया गया है। (८) अतः हे अर्जुन! तुम इन्हें देखो तो मेरा स्मरण किया करो, क्योंकि इनके विषय में और दूसरा कोई प्रायश्चित् उपयुक्त न होगा। (९) सारांश जो सात्विक श्रद्धा है उसी एक की सर्वथा भली भाँति और वार-वार रक्षा करनी चाहिए। (११०) और इसलिए ऐसे पुरुषों का समागम करना चाहिए जिनसे सात्विक सम्बन्ध की पुष्टि हो तथा सत्ववृद्धि के भाग का ही आहार सेवन करना चाहिए। (११) साधारणतः भी यही देखा जाता है कि स्वभाव-वृद्धि के लिए आहार के अतिरिक्त कोई वलिष्ठ हेतु नहीं है। (१२) हे वीर! यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जो सावधान मनुष्य मदिरा सेवन करता है वह तत्काल उन्मत्त हो जाता है, (१३) अथवा जो समाधान्य का वनाया हुआ अन्न सेवन करता है वह वात या श्लेष्मा दोषों से व्याप्त हो जाता है। ज्वर प्राप्त होने पर क्या दूध इत्यादि पदार्थ उसका वारण कर सकते हैं? (१४) अथवा अमृतपान करने से मृत्यु का निवारण हो जाता है, अथवा विष जैसे अपना ही जैसा करता है (१५) वैसे ही जैसा आहार किया जाय तदनुसार ही धातु का आधार वनता है और जैसी धातु वैसा ही अन्तःकरण का भाव उत्पन्न होता है। (१६) जैसे वरतन के तपने से उसके भीतर का जल भी तपता है वैसे ही धातु के अनुसार ही चित्तवृत्ति परिणाम पाती है। (१७) इसलिए जो सात्विक अन्न लिया जाय तो सत्व की वृद्धि, तथा अन्य प्रकार के अन्नों का सेवन करने से राजस वा तामस वृत्ति वनेगी। (१८) अव सात्विक आहार कौन है तथा राजस वा तामस आहार का क्या स्वरूप है, उसका हम वर्णन करते हैं, सुनो। (१९)

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

और हे वीर! एक ही आहार क्योंकर त्रिविध हुआ है यह भी हम स्पष्ट कर वताते हैं। (१२०) संसार में अन्न खानेहारे की रुचि के अनुसार वनाया जाता है और खानेहारा तो गुणों का दास रहता है। (२१) जो जीव कर्ता वा भोक्ता है वह स्वभावतः गुणों के कारण त्रिविधता पाकर त्रिधा व्यापार करता है। (२२) इसलिए आहार त्रिविध है। यज्ञ भी तीन प्रकार का है। तप और दान के व्यापार

भी त्रिविध हैं। (२३) इनमें से हमने पहले जो आहार वर्णन करने की सूचना दी थी उसका निरूपण करते हैं। उसे भली भाँति सुनो। (२४)।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

भोक्ता जब भाग्यवशात् सत्वगुण की ओर आकृष्ट रहता है तब उसकी रुचि मधुर रसों में बढ़ती है। (२५) जो पदार्थ स्वभावतः सुरस रहते हैं, स्वभावतः मीठे रहते हैं, तथा जो स्वभावतः खूब रस से भरे और पके हुए होते हैं, (२६) आकार में जो बडे, नहीं होते, स्पर्श में जो अत्यन्त कोमल तथा जीभ को जो सान्द्र और स्वादु होते हैं, (२७) जिनमें रस अटूट और मृदु रहता है, जो द्रवभाव से भरे हुए परन्तु कहीं-कहीं अग्नि की गरमी के कारण जिनका द्रवत्व निकल गया है, (२८) जो श्रीगुरु के मुख के अक्षरों के समान तन से छोटे पर परिमाण में बड़े होते हैं, तथा जो छोटे होते हैं तथापि जिनसे अपार तृप्ति बनी रहती है, (२९) और ऊपर से जैसे सुन्दर वैसे ही जो भीतर से भी मीठे रहते हैं, उन पदार्थों के अन्न पर सात्विक मनुष्यों की रुचि बढ़ती है। (१३०) सात्विक आहार ऐसे गुण और लक्षणों का रहता है। यह आहार आयुष्य का नित्य नूतन रक्षक है। (३१) जब शरीर में ऐसे सात्विक रस-रूपी मेघ बरसते हैं तब आयुष्य रूपी नदी दिन दिन बढती जाती है। (३२) हे सुमति! दिन की वृद्धि के लिए जैसे सूर्य होता है वैसे ही सत्व की रक्षा के लिए यह आहार कारण होता है, (३३) और शरीर और मन दोनों को इसी आहार के बल का आश्रय मिलता है। तो फिर रोग कहाँ से प्रकट हो सकते हैं? (३४) एवं सात्विक आहार का सेवन करने से ही शरीर को आरोग्योपभोग-रूपी सौभाग्य प्राप्त होता है (३५) तथा इस आहार से सब व्यापार भली भाँति सुखरूप दिखाई देते हैं; इससे आनन्द की मित्रता भी वृद्धिगत होती है। (३६) इस प्रकार इस सात्विक आहार का बहुत बड़ा परिणाम होता है। यह बाह्य और अन्तर दोनों का उपकारी है। (३७) अब रजोगुणी मनुष्य की जिन रसों में रुचि रहती है उन्हें भी प्रसङ्गवशात् विशद कर बताते हैं। (३८)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

केवल मारक गुण के अतिरिक्त जो कालकूट विष के ही समान कड़ुए अथवा चूने से भी अधिक दाहक और अम्ल होते हैं, (३९) आटे में जैसे पानी डाला जाता है वैसा ही मानों नमक का गोला ही बनाया हो, और उसमें अन्य रस मिलाये गये हों, (१४०) ऐसे अत्यन्त खारे पदार्थों पर राजसी मनुष्यों की रुचि होती है। राजसी मनुष्य उष्ण पदार्थों के मिस से मानों आग ही लीलता है। (४१) वह ऐसे गरम पदार्थ खाना चाहता है कि जिनकी भाफों के अग्र-भाग पर दिया जलाना चाहो तो जल जावे। (४२) सब्बल* की यह बात प्रसिद्ध है कि वह पत्थर को भी फोड़ती है, पर राजसी मनुष्य ऐसे-ऐसे तीखे पदार्थ खाता है कि जिनसे कोई घाव नहीं होता परन्तु वे चुभते अवश्य हैं। (४३) और उसे ऐसी चटनियाँ अत्यन्त भाती हैं जो राख से भी रूखी और अन्तर-बाह्य समान ही रहती हैं। (४४) जिन पदार्थों के खाते ही दाँतों की आपस में टक्कर हो उनके मुँह में पड़ते ही उसे आनन्द होता है। (४५) जो पदार्थ स्वभावतः चिरपरे हों और फिर उनमें राई पड़ी हो, जिनको खाते हुए नाक और मुँह से धारें बहती हों, (४६) और तो क्या, आग को भी चुप करनेवाले अचार जैसे पदार्थ राजसी मनुष्य को प्राणों से प्यारे होते हैं। (४७) इस प्रकार तृप्त न होते हुए जो मनुष्य जिह्वा के वश हो पागल हो जाता है वह मानों अन्न के रूप से पेट में एकदम अग्नि ही भर लेता है। (४८) और जब दाह होने लगती है तब पलँग से धरती पर और धरती से पलँग पर लोट-पोट होता रहता है, तथा उसके मुँह से जल का लोटा भी नहीं छूटता। (४९) उसने वे राजस-आहार ग्रहण नहीं किये बल्कि मानों व्याधिरूपी सर्प जो सोया हुआ था उसे जागृत करने के लिए नशा ही किया; (१५०) एवं उसके शरीर में एकदम एक दूसरे से स्पर्धा करनेवाले रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार राजस आहार केवल दुःखरूप फल देता है। (५१) हे धनुर्धर ! यह राजस आहार का वर्णन हुआ, और हम उसके परिणाम की कथा भी कह चुके। (५२)

---

* पत्थर उखाड़ने आदि के लिए लोहे का यन्त्र ।

अब तामस मनुष्य को कैसा आहार भाता है उसका भी वर्णन करते हैं। उस पर तुम घृणा न आने दो। (५३) भैंस जैसे जूँठन खाती है वैसे ही तामसी मनुष्य जूठा और सड़ा हुआ अन्न खाते हुए कुछ अहित नहीं समझता। (५४)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

उसी प्रकार, जिस अन्न को पके हुए दोपहर वा एक दिन बीत जाता है उसे तामसी मनुष्य खाता है, (५५) अथवा जो अधकच्चा उबाला गया हो, वा नि.शेष जल गया हो, तथा जिसका रस निकल गया हो, ऐसा भी अन्न वह खाता है। (५६) जो पूर्ण पका हुआ हो, जिसमें रस भरा हुआ दिखाई देता है उस अन्न का अनुभव तामसी मनुष्य को नहीं रहता। (५७) कदाचित् उसे कभी ऐसा उत्तम अन्न मिल जाय तो वह उसे तब तक हाथ नहीं लगाता जब तक की उसमें से दुर्गन्ध न छूटने लगे। व्याघ्र ऐसा ही करता है। (५८) जो कई दिनों का बासी हो, जिसमें से स्वाद निकल गया हो, जो सूख गया हो, सड़ गया हो वा फूल गया हो (५९) ऐसे अन्न को भी, खाते समय, वह बालक की तरह गड़-बड़ कर सान लेता है, अथवा अपनी स्त्री को सङ्ग बैठा कर गायों के समान एक थाली में खाता है। (१६०) इस प्रकार गँदलेपन से जब वह खाता है तब उसे सुखभोजन-सा मालूम होता है। परन्तु वह पापी इतने से ही तृप्त नहीं होता, (६१) वरन् चमत्कार देखिए, जो बुरे पदार्थ निषिद्ध किये गये हैं, अथवा जो सदोष माने गये हैं (६२) उन अपेय पदार्थों के पीने के लिए, अथवा अखाद्य पदार्थों के खाने के लिए उस तामसी मनुष्य की इच्छा बढ़ती ही रहती है। (६३) सारांश, तामस भोजन करनेहारे की रुचि उपर्युक्त प्रकार की रहती है। उसका फल मिलने के लिए उसे कुछ दूसरा क्षण नहीं लगता (६४) क्योंकि ज्योंही उसका मुख उन अपवित्र पदार्थों का स्पर्श करता है त्योंही वह पाप का भोजन बन जाता है। (६५) उस पर जो वह खाता है वह खाना नहीं, केवल पेट भरने की चेष्टा समझनी चाहिए। (६६) शिरच्छेद का क्या परिणाम होता है, अथवा अग्नि में प्रवेश करने से क्या होता है, क्या इन बातों का अनुभव लेना चाहिए? पर वह ऐसी बातें भी

सह लेता है। (६७) इस प्रकार श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं रही कि तामस अन्न का परिणाम सात्विक या राजस अन्न से जुदा होता है। (६८) इसके उपरान्त, अब आहार के समान यज्ञ भी तीन प्रकार का होता है। (६९) परन्तु उन तीनों में, हे उत्तम कीर्तिमानों के शिरोमणि! प्रथम सात्विक यज्ञ का मर्म सुनो। (१७०)

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

पतिव्रता के मन में जैसे अपने एक प्रिय पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के विषय में काम नहीं उत्पन्न होता, (७१) अथवा गङ्गा जैसे समुद्र को पहुँच कर फिर आगे प्रवेश नहीं करती, अथवा वेद जैसे आत्मा को देख कर चुपचाप ही रहते हैं, (७२) वैसे ही जो अपने निज के हित के विषय में सम्पूर्ण चित्तवृत्ति लगा कर उसके फल के लिए अहङ्कार शेष नहीं रख छोड़ते, (७३) वृक्ष के मूल तक पहुँचा हुआ जल जैसे पीछे लौटना नहीं जानता, किन्तु केवल वृक्ष में ही सोख जाता है, (७४) वैसे ही मन से और शरीर से जो यजन-निश्चय में ही मग्न हो और किसी बात की इच्छा नहीं करते, (७५) वे याज्ञिक स्वधर्म को छोड़ अन्य विषयों से विरक्त हो, फलेच्छा-त्याग-पूर्वक जिस सर्वाङ्गसुन्दर यज्ञ का यजन करते हैं, (७६) और जैसे दर्पण के द्वारा अपना स्वरूप देखा जाता है, अथवा हथेली का रत्न दीपक द्वारा देखा जाता है, (७७) अथवा जिस मार्ग से चलना है वह सूर्य उदय होने पर स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही वेदों के निर्णय देखकर (७८) कुण्ड, मण्डप, वेदी और अन्य सामग्री ऐसी जमाते हैं मानों स्वयं वेदों ने ही रची हो, (७९) जैसे शरीर के सब अवयवों में उचित अलङ्कार पहने जायँ वैसे ही जिस यज्ञ में सब पदार्थ जहाँ के तहाँ योग्य प्रबन्ध से रक्खे जाते है, (१८०) बहुत क्या वर्णन करूँ, जैसे सकल अलङ्कारों से युक्त यज्ञविद्या ही यजन के मिस से मूर्तिमती हो आई हो (८१) ऐसा अङ्ग और उपाङ्गों-सहित और प्रतिष्ठा की इच्छा के बिना जो यज्ञ किया जाता है, (८२) सब पेड़ों में जैसे तुलसी के पेड़ का प्रतिपाल अच्छी तरह किया जाता है परन्तु उससे न फल का न फूल

का आसरा रहता है, (८३) बहुत क्या कहूँ, इस प्रकार से फलाशा के बिना जो यज्ञ रचा जाता है उसे सात्विक यज्ञ कहते हैं। (८४)

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अब हे वीरेश! यज्ञ तो पूर्वोक्त प्रकार से ही किया जाय परन्तु जैसे कोई श्राद्ध के दिन राजा को भोजन के लिए निमन्त्रण दे, (८५) इस हेतु से कि राजा अपने घर आवेगा तो बहुत लाभ होगा और संसार में कीर्ति भी होगी, (८६) वैसे ही यदि वह यज्ञ भी इस हेतु से किया जाय कि उससे स्वर्ग का लाभ तो बना ही हुआ है, और संसार में दीक्षित का भी सन्मान मिले, तो (८७) हे पार्थ! इस प्रकार केवल फल की आशा और संसार में बड़ाई अथवा प्रसिद्धि के लिए यज्ञ किया जाय तो उसे राजस यज्ञ कहते हैं। (८८)

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

और पशुपक्षियों के विवाह के समय जैसे काम के अतिरिक्त कोई विवाह करनेवाला जोशी नहीं रहता, वैसे ही तामस यज्ञ में केवल आग्रह ही मुख्य है। (८९) वायु को चाहे कहीं मार्ग न मिले, मृत्यु मुहूर्त चिन्तन किया करे, अग्नि निषिद्ध पदार्थों को जलाने से डर जाय, (१९०) ये घटनाएँ हो जायँ तथापि तामस मनुष्य के आचार को विधि की मर्यादा नहीं हो सकती। हे धनुर्धर! वह उच्छृङ्खल होता है। (९१) उसे विधि की परवा नहीं रहती। मन्त्र इत्यादि की उसको जरूरत नहीं होती। मक्खी के समान उसका मुँह भी किसी अन्न के विषय में बन्द नहीं होता। (९२) जहाँ ब्राह्मण-मात्र से वैरभाव रहता है वहाँ दक्षिणा की गुजर कहाँ हो सकती है, तथा जैसे आँधी को आग की सहायता मिल जाय (९३) तो वह सब नाश कर देती है वैसे ही वह श्रद्धा का मुख न देख कर अपना सर्वस्व वृथा खर्च कर देता है, जैसे कि अपुत्र मनुष्य का धन उसकी मृत्यु के पश्चात् वृथा ही लुट जाता है। (९४) लक्ष्मी के निवास श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार जो केवल यज्ञ का आभास प्रकट किया जाता है उसका नाम तामस यज्ञ है। (९५) अब, गङ्गा का जल एक ही है पर

जुदे-जुदे प्रवाहों में ले जाने से जैसे एक मैला और एक शुद्ध दिखाई देता है (९६) वैसे ही तप भी संसार में तीन गुणों के कारण त्रिरूप हो गया है। उनमें से एक प्रकार के तप के आचरण से पाप, और दूसरे से उद्धार होता है। (९७) अतः हे सुबुद्धि! वही तप तीन प्रकार का कैसा होता है, यह जानने की इच्छा हो तो प्रथम तप क्या है सो सुनो। (९८) तप क्या वस्तु है, उसका स्वरूप हम व्यक्त कर बताते हैं और फिर वह तीन गुणों के कारण जैसा भिन्न होता है उसका वर्णन करेंगे। (९९) अब, जो उत्तम तप है वह भी त्रिविध है, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और शब्द। (२००) इन तीनों में से सम्प्रति शारीरिक का रूप सुनो। जिसे शङ्कर अथवा श्रीहरि प्रिय होते हैं (१)

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

—उसने, आठों पहर अपने प्रिय देवता के मन्दिर की यात्रा इत्यादि करने के लिए, अपने पाँव मानों बेगार में दिये रहते हैं। (२) उसके हाथ, देवता का आँगन सुशोभित करने के लिए, गन्ध पुष्प इत्यादि उपचार लाने के लिए तथा आज्ञा झेलने के लिए, शोभते हैं। (३) दृष्टि से शिवलिङ्ग या श्रीमूर्ति दिखाई देते ही वह शरीर से ऐसा लोट-पोट होता है मानों कोई लकड़ी पड़ी हो। (४) वेद और विनय इत्यादि गुणों में श्रेष्ठ जो ब्राह्मण हैं उनकी उत्तम सेवा करना, (५) अथवा जो प्रवास से या किसी पीड़ा से या किसी सङ्कट से कष्टी हों उन्हें सुखस्थिति को पहुँचाना, (६) सकल तीर्थों में श्रेष्ठ जो माता-पिता हैं उनकी सेवा के लिए वास्तव में शरीर को निछावर करना, (७) भेंट होते ही जो संसार जैसा दारुण दुःख हर लेता है उस ज्ञानदानी और करुणापूर्ण गुरु का भजन करना, (८) हे सुभट! स्वधर्मरूपी अँगीठी में स्थूलदेहबुद्धि-रूपी हलके सोने को अभ्यास-योगरूपी पुट में रख कर जला देना, (९) प्राणिमात्र में ईश्वर समझ कर उसे नमन करना, परोपकार के द्वारा उसका भजन करना, स्त्रीविषय से इन्द्रियों का पूर्णतः नियमन करना, (२१०) जन्म के समय ही शरीर से स्त्री-देह का स्पर्श हो पर पश्चात् सम्पूर्ण जन्म भर शुद्ध रहना, (११) सबमें प्राण है यह जान कर तृण को भी धक्का

न लगाना, बहुत क्या कहें किसी का छेद व भेद न करना, (१२) इत्यादि शुद्ध व्यापार यदि शरीर से हों तो शारीरिक तप पूर्णता को पहुँच गया समझना चाहिए। (१३) हे पार्थ! ये सम्पूर्ण कर्म शरीर की प्रधानता के कारण होते हैं इसलिए मैं इसे शारीरिक तप कहता हूँ। (१४) इस प्रकार शारीरिक तप का रूप व्यक्त कर बताया। अब निष्पाप वाङ्मय या वाचिक तप सुनो। (१५)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

पारस जैसे लोहे के परिमाण को न घटा कर सब को सोना बना देता है (१६) वैसे ही जिस वाणी में ऐसी साधुता दिखाई दे कि वह किसी का जी नहीं दुखाती तथा सुननेहारे को स्वभावतः सुख उपजाती है, (१७) जल मुख्यतः वृक्ष को दिया जाता है पर उससे प्रसङ्ग-वशात् उस स्थल का तृण भी हरा-भरा रहता है, वैसे ही जो वाणी ऐसी हो कि उसका एक से आलाप करना सभी को हितकारी हो, (१८) अमृत की गङ्गा प्राप्त हो तो वह जैसे प्राणों को अमर करती तथा स्नान करने से पाप या सन्ताप का निवारण करती और माधुर्य भी देती है, (१९) वैसे ही जिस वाणी के सुनने से अविचार दूर हो और अपने अनादित्व की भेंट हो तथा जिसे सुनते हुए श्रवणरुचि, अमृत की रुचि जैसी, कभी नहीं उकताती (२२०) ऐसी वाणी से प्रश्न का उत्तर देना, अन्यथा वेद या भगवन्नाम का आवर्तन करना, (२१) जैसे मुख में वेदशाला ही भरी है इस प्रकार वाचारूपी मन्दिर में ऋक् इत्यादि तीनों वेदों की प्रतिष्ठा करना, (२२) अथवा शिव या विष्णु के किसी नाम का वाचा पर बसना वाग्मय तप कहाता है। (२३) फिर लोकपालों के धनी श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मानसिक तप का भी वर्णन करते हैं, सुनो। (२४)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

तरङ्गों के बिना जैसा सरोवर, मेघों से वियुक्त जैसा आकाश अथवा सर्पों के रहित जैसा चन्दन का उद्यान, (२५) अथवा कलाओं की विषमता से वियुक्त चन्द्रमा, अथवा चिन्ता विरहित राजा

अथवा मन्द्राचल से रहित जैसा क्षीरसागर, (२६) वैसा ही अनेक विकल्पों की जाली पूर्णत: निकल जाने पर जब मन केवल स्वरूपाकार से रह जाता है, (२७) विना उष्णता के प्रकाश, विना जड़ता के रस अथवा विना पोलेपन के अवकाश (२८) की तरह जब मन अपने स्वरूप से रहता और अपने स्वभाव का इस प्रकार त्याग कर देता है जैसे हिम अपने शरीर को ठण्ड नहीं लगने देता, (२९) एवं कलंक-रहित चन्द्रमा जैसा निश्चल, नित्य और परिपूर्ण रहता है वैसा ही मन जब शुद्ध और उल्लसित रहता है, (२३०) वैराग्य का क्लेश होना जब बन्द हो जाता है, हृदय का धड़धड़ाना और काँपना बन्द हो जाता है और उसके स्थान में आत्मबोध की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। (३१) अतः शास्त्र-परिशीलन के लिए मुख का व्यापार जो वाचा है उसका भी कभी उपयोग नहीं किया जाता, (३२) लवण जैसे अपनी मूलस्थिति अर्थात् जल का स्पर्श करते ही लवण-स्वरूप नहीं रख सकता वैसे ही आत्मलाभ की प्राप्ति के कारण मन जब मनत्व ही नहीं रख सकता (३३) तो उसमें ऐसे भाव कहाँ से उठ सकते हैं जिनसे इन्द्रिय-रूपी मार्ग से दौड़ कर विषय-रूपी नगर प्राप्त किये जायँ, (३४) अतः जैसे हाथ की हथेली में बाल नहीं रहते वैसे उस समय मन में भी स्वभावत: भावशुद्धि रहती है, (३५) बहुत कहाँ तक कहूँ, हे अर्जुन! मन की जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब उस स्थिति को मानसिक तप नाम प्राप्त होता है। (३६) परन्तु अस्तु। देव ने कहा कि यहाँ तक हमने मानसिक तप के सम्पूर्ण लक्षणों का वर्णन किया; (३७) एवं हमने काया, वाचा और मन के द्वारा जो त्रिविध हुआ है उस सामान्य तप का विवरण कह सुनाया। (३८) अब तीन गुणों के सङ्ग से यही तप तीन प्रकार से भिन्न हो जाता है उसका विवेचन भी अपने बुद्धिबल के द्वारा भली भाँति ग्रहण करो। (३९)

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

हे ज्ञानी! जिसका अभी वर्णन किया इसी त्रिविध तप का आचरण, पूर्ण श्रद्धा से और फल की इच्छा छोड़ कर, करना चाहिए। (२४०) जब यह तप पूर्ण सत्वशुद्धि के हेतु से आस्तिक्य बुद्धि से किया जाता है तब इसको ज्ञानीजन सात्विक कहते हैं; (४१)

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अथवा तपाचरण के द्वारा संसार में द्वैत का मण्डन कर जब महत्त्व-रूपी पर्वत की शिखा पर बैठने का हेतु होता है, (४२) त्रिभुवन का सम्मान मेरे अतिरिक्त और कहीं न जाय, भोजन के समय मुझे सबसे श्रेष्ठ स्थान मिले, (४३) मैं सब जगत् की स्तुति का पात्र हो जाऊँ, सब संसार मेरी यात्रा करे, (४४) संसार की विविध पूजाओं को मेरे अतिरिक्त आसरा न मिले, तथा मुझे उत्तम प्रकार के बड़े-बड़े उप-भोग प्राप्त हों, (४५) इस प्रकार जैसे वृद्धा वेश्या अपने बुढ़ापे को ऊपर से शृङ्गार करके छिपाये रहती है वैसे ही जब निज का महत्त्व बढ़ाने के हेतु से शरीर या वाणी में तप का मुलम्मा किया जाता है, (४६) तथा धन की इच्छा रख कर तप के कष्ट किए जाते हैं तब उस तप को राजस कहते हैं। (४७) जिसका दूध एक प्रकार का कीड़ा पी जाता है वह गाय जैसी ब्याने पर भी दूध नहीं देती, अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे नाज हाथ नहीं आता (४८) वैसे ही जब अपने तप की बड़ाई मारी जाय तो उसका फल भी बिल्कुल ही वृथा होता है। (४९) उसको इस प्रकार निष्फल होता देख कर तपस्वी उसे बीच में ही छोड़ देते हैं, इसलिए उस तप में स्थिरता नहीं रहती। (२५०) यों भी, जो आकाश में व्याप्त ही रहता है और गर्जना से ब्रह्माण्ड का भेद करता है वह अकाल-मेघ क्या एक क्षणभर भी टिकता है? (५१) वैसे ही जो राजस तप है वह भी फल के विषय में वन्ध्या होता है और उसका आचरण भी टिकाऊ नहीं होता। (५२) अब वह तप तामसी रीति से किया जाय तो उससे परलोक और कीर्ति दोनों की हानि होती है। (५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

हे धनुर्धर! अन्तःकरण में केवल मूर्खता की हवा भर कर, शरीर को जो वैरी समझते हैं (५४) और उसके चारों ओर पञ्चाग्नि की तप्त ज्वालाएँ सुलगाते हैं, अथवा शरीर को ईंधन बना उसे अग्नि के भीतर जलाते हैं, (५५) सिर पर गूगुल जलाते हैं, पीठ पर काँटे बाँधते हैं और शरीर को लकड़ी बना जला कर अङ्गार बनाते हैं, (५६)

श्वासोच्छ्वास करना वन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं, (५७) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर खड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर वैठते हैं जहाँ वे जीते-जी अपने शरीर के मांस के टुकड़े तोड़ते हैं; (५८) ऐसे नाना प्रकार से शरीर को क्लेश देते हुए हे धनञ्जय ! जो दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं, (५९) निज की जड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीजों को भी रगड़ डालता है (२६०) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं. (६१) वहुत क्या कहें, इस प्रकार जो वुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप को हे किरीटी ! तामस तप कहते हैं। (६२) तात्पर्य यह कि सत्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है; उसे हमने भली भाँति व्यक्त कर वताया। (६३) अव कथा कहते हुए प्रसङ्गानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं। (६४) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्विक दान सुनो। (६५)

दातव्यमिति तद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए। (६६) उत्तम वीज प्राप्त हो परन्तु उसे जैसे खेत और अनुकूल भाप न मिले, वैसा ही सम्वन्ध दान का भी दिखाई देता है। (६७) वहुमोल रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और सोना दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलङ्कार पहनने योग्य नहीं होता, (६८) पर जव सौभाग्य का उत्कर्ष होता है तव त्योहार, -स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं; (६९) वैसे ही दान की घटना के लिए जव सत्व गुण सहकारी होता है तो देश, काल, पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं। (२७०) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र वा काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई देश होना चाहिए जो योग्यता में उनकी वरावरी का हो। (७१) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यकाल अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

(७२) ऐसे काल में और ऐसे देश में दान का पात्र भी ऐसा होना चाहिए मानो शुचिता ही मूर्तिमती हो आई हो। (७३) इस प्रकार शुद्धाचरण की भूमिका, अथवा वेदों का वसतिस्थान जैसा निर्मल द्विज-रत्न प्राप्त कर (७४) उसे अपने द्रव्य का सत्व अर्पण करना चाहिए। परन्तु प्रिय पति के सन्मुख जैसे कान्ता जाती है, (७५) अथवा जैसे कोई किसी की अमानत में रक्खी हुई वस्तु लौटा कर उऋण हो जाता है, अथवा खिदमतगार जैसे राजा के पान अर्पण करता है (७६) वैसे ही निष्काम-बुद्धि से भूमि इत्यादि अर्पण करनी चाहिए। बहुत क्या कहें, अन्तःकरण में कोई कामना न उठने देनी चाहिए। (७७) और जिसे दान दिया जाय वह ऐसा मनुष्य होना चाहिए जो कभी लिये हुए दान का प्रत्युपकार न करे। (७८) आकाश में ध्वनि करने से जैसे प्रतिध्वनि नहीं उठती, अथवा दर्पण की दूसरी ओर देखने से जैसे रूप दिखाई नहीं देता, (७९) अथवा जल की भूमिका पर गेंद मारने से जैसे वह उछल कर हाथ में नहीं आ सकती, (२८०) अथवा छूटे हुए साँड़ को चारा देने से या कृतघ्न मनुष्य के साथ उपकार करने से जैसे वे प्रत्युपकार नहीं करते (८१) वैसे ही जिसे दान दिया जाय वह मनुष्य ऐसा होना चाहिए जो दाता के दान का किसी तरह से प्रत्युपकार न करे। (८२) इस प्रकार की सामग्री से जिस दान की घटना होती है उसे सब दानों में श्रेष्ठ सात्विक दान कहते हैं। (८३) और देश या काल वैसा ही प्राप्त हो, पात्र-सम्बन्ध वैसा ही मिले और दानद्रव्य भी शुद्ध और न्याय से प्राप्त हुआ हो, (८४)

> यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
> दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

परन्तु गाय को जैसे दूध की इच्छा से चारा दिया जाय, अथवा अनाज भरने के लिए चण्डा बनाकर जैसे चौनी की जाय, (८५) अथवा व्यवहार की ओर दृष्टि देकर जैसे सम्बन्धियों को निमन्त्रण दिया जाय, अथवा जैसे व्रतस्थ मनुष्य के घर परोसा (पत्तल) भेजा जाय, क्योंकि उसके यहाँ से वह वापिस ही आवेगा, (८६) अथवा जैसे ब्याज को पहले गाँठ में धर लेने पर द्रव्य द्वारा किसी की सहायता की जाय, अथवा द्रव्य लेकर जैसे रोगियों को औषधि दी जाय, (८७) वैसे ही यदि इस भाव से दान दिया जाय

कि उस दान से दान लेनेवाले का गुजारा हो और वह बार-बार दाता का नाम ले—उसका यश गावे, (८८) अन्यथा हे पाण्डुसुत! रास्ता चलते कोई प्रत्युपकार न करनेहारा उत्तम ब्राह्मण मिले (८९) तो उसे एक कौड़ी देने के साथ ही उसके हाथ सम्पूर्ण कुटुम्बियों के प्रायश्चित्त का संकल्प छोड़ा जाय, (२९०) उसी प्रकार यदि अनेक स्वर्गीय फलों की इच्छा से दान दिया जाय और वह भी इतना-सा कि एक की भूख के लिए भी काफी न हो, (९१) तथा ब्राह्मण के दान लेकर जाते ही यदि दान देनेहारा उसे हानि समझ कर ऐसा दुखी हो मानों कोई चोर द्रव्य हरण कर ले गया हो, (९२) बहुत कहाँ तक कहें, हे सुमति! ऐसी मनोवृत्ति से यदि दान दिया जाय तो उस दान को संसार में राजस कहते हैं। (९३)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अब म्लेच्छों की वस्ती, जङ्गल, अपावन स्थल अथवा डेरे या शहर के चौरस्ते (९४) के समान स्थल हों, साँझ का अथवा रात का समय हो, और उस समय चोरी से प्राप्त किये हुए धन का दान किया जाय, (९५) दान का पात्र कोई भाट या बाजीगर हो, अथवा कोई वेश्या या जुवारी हो जो मूर्तिमान् भ्रम के रूप से दान देनेहारे को भुलाते हैं, (९६) तिस पर और नृत्य होता हो, सन्मुख जादू-भरी आँखें हों, भाटों की स्तुति होती हो जो कानों में गूँजती रहे (९७) फूलों की तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध फैल रही हो, तो वह दान देनेहारा तत्काल भ्रम का वेताल ही बन जाता है, (९८) और लोगों को लूट कर लाये हुए अनेक पदार्थों के बल जल्लादों के लिए अन्नसत्रों का आरम्भ करता है। (९९) इस प्रकार के दान को मैं तामस दान कहता हूँ। और भाग्यवशात् और भी एक घटना हो सकती है, सुनो। (३००) जैसे कभी घुन लगने से लकड़ी पर अक्षर का भी आकार हो जाता है, अथवा कभी ताली बजाते ही कौआ गिर पड़ता है, वैसे ही कभी तामस मनुष्य को भी पुण्यस्थल में पर्वकाल का लाभ हो जाता है। (१) वहाँ उसे श्रीमान् जान कर कोई योग्य पुरुष दान माँगने के लिए आवे तो उस समय यद्यपि वह अभिमान से फूल कर भ्रमिष्ठ होता है, (२) तथापि

मन में श्रद्धा नहीं रखता। उस माँगनेवाले के सन्मुख सिर नहीं झुकाता; स्वयं अर्घ्य इत्यादि नहीं देता और न किसी दूसरे से दिलवाता है। (३) उसे बैठने के लिए वह आसन तक नहीं देता फिर गन्ध या अक्षत का तो कहना ही क्या है। योग्य प्रसङ्ग पर तामसी लोग निश्चय से ऐसा अनुचित आचरण करते हैं। (४) किसी ऋण के तगादेवाले को जैसे ऋणी थोड़ासा देकर रास्ते लगाता है वैसे ही यह माँगनेवाले की वञ्चना करता है। अबे-तबे का प्रयोग वह बहुत करता है, (५) हे किरीटी! वह जिसे जो कुछ देता है उसका उस दान के द्वारा अपमान करता है, अथवा अवहेलना कर उसे दुर्वचन बोलता है। (६) अस्तु, बहुत हुआ। इस प्रकार जो द्रव्य खर्च करना है उसे संसार में तामसदान कहते हैं, (७) एवं हे राजतनय अर्जुन! अपने-अपने लक्षणों से अलंकृत तीनों दानों का स्पष्ट वर्णन हो चुका। (८) अब हे विद्वान्! मैं जानता हूँ कि तुम कदाचित् अपने मन में ऐसी कल्पना करोगे (९) कि संसार-बन्ध से छुड़ानेवाला एक सात्विक कर्म ही है तो फिर इन दूसरे विरोधी और दोषयुक्त कर्मों के वर्णन की क्या आवश्यकता है। (२१०) परन्तु जैसे भूत को हटाये बिना गड़ा हुआ द्रव्य हाथ नहीं आता, अथवा धुआँ सहे बिना जैसे आग नहीं सुलगती, (११) वैसे ही शुद्धसत्व की ओट में रज और तम के पट लगे हैं, उनका भेद क्या बुरा कहा जा सकता है? (१२) हमने जो वर्णन किया कि श्रद्धा से दान तक सम्पूर्ण क्रियासमूह तीनों गुणों से व्याप्त है (१३) उसमें निश्चय से हमारा अभिप्राय तीनों गुणों के उपदेश करने का नहीं है, हमने तो केवल सत्व का परिचय देने के लिए अन्य दोनों का वर्णन किया है, (१४) क्योंकि दो वस्तुओं के बीच जो तीसरी वस्तु रहती है वह दोनों का त्याग करने से ही दिखाई देती है। जैसे दिन या रात्रि के त्याग से सन्ध्या का रूप व्यक्त होता है, (१५) वैसे ही रज और तम के विनाश से तीसरा जो *उत्तम दिखाई देता है वही सत्व है और वह आप ही प्रतीत हो* जाता है। (१६) सत्व ही बताने के लिए हमने रज और तम का निरूपण किया। इन रज-तमों को छोड़ कर अपना कार्य साधो। (१७) सम्पूर्ण यज्ञ इत्यादि इसी शुद्ध सत्व के द्वारा करो। तब तुम्हें अपना स्वरूप हाथ लगेगा। (१८) सूर्य का प्रकाश होते ही, क्या

नहीं दिखाई देता ? वैसे ही सत्व से किया हुआ कौन-सा कर्म सफल न होगा ? (१९) सत्व गुण में निश्चय से चाहे जिस फल का लाभ कर देने की उत्तम शक्ति है। परन्तु जो मोक्ष से एकरूप हो मिलना है (३२०) वह एक जुदी ही वस्तु है। उसकी सहायता प्राप्त हो तब मोक्ष के गाँव में प्रवेश होता है। (२१) जैसे सोना पन्द्रह के भाव का हो तथापि उस पर राजमुद्रा के अक्षर पड़ते हैं तब वह सिक्का बनता है, (२२) अन्य स्थलों के जल स्वच्छ, शीतल, सुगन्धित और सुख-दायक होते हैं, परन्तु पवित्रता तीर्थ के सम्बन्ध से ही होती है, (२३) नदी चाहे जितनी बड़ी हो परन्तु जब गङ्गा उसका अङ्गीकार करे तभी उसका प्रवेश समुद्र में हो सकता है, (२४) वैसे ही हे किरीटी ! सात्विक कर्म को मोक्ष की भेंट के लिए आते हुए कोई प्रतिबन्ध न हो, इसलिए एक वस्तु और आवश्यक है। (२५) यह वचन सुनते ही अर्जुन के हृदय में उत्कण्ठा न समा सकी। वह बोला, हे देव ! कृपा कर उस वस्तु का वर्णन कीजिए। (२६) तब कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि सात्विक कर्म को जिस वस्तु के द्वारा मुक्ति-रूपी रत्न दिखाई दे सकता है उसका स्पष्टीकरण सुनो। (२७)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

जगत् इत्यादि सबका विश्रान्ति-स्थान जो अनादि परब्रह्म है उसका नाम एक ही परन्तु त्रिधा है। (२८) ब्रह्म वस्तुतः नाम-रहित या जाति-रहित है। परन्तु अविद्यारूपी रात्रि में उसे पहचानने के लिए वेदों ने उसका एक नाम रख दिया है। (२९) बालक उत्पन्न होता है तो उसका कोई नाम नहीं रहता, परन्तु रक्खे हुए नाम से पुकारने पर वह उत्तर देता है; (३३०) वैसे ही जो लोग संसार-व्यथा से कष्टी हो उस कष्ट का निवेदन करने के लिए ईश्वर के पास जाते हैं उन्हें वह जिस नाम से उत्तर देता है उसी नाम से हमारा अभिप्राय है। (३१) श्रेष्ठ वेद ने कृपा-पूर्वक ऐसा एक मन्त्र देख निकाला है कि जिससे ब्रह्म की अनिर्वाच्यता मिट जाती और उसकी अद्वैत-पूर्वक प्राप्ति हो जाती है। (३२) उस वेदोपदिष्ट मन्त्र से पुकारते ही ब्रह्म, लीला से, पीछे अथवा सन्मुख आ खड़ा होता है; (३३) परन्तु यह प्रतीति उन्हीं को होती है जो वेदरूपी पर्वत के शिखर पर उपनिषदों के अर्थरूपी नगर में ब्रह्म की ही पंक्ति में बैठे हुए हों। (३४) अस्तु, प्रजापति

और शक्ति जो सृष्टि उत्पन्न करते हैं वे जिस एक नाम के अनुष्ठान से उत्पन्न करते हैं; (३५) हे वीरोत्तम! सृष्टि के आरम्भ के पूर्व ब्रह्मा अकेले एक पागल मनुष्य के समान थे, (३६) वे मुझ ईश्वर को नहीं जानते थे और न उनमें सृष्टि रचने की सामर्थ्य थी, किन्तु उन्हें जिस एक नाम ने श्रेष्ठ बना दिया, (३७) अन्तःकरण में जिसे एक नाम के अर्थ का ध्यान करने से, जिन तीन अक्षरों का जप करने से उन्हें विश्व रचने की योग्यता प्राप्त हो गई, (३८) और फिर उन्होंने ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हें आचरण के लिए वेदों का उपदेश किया और उनके निर्वाह के लिए यज्ञ का अनुष्ठान नियत कर दिया, (३९) और अनन्तर न जाने कितने अन्य लोक उत्पन्न किये जिनकी गणना नहीं हो सकती और उन्हें तीनों भुवन मानों इनाम में दे दिये, (२४०) श्रीलक्ष्मीपति कहते हैं, इस प्रकार जिस नाम-मन्त्र के द्वारा ब्रह्मा भी श्रेष्ठ हो गये उसका स्वरूप सुनो। (४१) सब मन्त्रों का राजा ओंकार उस नाम का पहला अक्षर है। तत्कार दूसरा अक्षर है और सत्कार तीसरा; (४२) एवं ब्रह्म का नाम 'ओंतत्सत्' इन तीन अक्षरों का है। उपनिषद् इसी सुन्दर फूल की सुगन्ध लेते हैं। (४३) इस नाम से युक्त हो जब सात्विक कर्म किया जाता है तो वह मोक्ष को चिर का टहलुआ बना देता है। (४४) जैसे भाग्य से यदि कपूर के अलङ्कार प्राप्त हो भी जायँ तो यह दिक्कत होती है कि वे पहने किस तरह जायँ (४५) वैसे ही सत्कर्म का आचरण हो सकेगा, ब्रह्म के नाम का जप भी हो सकेगा परन्तु यदि उसके उपयोग का मर्म ज्ञात न हो (४६) तो जैसे कोट्यवधि महन्त जन आप ही आप घर पर पधारें और उनका सन्मान न किया जाय तो पुण्य का क्षय होता है; (४७) अथवा जैसे सुन्दर अलङ्कार पहनने की इच्छा से कुछ अलङ्कार और सोना एकत्रित कर गले में बाँध लिया जाए, (४८) वैसे ही मुख से ब्रह्म नाम का जप हो और हाथों से सत्कर्म होता हो तथापि उसका विनियोग मालूम न हो तो वह सब काम निष्फल है। (४९) अजी! अन्न और भूख दोनों समीप हैं, तथापि खाना न जानने-हारे बालक को लङ्घन ही करनी होगी; (३५०) अथवा तेल बत्ती और अग्नि तीनों मिलें तथापि हे वीर! उन्हें सुलगाने की युक्ति न मालूम हो तो प्रकाश का लाभ नहीं हो सकता, (५१) वैसे ही समयानुसार कर्म किया जाय और उसका मन्त्र भी याद हो तथापि

विनियोग के विना वह सब वृथा है। (५२) इसलिए अब यह जो तीन अक्षरों का परब्रह्म का एक ही नाम है उसका विनियोग कैसे किया जाता है सो सुनो। (५३)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इस नाम के तीनों अक्षर कर्म के आरम्भ में, मध्य में और अन्त में इस प्रकार तीनों स्थानों में लगाने चाहिएँ। (५४) हे किरीटी! इसी एक युक्ति के सहाय से ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्म की भेंट हुई है। (५५) ब्रह्मानुभव होने के हेतु वे शास्त्रज्ञों के कहे हुए यज्ञों का त्याग नहीं करते, (५६) परन्तु प्रथम ध्यान के द्वारा ओंकार को प्रत्यक्ष करते हैं, और अनन्तर उसका वाणी से उच्चारण करते हैं, (५७) और ऐसे प्रत्यक्ष ध्यान और स्पष्ट ओंकारोच्चार के साथ क्रियाओं का आरम्भ करते हैं। (५८) कर्म के आरम्भ में ओंकार को ऐसा समझो जैसे अँधेरे में जाने के लिए एक अखण्ड दीपक, अथवा जङ्गल में जाने के लिए कोई बलवान् साथी। (५९) वे ब्रह्म-ज्ञानी लोग वेदोक्त देवताओं के उद्देश्य से; नीति से उपार्जित बहुतेरा द्रव्य खर्च कर ब्राह्मणों के द्वारा अग्नि का यजन करते हैं। (३६०) आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण इन तीनों अग्नियों में निक्षेपरूपी हवन का विधि-पूर्वक और दक्षता से यजन करते हैं। (६१) बहुत क्या कहें, वे अनेक यज्ञकर्मों की सहायता ले अप्रिय उपाधि का त्याग करते हैं, (६२) अथवा न्याय से सम्पादन की हुई भूमि इत्यादि पवित्र और स्वतन्त्र वस्तुओं का शुद्ध देश और काल में सत्पात्र को दान देते हैं, (६३) अथवा एक दिन के अन्तर से, कृच्छ्र-चान्द्रायण इत्यादि व्रत कर, महीनों उपवास के द्वारा शरीर की धातुओं को सुखा कर तप करते हैं। (६४) इस प्रकार यज्ञ, दान, तप, जो बन्धरूप कहे जाते हैं वही उन ब्रह्म-ज्ञानियों को सुलभ मोक्ष के साधन होते हैं। (६५) जहाँ नावें नहीं चल सकतीं वहाँ लोग तैर कर चले जाते हैं, वैसे ही इस नाम के द्वारा बन्धकारक कर्मों से मुक्ति हो सकती है। (६६) परन्तु अस्तु। ये यज्ञ, दान इत्यादि क्रियाएँ ओंकार की सहायता से प्रवृत्त होने पर (६७) जब अल्प ही फलद्रूप होने लगती हैं उस समय तच्छब्द का प्रयोग किया जाता है। (६८)

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

तत् शब्द से वह परब्रह्म कहा गया है जो सम्पूर्ण जगत् के परे है तथा जो एक सर्व-साक्षी है। (६९) ज्ञानी जन उसे सबका आदि जान अन्तःकरण में उसके रूप का ध्यान कर उच्चारण-द्वारा भी उसे प्रत्यक्ष करते हैं, (३७०) और फिर कहते हैं कि तद्रूप ब्रह्म को ये सब क्रियाएँ उनके फलों-सहित अर्पण हों, हमारे भोगों के लिए कुछ शेष न रहे। (७१) इस प्रकार वे तत्स्वरूपी ब्रह्म को सब कर्म समर्पण कर "न मम" [यह मेरा नहीं है] कह कर अलग हो जाते हैं। (७२) अब जो ओंकार से आरम्भ किया जाता है और तत्कार से समर्पित किया जाता है [इस प्रकार जिस कर्म को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है] (७३) वह वास्तव में ब्रह्माकार हो जाता है, तथापि उससे भी कुछ नफराना नहीं होती क्योंकि जो कर्म करता है उसका द्वैत-भाव रह जाता है। (७४) लवण जल में गल जाता है पर उसकी क्षारता शेष रह जाती है, वैसे ही ब्रह्माकार कर्म द्वैत ही जान पड़ता है। (७५) और देव ने ही निजमुख से वेद वाणी द्वारा कहा है कि जब-जब द्वैत की घटना होती है तब-तब संसार-भय प्राप्त होता है। (७६) अतएव निज से परे जो ब्रह्म उसका पर्यवसान आत्मस्वरूप में हो, इस बात की पूर्ति के लिए देव ने सत्शब्द की योजना की है। (७७) अब ओंकार और तत्कार के द्वारा जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, जो प्रशस्त इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं (७८) उन प्रशस्त कर्मों में सत्शब्द का जो विनियोग किया जाता है वह सुनने योग्य है। उसका हम वर्णन करते हैं। (७९)

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

इस सत्शब्द से असद्रूपी सिक्का छोड़ निष्कलङ्क सत्ता का स्वरूप व्यक्त होता है। (३८०) जो सत् है वह वस्तु किसी काल में या देश में निजस्वरूप से भिन्न नहीं हो सकती। वह स्वयं अपनी जगह अखण्डित बनी रहती है। (८१) जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह जो कुछ दिखाई देता है वह अनित्य होने के कारण सत् नहीं है तब जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है (८२) उस ब्रह्म से सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूपाकार हो जाने-

वाले प्रशस्त कर्म का साम्य कर उसे एकरूप देखना चाहिए। (८३) इस प्रकार ओंकार या तत्कार से कर्म ब्रह्माकार होता है पर उसके भी परे जाकर एकदम सद्रूप प्राप्त हो जाय, (८४) ऐसा इस सच्छब्द का अन्तर्गत विनियोग है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने विवरण किया, मैंने नहीं। (८५) क्योंकि यदि मैं कहूँ कि यह सब मैंने कहा तो यह हानि होगी कि श्रीकृष्ण के विषय में द्वैतभाव दिखाई देगा, अतः यह प्रवचन श्रीकृष्ण का ही है। (८६) अब यह सच्छब्द सात्विक कर्म का एक प्रकार से और उपकारी होता है। (८७) उत्तम सत्कर्म अपने अधिकारानुसार किये जा रहे हैं, परन्तु वे यदि किसी बात में न्यून हों (८८) तो जैसे सम्पूर्ण शरीर किसी एक अवयव से विहीन रहता है अथवा जैसे चक्रहीन रथ की गति बन्द हो जाती है (८९) वैसे ही जिस समय किसी एक गुण के अभाव के कारण सत् कर्म भी असद्रूप धारण करता है (३९०) उस समय ओंकार और तत्कार की उत्तम प्रकार की सहायता से युक्त हो सच्छब्द ही उस कर्म की त्रुटि की पूर्ति करता है। (९१) सच्छब्द उस असत्यस्वरूप को मिटाता है और अपने सत्व के बल से उसे सद्भाव की स्थिति को ला पहुँचाता है। (९२) दिव्यौषधि जैसे कृश रोगी की सहकारिणी होती है वैसे ही न्यूनाङ्ग कर्म के लिए सच्छब्द है; (९३) अथवा किसी प्रमाद से यदि कर्म अपनी मर्यादा का त्याग कर निषिद्ध मार्ग में जा पड़े, (९४) [क्योंकि चलनेहारा ही मार्ग भूलता है, परीक्षा करनेहारे को ही भ्रम हो जाता है, व्यवहार में ऐसी कौन-सी घटना नहीं होती ? (९५) अतः इसी प्रकार यदि अविचार के कारण कर्म अपनी सीमा छोड़ कर असाधु अर्थात् बुरे नाम का पात्र बना चाहता हो] (९६) तो उस समय हे प्रबुद्ध ! ओंकार और तत्कार की अपेक्षा इस सच्छब्द के विनियोग से ही उस कर्म को साधुता प्राप्त होती है। (९७) लोहा जैसे पारस से घिसा जाय, नाले को जैसे गङ्गा की भेंट हो, अथवा मृत मनुष्य पर जैसे अमृत की वृष्टि हो (९८) वैसे ही हे वीरेश ! सच्छब्द का प्रयोग असाधु कर्म का उपकारी होता है। अस्तु, इस नाम की ऐसी ही महिमा है। (९९) इस विवेचन का मर्म समझ कर यदि इस नाम का विचार करोगे तो तुम्हें ज्ञात होगा कि यह केवल ब्रह्म ही है। (४००) देखो, 'ओं तत्सत्', ये अक्षर मुमुक्षु को वहाँ ले जाते हैं, जहाँ से यह दृश्यमान जगत् प्रकाशित होता है। (१) वह तो अपरिच्छिन्न है, शुद्ध परब्रह्म है, ओं तत्सत् उसका अन्तर्गत और व्यञ्जक नाम है,

(२) तथापि जैसे आकाश का आश्रय आकाश ही है, वैसे ही इस नाम का आश्रय वही नामरहित परब्रह्म है तथा वह उस नाम से अभिन्न है। (३) आकाश में उदित होने पर सूर्य ही सूर्य को प्रकाशित करता है वैसे ही ब्रह्म को यह नाम व्यक्ति प्रकाशित करती है। (४) अतः यह नाम तीन अक्षरों का शब्द नहीं, यह केवल ब्रह्म ही है। यहाँ तक कि जो जो कर्म किया जाय (५)

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

—वह यज्ञ हो, या दान हो, या गहन तप इत्यादि हो पूर्ण किये गये हो या अपूर्ण रह गये हों, (६) परन्तु पारस की कसौटी पर जैसे सोने के उत्तम या हीन भेद नहीं होते वैसे ही वे सब कर्म ब्रह्म को समर्पित करते ही ब्रह्म ही हो जाते हैं। (७) समुद्र में मिलने पर जैसे नदियाँ जुदी नहीं की जा सकतीं, वैसे ही ब्रह्म में मिलने पर यह भेद शेष नहीं रहता कि यह अधूरा है और यह पूरा है। (८) इस प्रकार हे पार्थ, हे ज्ञानी! ब्रह्म नाम की शक्ति का सोपपत्तिक वर्णन हुआ। (९) और हे वीर! एक एक अक्षर का अलग अलग विनियोग भी हम उत्तम रीति से दिखा चुके। (४१०) हे राजा! अब तुम यह मर्म समझ गये कि यह ब्रह्म नाम कितना श्रेष्ठ है। (११) अब आज से सर्वदा इसी नाम की श्रद्धा का विस्तार होने दो, जिसके होने से जन्म बन्ध शेष नहीं रह सकता। (१२) जिस कर्म में इस नाम का उत्तम विनियोग किया जायगा वह कर्म वेद के ही पूर्ण अनुष्ठान के बराबर होगा। (१३)

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अन्यथा, यह मार्ग छोड़ कर, श्रद्धा का आसरा छोड़ कर, दुराग्रह की सीमा बढ़ाकर (१४) कोई कोटि अश्वमेध करे, रत्नों-सहित *पृथ्वी का दान दे, एक अँगूठे पर खड़े रह कर सहस्रावधि तप करे,* (१५) जलाशय की जगह चाहे नवीन समुद्र ही रचे, तथापि बहुत क्या कहें, ये सम्पूर्ण बातें वृथा हैं। (१६) जैसे पत्थर पर जल बरसना, अथवा राख में हवन करना, अथवा छाया को आलिङ्गन

देना, (१७) अथवा हे अर्जुन! जैसे आकाश को थप्पड़ मारना—वैसे ही वह कर्म भी वृथा जाता है। (१८) और कोल्हू में पत्थर पेरने से जैसे न तेल और न खली हाथ आती है, वैसे ही उस कर्म से केवल दरिद्रता का ही लाभ होता है। (१९) गाँठ में केवल खपरी बँधी हो तो वह जैसे, देश हो या परदेश हो, कहीं नहीं बिकती और भूखों मारती है, (४२०) वैसे ही उपर्युक्त कर्म-समूह से इस लोक के ही भोग प्राप्त नहीं हो सकते तो फिर परलोक की इच्छा ही कौन कर सकता है? (२१) अतः ब्रह्म नाम की श्रद्धा छोड़ कर जो कुछ कर्म किया जाय वह, बहुत क्या कहें, इस लोक या परलोक दोनों के सम्बन्ध से केवल कष्ट करना है। (२२) इस प्रकार पापरूपी हाथी के नाशक सिंह, त्रिताप-रूपी अन्धकार के सूर्य, कमलापति सकल वीरों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा। (२३) तब जैसे चन्द्रमा चाँदनी से ढँक जाता है वैसे ही अर्जुन निःसीम आत्मानन्द में डूब गया। (२४) आश्चर्य है कि यह संग्राम एक ऐसा व्यापार है जिसमें बाणों की नोकें मानों माप हैं और उनमें शरीर का मांस और जीवन भी भर कर मापा जाता है, (२५) ऐसे कठिन अवसर पर स्वानन्द का राज्य कैसे भोगा जा सकता है! आज ऐसा भाग्योदय और दूसरी जगह नहीं है। (२६) सञ्जय कहते हैं कि हे कौरवराज! शत्रु है तथापि उसके सद्गुणों से आनन्द होता है। इस समय तो वह हमें यह आनन्द प्राप्त करा देनेवाला गुरु ही है। (२७) अर्जुन यदि यह बात न निकालता तो श्रीकृष्ण क्यों यह मर्म प्रकट करते? और हमें परमार्थ की प्राप्ति कैसे होती? (२८) हम अज्ञान के अँधेरे में अपनी जन्मपीड़ा काटते हुए पड़े थे वहाँ से वह हमें आत्म-प्रकाशरूपी मन्दिर में ले आया। (२९) उतना बड़ा उपकार उसने तुम्हारे और हमारे ऊपर किया है इसलिए वह मुझे गुरुत्व की दृष्टि से व्यास मुनि का भाई ही दिखाई देता है। ४३०) इतने में सञ्जय ने मन में सोचा कि हम क्या बोल रहे हैं, यह बड़ाई राजा के हृदय में चुभेगी। (३१) अतः उसने वह वर्णन छोड़ दिया और दूसरी बात छेड़ दी जिसके विषय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया था। (३२) निवृत्तिनाथ के ज्ञानदेव कहते हैं कि जैसा सञ्जय ने वर्णन किया वैसा मैं भी करता हूँ, सुनिए। (४३३)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायां सप्तदशोऽध्यायः।

घिसना पड़ता है? (२८) तब ज्ञानदेव ने निवेदन किया कि यह आपका प्रसाद हुआ, अब देव ग्रन्थ की ओर अवधान दें। (२९) महाराज! यह अठारहवाँ अध्याय अर्थरूपी चिन्तामणि का बनाया हुआ इस गीतारत्न-मन्दिर का कलश है जो सम्पूर्ण गीता-दर्शन का सूचक है। (३०) संसार में भी ऐसी ही प्रथा है कि दूर से मन्दिर का कलश ही दिखाई देता है, और इस कलश के दर्शन से देवता-दर्शन के फल की प्राप्ति समझी जाती है। (३१) वही हाल इस अध्याय का है। क्योंकि इसी एक अध्याय के देखने से सम्पूर्ण गीता-शास्त्र अवगत हो जाता है। (३२) इसी लिए मैं इस अठारहवें अध्याय को, श्रीव्यासजी द्वारा गीता-मन्दिर पर चढ़ाया गया कलश, समझता हूँ। (३३) जैसे मन्दिर पर कलश के अनन्तर कुछ काम शेष नहीं रह जाता वैसे ही यह अध्याय गीता की समाप्ति का द्योतक है। (३४) व्यास जी स्वभावतः बड़े श्रेष्ठ शिल्पकार हैं। उन्होंने वेद-रूपी रत्नों के पर्वत पर उपनिषदार्थ-रूपी पथरीली धरती खोदी (३५) और उसमें से जो धर्म, अर्थ, और काम रूपी बहुत-सी अनुपयोगी मिट्टी निकली उसका चहुँ ओर महाभारत-रूपी परकोटा बना दिया। (३६) उसके बीच में कृष्णार्जुन-संवाद-रूपी कुशलता से अखण्ड आत्मज्ञान-रूपी शुद्ध और उत्तम पत्थरों का समुदाय रचा (३७) और परमार्थ-रूपी डोरियाँ तान कर और सब शास्त्रों की सहायता से मोक्ष मर्यादा का आकार सिद्ध किया। (३८) इस प्रकार इस मन्दिर की रचना करते हुए पन्द्रह अध्याय तक उसके पन्द्रह स्तर पूरे हो चुके, (३९) तदनन्तर सोलहवाँ अध्याय मानो उसका घण्टा है और सत्रहवाँ अध्याय कलश रखने की भूमि है। (४०) उस पर यह अठारहवाँ अध्याय मानो कलश चढ़ाया गया है और उस पर श्रीव्यास ने गीता के नाम की ध्वजा लगा दी है। (४१) अतः यह अध्याय बताता है कि पिछले अध्याय जो एक पर एक चढ़ते हुए खण्ड हैं उनकी पूर्णता इसमें हुई है। (४२) कलश होने से जैसे कोई काम छिपा नहीं रक्खा जा सकता वरन् प्रकट होता ही है वैसे ही अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण गीताशास्त्र को प्रकट करता है। (४३) इस प्रकार श्रीव्यासजी ने कुशलता से गीता-मन्दिर की रचना कर प्राणियों की बड़ी रक्षा की है। (४४) कोई इसका पाठ करते अर्थात् इसकी बाहरी ओर से प्रदक्षिणा करते हैं, कोई श्रवण-मिस से मानो गीता-मन्दिर की छाया का सेवन करते हैं। (४५) कोई अवधान-रूपी

ताम्बूल और दक्षिणा लेकर इसके अर्थज्ञान-रूपी गर्भ-गृह में प्रवेश करते हैं (४६) और जल्दी से आत्मज्ञान के द्वारा श्रीहरि परमात्मा से जा मिलते हैं; तथापि इस मोक्ष-मन्दिर में इन सब साधनों की योग्यता समान ही है। (४७) श्रेष्ठों के घर पंक्ति में भोजन करनेवाले नीचे-ऊपर बैठे हुए सब लोगों को समान ही पक्वान्न परोसे जाते हैं, वैसे ही इस गीता के श्रवण से, अर्थज्ञान से या पाठ से मोक्ष का ही लाभ होता है। (४८) अतः उपर्युक्त भेद जान कर मैं कहता हूँ कि गीता-ग्रन्थ विष्णु का मन्दिर है और अठारहवाँ अध्याय उसका कलश है। (४९) अब सत्रहवें अध्याय के अनन्तर अठारहवें अध्याय की रचना कैसी की गई है, वह सम्बन्ध जैसा मुझे जान पड़ता है वैसा निवेदन करता हूँ। (५०) गङ्गा और यमुना का जल यद्यपि प्रवाह-भेद से अलग जान पड़ता है तथापि जलत्व में एक ही है, (५१) अथवा अर्द्धनारीनटेश्वर के रूप में दोनों आकृतियों की कुछ हानि न होकर दोनों को मिला कर एक ही रूप रचा हुआ दिखाई देता है, (५२) अथवा चन्द्रकला दिन-दिन बढ़ती हुई चन्द्रबिम्ब में विस्तृत दिखाई देती है पर चन्द्रमा एक ही है, उस पर चन्द्रकला की कोई जुदी-जुदी तह नहीं चढ़ती, (५३) वैसे ही प्रति अध्याय में प्रति श्लोक के चारों चरण जुदे-जुदे जान पड़ते हैं। (५४) परन्तु जो सिद्धान्त व्यक्त किया गया है उसके रूप कोई जुदे-जुदे नहीं हैं। जैसे एक ही डोरी अनेक रत्न-मणि धारण करनेहारी रहती है, (५५) अथवा अनेक मोती मिलने पर जैसे एक ही हार बनता है और उनकी शोभा देनेहारी कान्ति भी एक ही होती है, (५६) फूलों का हार बनाते हुए फूलों की संख्या अधिक होती जाती है तथापि उनकी सुगन्ध की गणना करने के लिए एक के अतिरिक्त दूसरी अँगुली का उपयोग नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन अध्यायों का और श्लोकों का हाल समझना चाहिए। (५७) श्लोक सात सौ हैं और अध्यायों की संख्या अठारह है, परन्तु श्रीकृष्ण ने जिस तत्त्व का निरूपण किया वह एक ही है, दूसरा नहीं। (५८) और मैंने भी उस मार्ग का अवलम्बन न छोड़ कर ग्रन्थ का स्पष्टी-करण किया है। सम्प्रति उसी मार्ग के अनुसार निरूपण करता हूँ सुनो। (५९) सत्रहवाँ अध्याय समाप्त होते समय अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा (६०) कि हे अर्जुन! ब्रह्म नाम के विषय में आस्थाबुद्धि छोड़ कर जितने कर्म किये जायँ उतने सब असत्कर्म होते हैं। (६१) श्रीकृष्ण के ये वचन सुनते ही अर्जुन को आनन्द हुआ। उसने सोचा

कि श्रीकृष्ण ने कर्मनिष्ठ लोगों को दोष दिया। (६२) वे बेचारे अज्ञानान्ध सम्मुख खड़े हुए ईश्वर को नहीं पहचानते तो उन्हें नाम की श्रेष्ठता कैसे जान पड़े? (६३) और रज और तम दोनों का नाश हुए बिना श्रद्धा अल्प ही रहती है तो वह ब्रह्मनाम में कैसे लग सकती है? (६४) अतः शत्रु को आलिङ्गन देना, वार्ता सुनते ही दौड़ना या नागिन को खिलाना आदि बातें जैसी घातक होती हैं, (६५) वैसे ही दुर्घट कर्म करने से जन्मान्तर ही की प्राप्ति होती है। कर्म से ऐसा दुःखद लाभ होता है। (६६) यदि भाग्यवशात् कर्म यथासाङ्ग हो तभी उसे ज्ञान की योग्यता हो सकती है, अन्यथा उससे नरक ही प्राप्त होता है। (६७) यहाँ तक कर्म में अनेक अड़चनें हैं, तो फिर कर्मठों को मोक्ष की पारी कब आ सकती है! (६८) अतः कर्म की पराधीनता मिट जाय, इसलिए सम्पूर्ण कर्म का ही त्याग कर देना चाहिए, और पूर्ण सन्यास का स्वीकार करना चाहिए। (६९) जिनके द्वारा ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है कि जिससे कभी कर्म-बाधा के भय की वार्ता ही नहीं रहती, (७०) जो ज्ञान के आवाहन-मन्त्र हैं, अथवा ज्ञान के उत्तम खेत हैं, अथवा ज्ञान को आकर्षित करनेहारे सूत्र हैं, (७१) उन सन्यास और त्याग का अनुष्ठान करने से ससार की मुक्ति होती है, इसलिए यही बात उत्तम रीति से और स्पष्ट पूछ लेनी चाहिए। (७२) ऐसा सोच कर पार्थ ने त्याग और संन्यास का स्पष्टीकरण करने के लिए श्रीकृष्ण से प्रश्न किया। (७३) उस पर श्रीकृष्ण ने जो वचन कहे वही 'अठारहवें' अध्याय के रूप से प्रकट हुए हैं। (७४) इस प्रकार जन्य-जनक भाव से एक अध्याय से दूसरा उत्पन्न हुआ है। अब जो प्रश्न किया गया उसे उत्तम रीति से सुनो। (७५) श्रीकृष्ण के वे अन्तिम वचन सुन कर पार्थ के मन में दुःख हुआ। (७६) यों तो वह तत्त्व के विषय में वास्तव में निश्चिन्त हो गया था, परन्तु श्रीकृष्ण चुप हो रहे, यह उससे न सहा गया। (७७) बछड़ा दूध पी कर अघा जाता है तथापि वह यही चाहता है कि गाय उससे दूर न हो। अनन्य प्रीति ऐसी ही रहती है। (७८) जो प्रेमी रहता है उसकी यही इच्छा रहती है कि मेरा प्रेम-पात्र, यद्यपि कारण न हो तथापि, बोलता ही रहे, उसने मुझे देख लिया हो तथापि और भी देखता रहे। तात्पर्य कि प्रेम का भोग लेते हुए उसकी इच्छा दुगुनी बढ़ती जाती है। (७९) प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है, और पार्थ तो मूर्तिमान् प्रेम ही है। इसलिए श्रीकृष्ण का चुप-

चाप रहना उसे दुःखद मालूम हुआ। (८०) जैसे दर्पण में देखना आत्म-रूप ही देखना है, वैसे ही श्रीकृष्ण के संवाद के मिस से वास्तव में निष्कर्म ब्रह्म का ही उपभोग लेना है। (८१) अतः संवाद के बन्द पड़ने से वह उपभोग भी न रहेगा। यह बात, जो उस सुख का आस्वाद लिये रहता है वह, कैसे सह सकता है। (८२) इसलिए त्याग और संन्यास के विषय में प्रश्न करने के बहाने अर्जुन ने श्रीकृष्ण से फिर गीता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करवाया। (८३) यह अठारहवाँ अध्याय नहीं, इसे एकाध्यायी गीता ही समझो। वत्स जो गाय को दुहने लगे तो उसे समय असमय कहाँ रहता है (८४) वैसे ही समाप्ति के समय अर्जुन ने फिर से गीता कहवाई है। सेवक के प्रश्न करने पर क्या स्वामी उत्तर न देंगे ? (८५) परन्तु अस्तु, अर्जुन ने यों कहा कि हे विश्वेश ! मैं विनती करता हूँ सुनिए। (८६)

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

महाराज ! संन्यास और त्याग दोनों का सम्बन्ध एक ही अर्थ से है। जैसे सङ्घात और सङ्घ दोनों का अर्थ एक समुदाय ही होता है (८७) वैसे ही त्याग और संन्यास दोनों से त्याग ही कहा जाता है। हम तो यही समझते हैं, (८८) पर यदि कोई भिन्न अर्थ हो तो देव उसे स्पष्ट करें। इस पर श्रीमुकुन्द ने कहा कि उनका अर्थ भिन्न है; (८९) तथापि हे अर्जुन ! त्याग और संन्यास दोनों का अर्थ एक ही मालूम होता है यह मैं भी खूब समझता हूँ। (९०) इन दोनों शब्दों से असल में त्याग का ही अर्थ होता है, पर भेद इतना ही है (९१) कि जब सर्वथैव कर्म को छोड़ दिया जाता है तब उसे संन्यास कहते हैं और केवल फल का त्याग करना त्याग कहलाता है। (९२) अब किस कर्म का फल त्याग करना चाहिए और कौन कर्म का निःशेष त्याग करना चाहिए, उसका भी हम स्पष्ट वर्णन करते हैं, ध्यान दो। (९३) जङ्गल में और पर्वतों पर जैसे आप ही आप अगणित वृक्ष उत्पन्न होते हैं वैसे किसी धान्य के पेड़ या बगीचे के झाड़ नहीं उत्पन्न होते। (९४) बिना बोये जैसे घास जहाँ-तहाँ उगती है, वैसे खेत

में बिना जमाये धान नहीं उग सकता, (९५), अथवा शरीर तो आप ही आप उत्पन्न होता है पर उसके आभरण उद्योग से ही तैयार होते हैं, नदी आप ही आप होती है पर कुएँ खुदवाये जाते हैं, (९६) इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं, पर सकाम कर्म कामना से अलग नहीं होता। (९७)

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अश्वमेध इत्यादि जो यज्ञ किये जाते हैं उनका अनुष्ठान करना कामनाओं का ही समूह इकट्ठा करना है। (९८) तालाब, कुएँ, बगीचे और बड़े-बड़े गाँव दान देना, और भी नाना प्रकार के व्रतों का आचरण करना (९९) इत्यादि जो सम्पूर्ण इष्टापूर्ति के कर्म हैं उनके मूल में केवल कामना ही रहती है, और उनसे कर्मानुसार फलों का भोग अवश्य ही प्राप्त होता है। (१००) हे धनञ्जय! शरीररूपी गाँव में आकर जैसे जन्म-मृत्यु का संस्कार नहीं मेटा जा सकता, (१) अथवा ललाट में जो लिखा रहता है वह जैसे, कुछ भी करो, नहीं टलता, अथवा मनुष्य का कालापन या गोरापन जैसे धोने से भी नहीं मिटता (२) वैसे ही सकाम कर्म फलभोग के लिए धरना दे बैठता है, जैसे कि साहूकार का तगादेवाला ऋण वसूल करने के लिए धरना देकर बैठता है; (३) अथवा यदि अकस्मात् कामना के बिना भी बन पड़े, तथापि वह काम्य कर्म ऐसा बाधक होता है जैसे झूठे युद्ध में भी लग जाने पर कोई बाण घातक होता है। (४) बिना जाने भी गुड़ मुँह में डाला जाय तो मीठा ही लगेगा, अंगारे को राख समझ कर भी दबाया जाय तथापि हाथ अवश्य ही जलेगा, (५) वैसे ही फल देना काम्य कर्म में एक स्वाभाविक सामर्थ्य है। अतएव मुमुक्षुओं को ऐसा कर्म कुतूहल से भी नहीं करना चाहिए। (६) बहुत क्या कहें, हे पार्थ! ऐसा जो काम्य कर्म है उसका त्याग उवके हुए विष के समान करना चाहिए। (७) हे सर्वज्ञानी! ऐसे त्याग को संसार में अन्तर्दृष्टया सन्यास कहते हैं (८) द्रव्य का त्याग करना जैसे चोरी का डर छोड़ देना है वैसे ही काम्य कर्म का त्याग करना कामना का ही उन्मूलन करना है। (९) और चन्द्र या सूर्य ग्रहण

के समय श्राद्ध या दान करना, माता-पिता की मृत्यु का दिन मानना, (११०) अथवा अतिथि की पूजा इत्यादि करना ऐसे जो कर्म करने पड़ते हैं वे नैमित्तिक कर्म समझने चाहिएँ। (११) वर्षा ऋतु में आकाश खलबलाता है, वसन्त ऋतु में वन की शोभा दुगुनी बढ़ती है, यौवन में शरीर की सुन्दरता प्रकट होती है, (१२) अथवा सोमकान्त-मणि चन्द्र को देखकर पसीजती है, कमल का फूल सूर्य का दर्शन होते ही खिलता है, इन सबों में जैसे उनका विद्यमान गुण ही विस्तार पाता है, दूसरा नहीं (१३) वैसे ही जो नित्य कर्म है वही जब किसी निमित्त के समय नियम से किया जाय तो वह श्रेष्ठ समझा जाता है; इससे उसे नैमित्तिक नाम दिया गया है। (१४) और प्रातःकाल, मध्याह्न व सन्ध्या के समय जो प्रतिदिन कर्त्तव्य ही है, परन्तु दृष्टि जैसे नेत्रों से परिमित रहती है और उनसे अधिक नहीं रहती, (१५) अथवा उपयोग के पूर्व गति जैसे चरणों में ही रहती है, अथवा प्रभा जैसे दीप-बिम्ब में रहती है (१६) आने के पूर्व सुगन्धि जैसे चन्दन में ही रहती है, वैसे ही जो अधिकार का स्वरूप प्रकट करनेहारा कर्म है (१७) उसे हे पार्थ ! संसार में नित्य-कर्म कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें नित्य और नैमित्तिक दोनों कर्म समझा चुके। (१८) ये नित्य और नैमित्तक कर्म अवश्यमेव कर्त्तव्य हैं। कोई उन्हें निष्फल भी समझते हैं। (१९) परन्तु जैसे भोजन से यह फल होता है कि तृप्ति होती तथा भूख का नाश होता है वैसे ही नित्य और नैमित्तिक कर्म सब तरह से फल-दायक हैं। (१२०) निकृष्ट सोना अग्नि में डाला जाय तो उसके मल का नाश होता और उसके कस का गुण बढ़ता जाता है, उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक-कर्म का फल समझो। (२१) क्योंकि ज्यों-ज्यों पाप का नाश होता है त्यों-त्यों मनुष्य का अधिकार बढ़ता जाता है और उसे तत्काल सद्गति प्राप्त होती है। (२२) नित्य नैमित्तिक कर्मों का इतना बड़ा फल है। परन्तु उस फल का, मूल नक्षत्र में उपजे हुए बालक के समान, त्याग करना चाहिए। (२३) वसन्त ऋतु में ज्योंही सम्पूर्ण लताएँ बढ़ने लगती हैं त्योंही आम्र वृक्ष भी पल्लवित होता है, परन्तु वसन्त ऋतु जैसे उन्हें हाथ न लगा कर उनका त्याग कर चल जाता है, (२४) वैसे ही कर्म की सीमा का उल्लङ्घन न करके नित्य-नैमित्तिक-कर्मों की ओर चित्त देना चाहिए, परन्तु उनके

सम्पूर्ण फलों को उबके हुए अन्न के समान त्याज्य समझना चाहिए। (२५) इस कर्मफल के त्याग को ज्ञानी जन त्याग कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें त्याग और संन्यास की व्याख्या सुना चुके। (२६) जब सन्यास किया जाता है तब काम्य कर्म की बाधा नहीं हो सकती तथा निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः निषिद्ध होने के कारण ही तज दिया जाता है। (२७) जो नित्य इत्यादि कर्म रहे वे फलत्याग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, जैसे शिर छाँट डालने से शेष शरीर का भी अन्त हो जाता है। (२८) अन्त में फसल के पकने पर जैसे धान्य हाथ आता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्म का अन्त होने पर आत्मज्ञान आप ही आप खोजता हुआ आ पहुँचता है। (२९) ऐसी युक्ति के साथ त्याग और सन्यास दोनों का अनुष्ठान करने से ये आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त करा देते हैं। (१३०) अन्यथा इस युक्ति में भूल हो जाय और फिर यदि अनुमान से कर्मत्याग किया जाय तो कुछ त्याग नहीं होता, किन्तु और भी अधिक उलझाव हो जाता है। (३१) यदि रोग से अपरिचित औषधि का सेवन किया जाय तो वह विषरूप हो जाती है, अन्न का त्याग करने से क्या भूख से मृत्यु नहीं हो जाती? (३२) अतएव जो कर्म त्याज्य नहीं है उसका त्याग नहीं करना चाहिए, और जो त्याज्य है उसका लोभ भी न रखना चाहिए। (३३) त्याग के सूक्ष्म मार्ग में भूल हो जाय तो जो कुछ त्याग किया जाय वह सब बोझा ही होता है। अतः जो वैराग्यसम्पन्न हैं वे सर्वदा निषिद्ध कर्मों का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं। (३४)

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कुछ लोग, जो फल-त्याग नहीं कर सकते, कहते हैं कि कर्म बन्धक ही होते हैं, जैसे कोई स्वयं नङ्गा हो और कहे कि संसार बड़ा लड़ाका है; (३५) अथवा हे धनञ्जय! जैसे कोई जिह्वा-लम्पट रोगी नाना प्रकार के अन्नों को दूषण दे, अथवा जैसे कोई कोढ़ी अपने शरीर पर न रूठ कर मक्खियों पर कोप करे, (३६) वैसे ही जो फलेच्छा के वश रहते हैं वे कहते हैं कि कर्म करना ही बुरा है, और इसलिए वे निर्णय करते हैं कि कर्म का त्याग ही करना चाहिए। (३७) कोई कहते हैं कि यज्ञ इत्यादि कर्म अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि इनके अतिरिक्त चित्तशुद्धि करनेहारी दूसरी वस्तु ही नहीं है। (३८) मनशुद्धि के

मार्ग में यदि शीघ्र ही विजय-सम्पादन करना हो तो कर्मरूपी शस्त्र को हाथ में लेने में आलस्य न करना चाहिए। (३९) सोना शुद्ध करना हो तो जैसे अग्नि से न उकताना चाहिए, अथवा दर्पण स्वच्छ करना हो तो रजःकणों का सञ्चय करना चाहिए (१४०) अथवा कपड़े स्वच्छ करने की इच्छा हृदय में हो तो जैसे धोबी की नाँद अशुद्ध समझ कर न छोड़नी चाहिए (४१) वैसे ही कर्मों को क्लेश-कारक समझ कर उनका अनादर नहीं करना चाहिए। रींधे बिना क्या सुन्दर अन्न का लाभ हो सकता है ? (४२) ऐसे-ऐसे वचनों से कई लोग जान-बूझ कर कर्म-प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार त्याग के विषय में विरुद्ध-वाद मचा है (४३) तथापि वाद मिट जाय और त्याग का निश्चित अर्थ-ज्ञान हो अतः हम उस अर्थ का अच्छी तरह विवरण करते हैं सुनो। (४४)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

हे पाण्डव ! संसार में त्याग तीन प्रकार का है। वे तीनों प्रकार हम जुदे-जुदे वर्णन करते हैं। (४५) परन्तु यद्यपि हम त्याग के तीन प्रकारों का वर्णन करेंगे तथापि उन सबका तात्पर्य और निष्कर्ष थोड़ा सा ही है। (४६) अतः मुझ सर्वज्ञ की बुद्धि को भी जो निश्चय से ग्राह्य जान पड़ता है वह निश्चयतत्त्व पहले सुन लो। (४७) अपनी मुक्ति पाने के लिए जो मुमुक्षु जागृत रहना चाहता है उसे चाहिए कि हम जो बताते हैं वही एक बात, हर तरह से, करे। (४८)

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

पथिक को जैसे मार्ग में पगडण्डी या रास्ता न छोड़ने चाहिएँ वैसे ही मनुष्य को यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो आवश्यक कर्म हैं उनका त्याग न करना चाहिए। (४९) जैसे जब तक खोई हुई वस्तु न मिल जाय तब तक उसकी खोज न छोड़नी चाहिए, अथवा तृप्ति न हो तब तक सामने की थाली अलग न करनी चाहिए, (१५०) जब तक किनारे न लग जाय तब तक नाव न छोड़नी चाहिए, फल लगने के पूर्व केले के वृक्ष का त्याग न करना चाहिए, रक्खी हुई वस्तु जब तक न मिले

तब तक हाथ का दीपक रखना न चाहिए, (५१) वैसे ही जब तक आत्म-ज्ञान के विषय में उत्तम रीति से निश्चय न हो जाय तब तक यज्ञ इत्यादि कर्मों से उदासीन न होना चाहिए। (५२) वरन् अपने अपने अधिकार के अनुसार उन यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मों का अनुष्ठान आग्रहपूर्वक तथा अधिकाधिक करना चाहिए। (५३) चलने का वेग यदि बढ़ता ही जाय तो उस वेग के कारण मनुष्य को थक कर बैठना ही पड़ता है, वैसे ही कर्मातिशय भी निष्कर्मता का हेतु होता है। (५४) औषधि खाने का धैर्य ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ता है त्यों-त्यों रोग का निवारण भी जल्दी होता जाता है। (५५) वैसे ही ज्यों-ज्यों बारम्बार विधिपूर्वक कर्म किये जाते हैं त्यों-त्यों रज और तम निःशेष होते जाते हैं। (५६) सुवर्ण को ज्यों-ज्यो एक के अनन्तर एक इस प्रकार अनेक पुटों मे खार दिया जाता है त्यों-त्यों उसकी अशुद्धता जल्दी-जल्दी निकलती आती है और वह निर्दोष होता जाता है, (५७) वैसे ही निष्ठा से कर्म किया जाय तो वह रज और तम का नाश कर सत्वशुद्धि का स्थान प्रत्यक्ष करता है। (५८) अतः हे धनञ्जय! सत्वशुद्धि की प्राप्ति की इच्छा करनेहारे के लिए कर्म तीर्थों की बराबरी करते हैं। (५९) तीर्थों से बाहरी मल की शुद्धि होती है और कर्मों से अन्त.करण उज्ज्वल होता है। अतः सत्कर्म निर्मल तीर्थ ही हैं। (१६०) मरुदेश में चलती हुई घाम की लुहें जैसे किसी प्यासे के लिए अमृत बरसा दें, अथवा किसी अन्धे के नेत्रों को जैसे सूर्य का प्रकाश ही प्राप्त हो जाय, (६१) डूबते हुए को जैसे नदी ही तारक हो जाय, अथवा गिरते हुए को पृथ्वी ही दया से बचा ले, अथवा मरते हुए को स्वयं मृत्यु ही और अधिक आयुष्य अर्पण कर दे, (६२) वैसे हे पाण्डु-सुत! कर्म ही मुमुक्षुओं को कर्मबद्धता से मुक्त कर देते हैं। जैसे रसायन की रीति से लेने से विष ही मृत्यु से बचाता है, (६३) वैसे ही हे धनञ्जय! कर्म करने की भी एक युक्ति है जिससे वे बन्धन से छुड़ाने के लिए समर्थ होते हैं। (६४) अब हे किरीटी! हम उस युक्ति का वर्णन करते हैं जिससे कर्म करने से कर्म का नाश हो जाता है। (६५)

एतान्यपि तु कर्माणि सगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

महायाग प्रमुख कर्म, शुद्ध रीति से करते हुए, यह अभिमान न होना चाहिए कि मैं यह यज्ञ करनेहारा हूँ। (६६) जो दूसरे के पैसे से

तीर्थ को जाता है जैसे वह सन्तोष के साथ ऐसी डींग नहीं मे सकता कि मैं यात्रा कर रहा हूँ, (६७) अथवा हे राजा! जो किसी राजा की मोहरबन्द आज्ञा के आधार पर अकेला ही किसी को पकड़ लाता है वह जैसे ऐसा गर्व नहीं कर सकता कि मैं जीतनेहारा हूँ (६८) अथवा जो दूसरे के सहारे से तैरता है उसमें जैसे तैरने का अभिमान नहीं रहता, अथवा पुरोहित जैसे दातृत्व का अभिमान नहीं रख सकता, (६९) वैसे ही कर्तृत्व का अहङ्कार ग्रहण न करके यथाकाल सम्पूर्ण कर्मरूपी मोहरे सरकाते जाना चाहिए। (१७०) हे पाण्डव! किये हुए कर्म की जो फल-प्राप्ति हो उसकी ओर चित्त न जाने देना चाहिए। (७१) पहले से ही फल की आशा छोड़ कर कर्मों का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे कि दाई पराये बालक को सँभालती है। (७२) पाकर की आशा से जैसे कोई पीपल के वृक्ष को जल नहीं देता, वैसे ही फल के विषय में निराश हो कर्म करना चाहिए। (७३) चरवाहा जैसे दूध की आशा न रख कर गाँव की सब गायें इकट्ठी करता है वैसे ही कर्म-फल की आशा छोड़नी चाहिए। (७४) ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करेगा उसे अपने में ही आत्मप्राप्ति हो जावेगी (७५) अतः मेरा उत्तम सन्देश यही है कि फल की आशा और देहाभिमान को छोड़ कर कर्म करना चाहिए। (७६) बन्ध से जो जीव कष्टी है, और अपनी मुक्ति के लिए परिश्रम करता है, उससे मैं बारबार कहता हूँ कि इस वचन के विपरीत आचरण मत करो। (७७)

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नहीं तो जैसे कोई अन्धकार पर क्रोध कर अपनी ही आँखें फोड़ने की चेष्टा करे वैसे ही कर्म के द्वेष से सम्पूर्ण कर्मों का जो त्याग करता है (७८) उसका कर्म-त्याग करना मैं तामस त्याग समझता हूँ, मानों आधासीसी पर क्रोध कर कोई सिर ही छाँट डाले। (७९) अजी! रास्ता बुरा है तो उसे पैरों से ही काटना चाहिए, कि रास्ते के अपराध के लिए उन पैरों को ही काट डालना चाहिए? (१८०) भूखे के सन्मुख रक्खा हुआ अन्न कितना भी उष्ण हो तथापि यदि वह बुद्धि का उपयोग न करे तो थाली को लात मार कर लङ्घन करता बैठा रहे (८१) वैसे ही कर्म की बाधा कर्म करने के ही रहस्य से मिटती है।

यह बात तामस मनुष्य भ्रम से मत्त होने के कारण नहीं जानता। (८२) तात्पर्य यह है कि तामसी मनुष्य उसी कर्म का त्याग करता है जो कि स्वभावत. उसके विभाग में आता है। अतः ऐसे तामस त्याग के वश न होना चाहिए; (८३)

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

अथवा जो अपना अधिकार जानता है, विहित है उसे भी जो समझता है परन्तु कर्म की कठिनता देख जिसे त्रास उपजता है, (८४) [क्योंकि रोटी जैसे बाँध ले जाते समय भारी मालूम होती है वैसे कर्म भी आरम्भ मे थोड़े कठिन जान पड़ते हैं, (८५) नीम जैसे जीभ को कड़ुवा लगता है, हड़ जैसे पहले-पहल कसैली लगती है, वैसे ही कर्म का आरम्भ कठिन जान पड़ता है, (८६) अथवा गाय दोहते समय प्रथम जैसे उसकी सींगों का डर लगता है, सेवती का फूल तोडते समय काँटों का डर रहता है, भोजन-सुख के पहले राँधने की कठिनता सहनी पड़ती है, (८७) वैसे ही मैं बारम्बार यही कहता हूँ कि कर्म आरम्भ में ही अत्यन्त कठिन मालूम पड़ता है।] एव जो कर्म करनेहारा उस श्रम के कारण उस कर्म को कठिन समझता है, (८८) अथवा विहित जानकर कर्म का आरम्भ करता है पर क्लेश होते ही उस आरम्भिक कर्म को ऐसा छोड़ भागता है मानों अग्नि से जल गया हो, (८९) और कहता है कि बड़े भाग्य से यह शरीर जैसी वस्तु मिली है उसे, कर्म इत्यादि कर, किसी पापी की तरह मैं क्यों क्लेश दूँ? (१९०) कर्म का जो फल होता हो वह चाहे मुझे न मिले, आज जो भोग मुझे उपलब्ध हैं उन्हीं का उपभोग क्यों न लूँ? इस प्रकार हे वीरेश। जो शरीर क्लेश के डर से कर्मों को छोड़ता है उसका त्याग राजस त्याग है। (९१-९२) यों तो वह भी कर्म का त्याग है, पर उसे उस त्याग का फल नहीं मिलता। उफना हुआ दूध अग्नि में गिरे तो उससे जैसे होम का फल नहीं मिलता, (९३) अथवा जल में डूबने से मृत्यु हो जाय तो वह जलसमाधि नहीं कही जा सकती किन्तु वह दुर्मरण ही है (९४) वैसे ही देह के लोभ में जो कर्म पर पानी छोडता है उसे सचमुच त्याग के फल का लाभ नहीं होता। (९५) बहुत क्या कहे, जब आत्मज्ञान का उदय होता है तब जैसे प्रात काल नक्षत्रों का लोप करता है (९६) वैसे ही हे धनञ्जय।

सब क्रिया कारण-सहित विलीन हो जाती है। ऐसे कर्मत्याग का जो मोक्ष-फल होता है वह मोक्षफल (९७) हे अर्जुन! अज्ञानी त्यागी को नहीं मिलता। अतः वह त्याग राजस न समझना चाहिए। (९८) अब संसार में कौनसा त्याग करने से मोक्ष-फल घर आता है, उसका हम प्रसङ्गानुसार वर्णन करते हैं, सुनो। (९९)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

जो अपने अधिकारानुसार स्वभावतः प्राप्त कर्म का विधि-विधान सहित आचरण करता है (२००) परन्तु जिसके हृदय में यह स्मृति भी नहीं रहती कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ, तथा जो फल की आशा को तिलाञ्जलि देता है, (१) [जैसे माता की अवज्ञा करना अथवा उसके विषय में काम रखना ये दोनों बातें अधोगति का हेतु होती हैं (२) अतः इन दोनों पापों का त्याग कर माता की सेवा करनी चाहिए, अन्यथा गाय का मुँह अपवित्र है इसलिए क्या कोई गाय का ही त्याग कर देता है? (३) जो फल भाता है उसके छिलके और गुठली में रस न होने के कारण क्या कोई उस फल को ही फेंक देता है? (४) वैसे ही कर्तृत्व का अभिमान और कर्म-फल की इच्छा दोनों को कर्म का बन्ध कहते हैं; (५) अतः इन दोनों के विषय में जो इस प्रकार रहता है जैसा कि बाप बेटी के विषय में निरभिलाष रहता है] वह मनुष्य विहित कर्म करता हुआ कभी दुःखी नहीं हो सकता। (६) यही त्याग एक श्रेष्ठ वृक्ष है जिसमें मोक्ष-रूपी महाफल लगता है। संसार में यही त्याग सात्त्विक नाम से प्रसिद्ध है। (७) अब जैसे बीज जला देने से वृक्ष निर्वंश हो जाता है वैसे ही जो फल का त्याग कर कर्म-त्याग करता है (८) उसके रज और तम ऐसे छूट जाते हैं जैसे पारस का स्पर्श होते ही लोहे का अमङ्गल दोष निकल जाता है। (९) फिर शुद्ध सत्त्व के कारण आत्मज्ञान-रूपी नेत्र खुलते हैं, और सन्ध्या के समय जैसे मृगजल नहीं दिखाई देता (२१०) वैसे ही उस सात्त्विक मनुष्य की बुद्धि इत्यादि के सन्मुख इतना बड़ा विश्वाभास भी, आकाश जैसा, कहीं दिखाई नहीं देता। (११)

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

और प्रारब्धानुसार जो भले बुरे कर्म प्राप्त होते हैं वे, जैसे मेघ आकाश में विलीन हो जायँ (१२) वैसे, उस सात्त्विक मनुष्य की दृष्टि से निर्मल हो जाते हैं। इसलिए वह सुख दुःख से सन्तोषी या दुःखी नहीं होता। (१३) शुभ कर्म का ज्ञान होने पर आनन्द से उसका अनुष्ठान करना अथवा अशुभ कर्म का द्वेष करना ये दोनों बातें उसमें नहीं होतीं। (१४) जैसे जागृत मनुष्य को स्वप्न के विषय में कुछ सन्देह नहीं रहता वैसे ही उस सात्त्विक मनुष्य को इन शुभाशुभ कर्मों के विषय में कुछ संशय नहीं रहता। (१५) अत हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता रूपी द्वैत भाव की वार्ता न जानना ही सात्त्विक त्याग है। (१६) इस त्याग के द्वारा कर्मत्याग किया जाय तभी कर्मों का सर्वथा त्याग होता है, नहीं तो अन्य रीति से त्याग करने से वे और भी अधिक बन्धन करनेहारे होते हे। (१७)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

हे सव्यसाची! शरीर धारण कर जो कर्म से ऊबते हैं वे अज्ञानी हैं। (१८) घट मिट्टी से ऊब कर क्या करेगा? पट तन्तु का त्याग क्यों कर सकेगा? (१९) वैसे ही अग्नि स्वयं उष्ण है, और उष्णता से उकतावे अथवा दीप अपनी प्रभा से द्वेष करे तो क्या होगा? (२२०) हींग अपनी गन्ध से अकुलावे तथापि उसे सुगन्ध कहाँ से प्राप्त हो सकती है? जल अपनी जलता छोड़ कहाँ रह सकता है? (२१) वैसे ही मनुष्य जब तक शरीर के रूप से रहता है तब तक कर्म-त्याग का पागलपन वृथा है। (२२) हम तिलक लगा सकते हैं अत उसे पोंछ भी सकते हैं, पर क्या माथे को भी वैसे ही लगा या मिटा सकते हैं? (२३) वैसे ही विहित कर्म हम स्वयं आरम्भ करते हैं इसीलिए उसका त्याग किया जाय तो हो सकता है, परन्तु जो कर्म देहरूप ही हो गया है वह कैसे छोड़ा जा सकता है? (२४) क्योंकि श्वास और उच्छ्वास तो नींद में भी होते रहते हैं, कुछ भी न करो तथापि वे होते ही रहते हैं। (२५) इसी प्रकार इस शरीर के मिस से कर्म ही मनुष्य के पीछे लगा है, वह जीते-जी तथा मृत्यु के अनन्तर भी पीछा नहीं छोड़ता। (२६) इस कर्म के त्याग की रीति एक यही है कि कर्म करते हुए फलाशा के अधीन न होना चाहिए। (२७) कर्म का फल ईश्वर को समर्पित किया जाय तो उसके प्रसाद

से ज्ञान प्रकट होता है, और फिर रज्जु के ज्ञान से जैसे उस पर होनेवाला सर्प का भ्रम मिट जाता है (२८) वैसे ही उस आत्मज्ञान से अविद्या के साथ कर्म का नाश हो जाता है। हे पार्थ! ऐसा त्याग करना ही वास्तव में त्याग है। (२९) अतएव संसार में जो इस प्रकार कर्मों का त्याग करता है वही महात्यागी है। दूसरे जो त्यागी हैं वे ऐसे हैं जैसे कि किसी रोगी को मूर्च्छा आने से कोई समझे कि उसे आराम हुआ, (२३०) अथवा जैसे कोई छड़ी के बदले घूँसे की मार खाने को प्रवृत्त हो, वैसे ही वे एक कर्म से दुखी हो विश्रान्ति के हेतु दूसरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं। (३१) परन्तु अस्तु, तीनों लोकों में त्यागी वही है जिसने फलत्याग के द्वारा कर्म को निष्कर्मता की स्थिति प्राप्त करा दी है। (३२)

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

और हे धनञ्जय! इस त्रिविध कर्मफल का उपभोग लेने के लिए वही समर्थ होते हैं जो आशा का त्याग नहीं करते (३३) परन्तु कन्या को स्वयं उत्पन्न कर पिता जैसे "न मम" [मेरी नहीं] कह कर छूट जाता है और उसका दान लेनेवाला [दामाद] उससे सम्बद्ध हो जाता है, (३४) दूकान में जो विष का भंडार भर रखते हैं वे उसे बेचते और जीते रहते हैं, पर जो मोल ले खाते हैं वही मरते हैं (३५) वैसे ही कर्म करनेहारा कर्ता और फलाशा न रखनेहारा अकर्ता इन दोनों से यद्यपि कर्म वश में नहीं हो सकता, (३६) जैसे मार्ग में पके हुए वृक्ष का फल जो चाहे सो ले सकता है वैसा ही साधारण यद्यपि कर्म का फल है, (३७) तथापि जो कर्म करके उसके फल की इच्छा नहीं रखता वह संसार-विषयक कामों में बद्ध नहीं होता। क्योंकि यह सम्पूर्ण त्रिविध संसार कर्म का ही फल है। (३८) देव, मनुष्य और स्थावर को ही संसार कहते हैं और ये तीनों कर्मफल के ही प्रकार हैं। (३९ कर्मफल तीन प्रकार का है, एक अनिष्ट अर्थात् बुरा, एक इष्ट अर्थात् भला और एक इष्टानिष्ट अर्थात् भले-बुरे का मिश्रण (२४०) हृदय में विषय-प्रिय बुद्धि रख कर तथा विधि का त्याग कर निषिद्ध और बुरे कर्मों में प्रवृत्त होने से (४१) जो कृमि, कीट, मिट्टी इत्यादि निकृष्ट शरीरों की प्राप्ति होती है उसे अनिष्ट कर्मफल कहते हैं। (४२) परन्तु स्वधर्म का आदर कर अपने

अधिकार की ओर दृष्टि देकर वेदों की आज्ञा के अनुसार सत्कर्म करने से (४३) जो इन्द्र इत्यादि देवताओं के शरीर प्राप्त होते हैं वह कर्म-फल, हे सव्यसाची ! इष्ट-नाम से प्रसिद्ध है। (४४) जैसे खट्टे और मीठे के मिश्रण से एक तीसरा ही रस, दोनों से अलग और दोनों से सुस्वादु, उत्पन्न होता है, (४५) जैसे योग-प्रक्रिया के द्वारा रेचक ही कुम्भक का हेतु होता है वैसे ही सत्य और असत्य की एकता होने से सत्य और असत्य दोनों जीते जाते हैं। (४६) उसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्मों के समभाग मिश्रण का अनुष्ठान करने से जो मनुष्य-देह का लाभ होता है वह कर्म का मिश्रफल है। (४७) इस प्रकार संसार में कर्मफल जिन तीन भागों में बँटा है उनका भोग उन लोगों से नहीं छूटता जो आशा के वश हैं। (४८) जीभ का ललचाना ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों खाना तो भला लगता है पर उसका परिणाम अवश्य मरण ही होता है। (४९) डाकु-चोर की मित्रता तभी तक भली रहती है जब तक जङ्गल नहीं आ पहुँचता, वेश्या तभी तक भली है जब तक वह शरीर को हाथ नहीं लगाती, (२५०) वैसे ही जब तक शरीर है तभी तक कर्मों का महत्त्व बढ़ा हुआ रहता है परन्तु मृत्यु होने पर उनके फल ही भोगने पड़ते हैं। (५१) कोई बलवान् धनी अपने ऋणी से, करार पर, अपना पावना धन माँगने के लिए आवे तो उसे टालते नहीं बनता, वैसे ही प्राणियों को कर्मफल का भोग भी अवश्य भोगना पड़ता है। (५२) और, ज्वार के भुट्टे से जो दाना निकलता है वह पृथ्वी में बोया जाय तो फिर ज्वार के भुट्टे उत्पन्न होते हैं; फिर वही दाना पृथ्वी में बोया जाता है और फिर से वही धान्य उत्पन्न होता है, (५३) ऐसे ही कर्म-भोग से जो फल होता है उससे और दूसरे फल होते जाते हैं, जैसे कि चलते समय एक के अनन्तर एक डग पड़ता जाता है। (५४) भाड़े की नाव नदी के किसी तीर पर रहे, उसे फिर पलेपार जाना पड़ता है वैसे ही भोगों का चक्कर भी बन्द नहीं होता। (५५) मतलब यह है कि फलभोग साध्य और साधन-द्वारा संसार में फैला हुआ है, और जो अत्यागी हैं वे उसमें उपर्युक्त रीति से उलझे हुए हैं। (५६) चमेली का फूल जैसे खिलने के साथ ही सूखने लगता है वैसे ही कर्म के मिस से जो वास्तव में निष्कर्म हो जाते हैं, (५७) [जहाँ नौकरों को बीज ही बाँट दिया जाता है

वहाँ बढ़ी हुई खेती हो तथापि वह भी जैसे बैठ जाती है, वैसे ही] जिनके फलत्याग से कर्म का नाश हो जाता है (५८) और सत्वशुद्धि के सहाय से एवं चहुँ ओर गुरुकृपामृत-तुषारों के फैलने से द्वैतरूपी दारिद्रय का नाश हो जाता है, (५९) और फिर जगदाभास के रूप से जो त्रिविध कर्मफल दिखाई देते हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं तथा भोग्य और भोक्ता दोनों आप ही आप विलीन हो जाते हैं, (२६०) वैसे ही वीरेश! जो ज्ञानप्रधान संन्यास करते हैं, वे फल-भोगरूपी दुःख से मुक्त हो जाते हैं। (६१) वास्तव में जब इस संन्यास के द्वारा आत्मस्वरूप में दृष्टि प्रवेश करती है तब क्या कर्म कोई स्वतन्त्र वस्तु दिखाई दे सकती है? (६२) भीत गिर पड़े तो उस पर लिखे हुए चित्रों की केवल मिट्टी ही हो जाती है, अथवा प्रातःकाल होने पर क्या रात का अँधेरा शेष रह सकता है? (६३) जब रूप ही खड़ा नहीं है तो छाया किस वस्तु की हो सकती है? दर्पण के अतिरिक्त मुख का प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ सकता है? (६४) निद्रा का ठिकाना नहीं रहता तब स्वप्न की घटना कैसे हो सकती है? और स्वप्न सत्य है या मिथ्या है यह कौन कह सकता है? (६५) वैसे ही इस संन्यास के कारण अविद्या ही जीती नहीं रहती तो फिर उसके कार्य का लेना-देना कौन करे? (६६) अतः संन्यासी कर्म की वार्ता ही क्या करेगा? परन्तु जब तक शरीर में अविद्या है, (६७) जब तक कर्तृत्व-बल से आत्मा शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, जब तक दृष्टि भेदरूपी राज्य पर बैठी हुई है, (६८) हे मर्मज्ञ! जब तक आत्मा और कर्म पच्छिम और पूर्व के समान अत्यन्त जुदे रहते हैं, तब तक, (६९) अथवा जैसे आकाश और अभ्र सूर्य और मृगजल, पृथ्वी और वायु भिन्न हैं, (२७०) नदी की चट्टान जैसे नदी के पानी का आच्छादन ले नदी में डूबी रहती है परन्तु जैसे वे दोनों बिलकुल ही भिन्न रहती हैं, (७१) सेवार जल के समीप रहती है पर जैसे वह जल से भिन्न ही है, दीपक के गुल को दीपक के सङ्ग रहने के कारण क्या दीपक कह सकते हैं? (७२) कलङ्क यद्यपि चन्द्रमा में रहता है तथापि जैसे कलङ्क और चन्द्रमा एक ही वस्तु नहीं हैं, दृष्टि और नेत्रों में जैसे अत्यन्त अन्तर है, (७३) अथवा पथिक में और मार्ग में, प्रवाह में बहनेहारे में और प्रवाह में, दर्पण देखनेहारे में और दर्पण में जितना असाधारण अन्तर है, (७४) उतना ही

अन्तर हे पार्थ। आत्मा और कर्म मे होता है, परन्तु अज्ञान के कारण वे दोनो एक जान पड़ते हैं। (७५) सरोवर में शोभा देने-हारी कमलिनी प्रफुल्लित होते ही जैसे सूर्य का उदय कराती है और भ्रमरों से अपने मकरन्द का उपभोग लिवाती है (७६) वैसे ही आत्मक्रिया भी अन्य कारणों से उत्पन्न होती है। उन्हीं पाँचो कारणों का हम निरूपण करते हैं। (७७)

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

वे पाच कारण कदाचित् तुम भी जानते होगे। क्योंकि जिनका वर्णन शास्त्रों ने हाथ उठा कर किया है, (७८) जो वेदराज की राजधानी में सांख्य और वेदान्त के मन्दिरों में निरूपण रूपी डङ्के की ध्वनि से गर्जना करते हैं, (७९) वही संसार में सब कर्मों की सिद्धि की पूँजी हैं। यह निश्चय जानो कि आत्मराज कर्मसिद्धि का कारण नहीं है। (२८०) ऐसे वचनों का डङ्का बजाने से उनकी प्रसिद्धि हुई है। अत तुम्हे उनका वर्णन सुनना चाहिए। (८१) और जब कि तुम्हारे हाथ मुझ जैसा ज्ञानरत्न है सो यह वर्णन कौन ऐसा भारी है कि दूसरो के मुख से सुनना चाहिए ? (८२) सामने दर्पण रक्खा हुआ है तो फिर अपना मुख देखने के लिए क्या दूसरों के नेत्रों का सन्मान करना चाहिए ? यानो शीशा रहने पर भी क्या दूसरों से यह पूछना चाहिए कि—कहो, मेरा स्वरूप कैसा है! (८३) जहाँ जिस भाव से भक्त मुझे देखें वहाँ मै वही वस्तु बन जाता हूँ। मैं आज तुम्हारे हाथ का खिलौना बन रहा हूँ। (८४) इस प्रकार जब श्रीकृष्ण प्रीति के वेग में बोलते हुए निज का स्मरण भूल गये तब अर्जुन स्वय आनन्द में डूब गया। (८५) जैसे चाँदनी चटक रही हो तो चन्द्रकान्तमणि रूपी पर्वत पसीजता है और वहाँ एक सरोवर ही होता सा दिखाई देता है, (८६) वैसे ही जब सुख और अनुभव इन दोनो भावो की भीत टूट गई और वे भाव केवल अर्जुनरूप से ही मूर्तिमान् दिखाई देने लगे, (८७) तब श्रीकृष्ण समर्थ थे इसलिए उन्हें उसकी स्मृति हुई और वे उस डूबे हुए अर्जुन को बचाने के लिये दौड़ गये। (८८) अर्जुन को ऐसे आनन्द की बाढ आई थी कि वह इतना नानो होने पर भी अपने बुद्धिविस्तार के साथ उसमें डूब गया। उस बाढ से श्रीकृष्ण ने खींच लिया (८९) और कहा कि हे पार्थ! सावधान

हो। तब अर्जुन ने सावधान हो माथा नवाया (२९०) और कहा हे गुरु! मैं आपके जुदे व्यक्तिसान्निध्य से ऊबकर आपसे एकरूप हुआ चाहता हूँ। (९१) वह कौतूहल यद्यपि आप प्रेम से पूर्ण करते हैं, लेकिन महाराज! फिर वह जीव-रूपी प्रतिबन्ध क्यों बनाये रखते हैं? (९२) तब श्रीकृष्ण ने कहा कि ठीक! अजी दीवाने! तुम क्या अब तक यही नहीं जानते कि चन्द्र और चन्द्रिका को मिलने की आवश्यकता ही नहीं रहती। (९३) परन्तु यह भाव भी हम तुम से प्रकट करने में डरते हैं क्योंकि प्रेम तो वियोग होने से ही बल पाता है। (९४) तथापि एक दूसरे के सङ्केत-द्वारा वियोग तत्काल नष्ट हो जाता है। परन्तु अब इस विषय की चर्चा रहने दो। (९५) हे पाण्डुसुत! हम यह वर्णन कर रहे थे कि आत्मा और कर्म किस प्रकार भिन्न हैं। (९६) तब अर्जुन ने कहा कि हे देव! मैं भी यही चाहता था। मैं जो चाहता था उसी का आपने प्रस्ताव किया। (९७) आपने प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हें सकल कर्मों का बीज जो कारण-पञ्चक है वह सुनावेंगे (९८) और यह भी कहा था कि उससे और आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। वह प्रतिज्ञा-ऋण अब चुकाइए। (९९) इन वचनों से श्रीकृष्ण अत्यन्त सन्तुष्ट हो बोले कि इस विषय में धरना दे बैठनेवाला कौन मिलता है? (३००) अतः हे अर्जुन! हम उस शब्दाभिप्राय का निरूपण करते हैं और तुम्हारे ऋण से मुक्त होते हैं। (१) तब अर्जुन ने कहा कि हे देव! क्या आप पिछली बातें भूल गये? ऐसा कहने से तुम-हम-रूपी द्वैत की रचा होती है। (२) इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, भला अब जो हम निरूपण कर रहे थे उसे भली भाँति ध्यान से सुनो। (३) हे धनुर्धर! यह सत्य है कि सब कर्मों की घटना परस्पर पाँच साधनों के द्वारा होती है। (४) और इन पाँच कारणों का समूह जिनके द्वारा कर्माकृति को प्राप्त होता है, वे हेतु भी पाँच हैं। (५) इस विषय में आत्मा उदासीन रहता है। वह न कर्मों का हेतु है न उपादान है, और न वह कर्मसिद्धि का सहकारी होता है। (६) जैसे आकाश में दिन और रात होते रहते हैं वैसे ही आत्मा के अधिष्ठान पर शुभ और अशुभ कर्म होते हैं। (७) अग्नि, जल और धूम का वायु से सम्मेलन होते ही अभ्र बन जाता है, पर आकाश जैसे उससे जुदा रहता है; (८) अथवा काठ की नाव बनाई जाती है, उसे केवट चलाता है और वह वायु के सहाय से चलती है परन्तु पानी जैसे केवल उसका साक्षी रहता है; (९)

अथवा जैसे किसी मिट्टी के पिण्ड से कुम्हार के चक्के पर किसी बासन का आकार बनता है और डण्डे से घुमाने से वह चक्का घूमता है (३१०) उसमें कर्तृत्व कुम्हार का है, और पृथ्वी का आधार के अतिरिक्त क्या खर्च होता है? (११) यह भी रहने दो, जैसे लोगों के सम्पूर्ण व्यापार होते हैं, पर उनमें से क्या कोई सूर्य का व्यापार कहा जा सकता है? (१२) वैसे ही पाँच हेतुओं से उत्पन्न पाँच कारणों के द्वारा कर्मलताएँ लगाई जाती हैं पर आत्मा उनसे जुदा रहता है। (१३) अब हम भली भाँति इन पाँचों का अलग-अलग विवेचन करते हैं। जैसे मोती परख कर लिये जाते हैं (१४)

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

—वैसे ही इन पाँचों कारणों का लक्षणों-सहित वर्णन सुनो। इनमें पहला कारण देह है। (१५) इसे अधिष्ठान कहते हैं, वह इसी लिए कि इसमें भोक्ता अपने भोग के साथ रहता है। (१६) इन्द्रिय-रूपी दसों हाथों से रात, और दिन कष्ट करके, प्रकृति के द्वारा जो सुख और दुःख प्राप्त होते हैं, (१७) उन्हें भोगने के लिए पुरुष को और दूसरा स्थान ही नहीं है, इसलिए देह को अधिष्ठान कहा गया है। (१८) यह देह चौबीस तत्त्वों के रहने का कुटुम्बघर है। बन्ध और मोक्ष का उलझाव यहीं टूटता है। (१९) बहुत क्या कहें, हे धनञ्जय! यह देह जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठान है, इसलिए इसे अधिष्ठान नाम दिया गया है। (३२०) कर्म का दूसरा कारण कर्ता है जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहाता है। (२१) आकाश ही पानी बरसाता है, और जब वह पानी डबरों [गड्ढों] में भर जाता है तो वही आकाश आप ही उसमें प्रतिबिम्बित होता और तदाकार हो जाता है, (२२) अथवा घोर निद्रा के वश हो राजा अपना राजत्व भूल जाता और स्वप्न में रङ्क बन जाता है (२३) वैसे ही अपनी विस्मृति के कारण जो चैतन्य ही देहाकार से प्रतिभासित होता और देह के रूप में प्रकट होता है, (२४) विचार-पूर्ण जनों में जो जीव नाम से प्रसिद्ध है, जिसने मानों देह को सम्पूर्ण विषय प्राप्त करा देने की प्रतिज्ञा की है, (२५) प्रकृति कर्म करती है तथापि जो भ्रम में पड़ा हुआ कहता है कि मैं करता हूँ उस जीव को यहाँ कर्ता नाम दिया गया है। (२६) फिर दृष्टि एक होते हुए वह जैसी पलकों के बालों [बरुनियों]

के कारण खुले हुए चँवर की तरह फटी हुई-सी मालूम होती है, (२७) अथवा घर में रक्खा हुआ एक ही दीपक जैसे झिलमिली में से अनेक रूपों में दिखाई देता है, (२८) अथवा एक ही पुरुष जैसे नवों रसों का अनुभव लेता हुआ नवविध जान पड़ता है, (२९) वैसे ही बुद्धि का एक ही ज्ञान इन श्रोतृ इत्यादि भेदों के कारण जिन जुदी-जुदी इन्द्रियों-द्वारा बाहर आविष्कृत होता है, (३३०) उन जुदी-जुदी इन्द्रियों का होना हे अर्जुन! कर्म का तीसरा कारण है। (३१) अब, पूर्व या पश्चिम मार्ग से बहते हुए नाले जब नदियों में जा मिलते हैं तो उनका पानी जैसे एक ही हो जाता है, (३२) वैसे ही प्राणवायु में जो अविनाशी क्रियाशक्ति है वह जुदे-जुदे स्थानों में प्रकट होने के कारण जुदी-जुदी जान पड़ती है। (३३) वाचा में दिखाई देती है तब उसे वाणी कहते हैं। हाथों में प्रकट होती है तब उसे लेने-देने की क्रिया कहते हैं। (३४) चरणों में वही क्रियाशक्ति गति कहलाती है और मल-मूत्र द्वारों का क्षरण भी उसी शक्ति की क्रिया है। (३५) शरीर में नाभिस्थान से हृदय तक जो ओंकार की अभिव्यक्ति होती है उसी को प्राण कहते है, (३६) अनन्तर ऊपर की ओर जो श्वासोछ्वास होता है वह वही शक्ति है, पर वह उदान नाम से जानी जाती है। (३७) गुद द्वार से निकलने के कारण उसे अपान कहते हैं, और सब शरीर में व्यापक होने से उसे व्यान नाम दिया गया है। (३८) खाये हुए रस को वह सब शरीर में एकसा भर देती है और आप उस शरीर को न छोड़ कर सब सन्धियों में बनी रहती है, (३९) इस व्यापार के कारण हे किरीटी! वही क्रियाशक्ति समान अथवा नाभिस्थ वायु कहलाती है। (३४०) और जमुहाई लेना, छींकना, डकारना आदि जो व्यापार हैं वे नाग, कूर्म; कृकर इत्यादि उपप्राण हैं; (४१) एवं ये सब व्यापार एक वायु के ही हैं, परन्तु हे सुभट! व्यापार के कारण उस वायु में जो भिन्नता जान पड़ती है (४२) वह वृत्तियों के कारण भिन्न होनेवाली वायुशक्ति ही कर्म का चौथा कारण है; (४३) तथा ऋतुओं में जैसे शरदृतु उत्तम होती है और शरदृतु में भी शुक्लपक्ष और उसमें भी जैसे पूर्णमासी की रात्रि उत्तम होती है, (४४) अथवा वसन्त ऋतु में जैसे बगीचा सुखकारक होता है; बगीचे में जैसे प्रिया का सहवास, और उसमें भी स्रक्, चन्दन इत्यादि उपचारों का रहना सुखकारक होता है, (४५) अथवा

हे पाण्डव ! कमल का विकास सुन्दर होता है और उस विकास में भी पराग का उद्भव अधिक सुन्दर होता है, (४६) वाणी को कवित्व शोभा देता है, कवित्व में रसिकता अधिक शोभा देती है, और उस रसिकता में जैसे ब्रह्मनिरूपण और भी अधिक शोभा देता है (४७) वैसे ही सब वृत्ति वैभव से युक्त एक बुद्धि ही उत्तम है, और बुद्धि में भी नूतन इन्द्रियबल का होना उत्तम है। (४८) इन्द्रिय मण्डल की भी शोभा तभी है जब हे निष्पाप ! उनके अधिष्ठाता देवताओं की अनुकूलता हो, (४९) एवं सूर्य इत्यादि देवताओं के समूह कृपालु हो चक्षु इत्यादि दसों इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं। (३५०) हे अर्जुन ! यह देव-समूह ही कर्म का पाँचवाँ कारण है। (५१) इस प्रकार जिसमें तुम समझ सको ऐसी रीति से, हमने सब कर्मों के पञ्चविध कारणों का निरूपण किया। (५२) अब इन्हीं कारणों की वृद्धि होते होते जिन हेतुओं से कर्म-सृष्टि की रचना होती है उन पाँच हेतुओं को भी स्पष्ट कर बताते हैं। (५३)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अकस्मात् वसन्त ऋतु आ जाती है तो वही नूतन पल्लवों की उत्पत्ति का हेतु हो जाती है। पल्लवों से पुष्प समुदाय उत्पन्न होता और पुष्पों से फल उत्पन्न होते हैं, (५४) अथवा वर्षाकाल के आने से मेघ उत्पन्न होते हैं, मेघों से वृष्टि होती और वृष्टि के कारण धान्य-सुख का उपयोग प्राप्त होता है, (५५) अथवा पूर्व दिशा से अरुण का उदय होता है, अरुण से सूर्योदय होता और सूर्य से सम्पूर्ण दिन प्रकाशित होता है, (५६) वैसे ही हे पाण्डव ! कर्मसङ्कल्प का हेतु मन है, उस सङ्कल्प से वाणी-रूपी दीपक प्रकाशित होता है (५७) और वह वाचा-दीपक सम्पूर्ण कर्मों के मार्गों को प्रकाशित करता है जिससे कर्ता कर्तृत्व के व्यापार में प्रवृत्त होता है। (५८) वस्तुतः शरीर इत्यादि समुदाय का हेतु शरीर ही है, जैसे लोहे का काम लोहे से ही किया जाता है, (५९) अथवा जैसे तन्तु का ही ताना और तन्तु का ही बाना, इस प्रकार हे ज्ञानी ! तन्तु ही कपड़ा बनाता है (३६०) वैसे ही मन, वाचा और देह के कर्म का हेतु मन इत्यादि ही है जैसे कि रत्नसमुदाय का हेतु रत्न ही है। (६१) यहाँ यदि

कोई यह पूछे कि शरीर इत्यादि जो कर्म के कारण हैं वही क्योंकर हेतु कहे जाते हैं तो सुनिए। (६२) देखिए, सूर्य के प्रकाश का हेतु और कारण जैसे सूर्य ही है, अथवा ईख की गँड़ेरी जैसे ईख की बाढ़ का हेतु है, (६३) अथवा वाग्देवी की स्तुति करने के लिए जैसे वाचा को ही श्रम करना पड़ता है, अथवा वेदों की महिमा जैसे वेदों से ही बखानी जा सकती है, (६४) वैसे ही शरीर इत्यादि कर्म के कारण तो हैं ही पर यह भी मिथ्या नहीं कि वही कर्म के हेतु भी हैं। (६५) देह इत्यादि कारणों का देह इत्यादि हेतुओं से मेल होते ही जो कर्ममात्र की घटना होती है (६६) वह कर्म यदि शास्त्र-सम्मत मार्ग के अनुसार हो तो न्याय का हेतु [न्याय्य कर्म] होता है। (६७) जैसे बरसात के जल का प्रवाह कदाचित् धान में बह जाय तो वह वहाँ सोख जाता है, पर उससे लाभ भी खूब होता है, (६८) अथवा क्रोध से भी घर छोड़ कर कोई अकस्मात् द्वारका का मार्ग ले तो, वह दुःखी हो तथापि, उसका उस मार्ग से चलना निष्फल नहीं जाता, (६९) वैसे ही हेतु और कारण के मेल से कोई अन्ध कर्म भी उत्पन्न हो तथापि उस पर यदि शास्त्र की दृष्टि पड़े तो वही न्याय्य कर्म कहलाता है। (३७०) अथवा दूध जब उफनता है तब बढ़ते-बढ़ते बर्तन के मुँह तक पहुँच कर स्वभावतः बाहर गिरता है, वह भी वस्तुतः दूध का खर्च ही है, पर जैसे उसे खर्च नहीं कहते (७१) वैसे ही शास्त्र की सहायता के बिना किया हुआ कर्म यद्यपि वृथा न समझा जाय तथापि क्या द्रव्य का लूटा जाना दान किये जाने के समान लेखा जा सकता है? (७२) अजी हे पाण्डुसुत! ऐसा कौनसा मन्त्र है जो वर्णमाला के बावन अक्षरों में न हो? और ऐसा कौनसा जीव है जो इन्हीं बावन अक्षरों को न उच्चारता हो? (७३) परन्तु हे कोदण्डपाणि! जब तक मन्त्र की युक्ति मालूम नहीं होती तब तक वाचा को उस मन्त्र के उच्चारण-फल का लाभ नहीं होता, (७४) वैसे ही कारण और हेतु के मेल से जो अनियमित कर्म उत्पन्न होता है उसे जब तक शास्त्र की अनुकूलता का लाभ नहीं होता (७५) तब तक यद्यपि कर्म होता ही रहता है तथापि वह वास्तव में कर्म करना नहीं, अन्याय है तथा वह अन्याय का ही हेतु होता है। (७६)

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

इस प्रकार हे उत्तम कीर्तिमान् अर्जुन! कर्म के पाँच कारणों के ये पाँच हेतु होते हैं। अब कहो तो कि इनमें क्या आत्मा दिखाई देता है? (७७) बात यह है कि सूर्य जैसे विषयरूप न होकर नेत्रों के विषयों को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा कर्मरूप न होकर कर्म प्रकट करता है। (७८) हे वीरेश! देखनेहारा जैसे प्रतिबिम्ब या दर्पण दोनों न होकर दोनों को प्रकाशित करता है, (७९) अथवा हे पाण्डुसुत! सूर्य जैसे दिन या रात्रि न होते हुए दिन और रात्रि को प्रकट करता है, वैसे ही आत्मा कर्म या कर्तारूप न होकर उन दोनों को प्रकट करता है। (३८०) परन्तु जिसकी बुद्धि को यह विस्मृति हुई है कि मैं देह हूँ और इस कारण जो बुद्धि देह में ही व्याप्त हो गई है उसे आत्मा के विषय में मानों मध्यरात्रि का अन्धकार रहता है। (८१) जो समझता है कि चैतन्यरूपी ईश्वर या ब्रह्म की परम सीमा देह ही है उसका यह दृढ़ विश्वास चाहे भले ही हो जाय कि आत्मा कर्ता है (८२) परन्तु उसे यह तत्त्वत निश्चय नहीं रहता कि आत्मा ही कर्म करता है। वह समझता है कि मैं जो देह हूँ वह कर्म करता है (८३) क्योंकि यह बात वह कभी कानों से नहीं सुनता कि मैं कर्म के परे हूँ और सब कर्मों का साक्षी हूँ (८४) इसलिए मुझ अपरिमित आत्मा को वह देह से मापने की चेष्टा करता है; इसमें क्या आश्चर्य है? घुग्घू क्या दिन की रात नहीं बना देता? (८५) जिसने कभी आकाशस्थित सत्य सूर्य नहीं देखा है वह क्या डबरे में दिखाई देनेहारे सूर्य को ही सत्य न समझेगा? (८६) डबरे का होना सूर्य की उत्पत्ति का कारण हो जाता है, तथा उसके नाश से सूर्य का भी नाश होता है और उसके कम्पायमान होने से सूर्य भी काँपता हुआ दिखाई देता है; (८७) निद्रस्थ मनुष्य को जब तक चेत नहीं आता तब तक स्वप्न सत्य ही रहता है, डोरी का अज्ञान होते हुए सर्प का डर रहे, इसमें आश्चर्य क्या है? (८८) जब तक आँखों में पालिया रोग है तब तक चन्द्रमा पीला दिखाई देता है; मृग भी क्या मृग-जल की भूल में न पड़े? (८९) इसी प्रकार शास्त्र या गुरु का तो कहना ही क्या, जो अपनी सीमा को उनकी हवा भी नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खता के बल जीवन धारण करता है (३९०) वह, जैसे गीदड़ मेघों के वेग को चन्द्र पर ही आरोपित करते हैं वैसे ही, देहात्म-बुद्धि के कारण आत्मा पर देह-रूपी जाल फैलाता है। (९१)

और फिर वह उस भूल के कारण देह-रूपी कैदखाने में मानों कर्म की दृढ़गाँठ से बाँधा जाता है। (९२) देखो, दृढ़-वन्ध की भावना के कारण नली पर बैठा हुआ बेचारा तोता क्या पञ्जे मुक्त रहते हुए भी नहीं फँसता ? (९३) अतएव जो निर्मल आत्मस्वरूप पर प्रकृति के किये हुए कर्म आरोपित करता है वह कोट्यवधि कल्पों के माप से कर्मों की गणना करता रहता है। (९४) अब जो कर्म से व्याप्त है परन्तु समुद्र का जल जैसे बड़वानल को स्पर्श नहीं करता वैसे ही, जिसे कर्म स्पर्श नहीं करता, (९५) जो यों जुदा रहता हुआ कर्म से व्याप्त है उसे कौन पहचान सकता है, कहूँ ? (९६) क्योंकि जैसे अपनी खोई हुई वस्तु दीपक से देखने पर दिखाई देती है वैसे ही मुक्त का निश्चय करते हुए निज को ही मुक्ति का लाभ हो जाता है, (९७) अथवा जैसे दर्पण रगड़ कर साफ किया जावे तो अपना ही रूप दिखाई दे सकता है; अथवा, जैसे लवण को जल का लाभ हो तो वह जल रूप ही हो जाता है, (९८) यह भी रहने दो, प्रतिबिम्ब यदि लौटकर बिम्ब को देखे तो वह देखना नहीं बिम्ब ही बन जाना है, (९९) वैसे ही जिस आत्मा की विस्मृति हो गई है उसका जब लाभ हो जाय तभी सन्तों की स्थिति का निश्चय हो सकता है। अतएव सर्वदा सन्तों की ही स्तुति और उनका वर्णन करना चाहिए। (४००) अत: जो कर्मों में रह कर सुख-दु:खों के वश नहीं होता, तथा जैसे चर्म-चक्षु के चाम से दृष्टि बद्ध नहीं रहती (१) वैसे ही जो मुक्त है, उसका हम उपपत्तिरूपी हाथ उठाकर वर्णन करते हैं। (२)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

हे ज्ञानी! जो अनादि काल से अविद्यारूपी नींद में सोता हुआ विश्वरूप व्यापार का उपभोग ले रहा है (३) वह महावाक्य के द्वारा और गुरुकृपा के सहाय से, ज्यों ही गुरु उसके माथे पर हाथ रखते हैं—नहीं, मानों उसे जागृत करते हैं—(४) त्यों ही हे धनञ्जय! वह विश्वरूपी स्वप्न-सहित मायारूपी निद्रा को छोड़ अद्वयानन्दरूप में जागृत हो जाता है। (५) और फिर निरन्तर एक सी दिखाई देनेवाली मृगजल की बाढ़ जैसे चन्द्रमा की किरणें प्रकाशित होते ही मिट जाती हैं, (६) अथवा बाल्यावस्था निकल जाने पर जैसे हौवा

सत्य नहीं जान पड़ता, अथवा ईंधन जल जाने पर जैसे पाक-क्रिया नहीं हो सकती, (७) अथवा नींद से चेत आने पर जैसे स्वप्न दिखाई नहीं देता, वैसे ही हे किरीटी! उसमें अहंता और ममता शेष नहीं रहती। (८) फिर अँधेरे की खोज करने के लिए सूर्य चाहे जिस सुरङ्ग में प्रवेश करे तथापि जैसे उसका लाभ उसके भाग्य में नहीं लिखा है, (९) वैसे ही वह मनुष्य आत्मस्वरूप से ही वेष्टित हो जाता है। वह जिस दृश्य को देखता है वह दृश्य द्रष्टासहित उसे आत्म-स्वरूप ही दिखाई देता है। (४१०) जैसे जिस पदार्थ में आग लगे वह स्वयं आग हो जाता है, और फिर यह भिन्नता नहीं रहती कि एक वस्तु जलानेवाली है और दूसरी जलनेवाली (११) वैसे ही कर्म को निज से भिन्न जान कर आत्मा को जो कर्तृत्व का जाल लगाया जाता था उसके दूर हो जाने पर जो कुछ अवशेष बच रहे (१२) उस आत्मस्थिति का राजा क्या देह को कोई जुदी वस्तु मानेगा? प्रलय-काल का जल क्या किसी जुदे प्रवाह का अस्तित्व मानता है? (१३) वैसे ही हे पाण्डुसुत! उस मनुष्य की पूर्ण अहंता क्या देह से परिच्छिन्न हो सकती है? क्या सूर्य के प्रतिबिम्ब से सूर्य हाथ लग सकता है? (१४) छाँछ का मन्थन करने से जो माखन निकलता है, फिर छाँछ में डालने से क्या वह उससे लिप्त हो उसमें मिल सकता है? (१५) अथवा हे वीरेश! अग्नि को काष्ठ से जुदा करने पर क्या वह काष्ठ के सन्दूक में बन्द रह सकती है? (१६) अथवा रात्रि के गर्भ से निकला हुआ सूर्य क्या कभी रात्रि की बात भी सुनता है? (१७) वैसे ही जानने की वस्तु और जाननेहारा दोनों जिसने विलीन कर डाले हैं उसे ऐसा अहङ्कार कैसे रह सकता है कि मैं देह हूँ? (१८) और, आकाश जिस स्थान से जिस स्थान को जावे वहाँ वह भरा ही हुआ है, अतएव वह स्वभावतः सर्वत्र व्याप्त है, (१९) वैसे ही वह मनुष्य जो कुछ करे वह स्वभावतः तद्रूप ही है, तो फिर कर्ता होकर कर्म से वेष्टित होने के लिए कौन बच रहता है? (४२०) आकाश से अलग कोई स्थान ही नहीं है, समुद्र का कभी प्रवाह नहीं होता, ध्रुव नक्षत्र में कभी गति नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही उस मनुष्य की स्थिति हो जाती है। (२१) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा उसका अहङ्कार मिथ्या हो जाता है, तथापि जब तक उसका देह रहता है तब तक कर्म होते

ही रहते हैं। (२२) हवा चलते-चलते बन्द हो जाय तथापि वृक्षों के हिलने का वेग शेष रहता है, अथवा डिब्बी में से कपूर निकाल लिया हो तथापि उसमें सुगन्ध रह जाती है, (२३) अथवा गीत समाप्त होने पर भी उसमें मग्न होनेवालों के चित्त में प्रसन्नता बनी रहती है; पृथ्वी पर से जल बह जाने पर भी सील बनी रहती है, (२४) अथवा सन्ध्या के समय सूर्य अस्त हो जाता है तथापि उसकी ज्योति-दीप्ति दिखाई देती रहती है, (२५) अथवा निशाने पर बाण लगने पर भी उसमें जब तक बल अवशेष रहता है तब तक वह उस निशाने में घुसता जाता है, (२६) अथवा कुम्हार चक्के पर बासन बना कर निकाल लेता है तथापि चाक पहले घुमाया हुआ रहता है इसलिए घूमता ही रहता है, (२७) उसी प्रकार हे धनञ्जय ! देहाभिमान चला जाय तथापि जिस स्वभाव के कारण देह उत्पन्न हुआ है वह उससे कर्म करवाता ही जाता है। (२८) सङ्कल्प के बिना ही जैसे स्वप्न उत्पन्न होता है, जङ्गल की आग जैसे बिना लगाये ही लगती है, आकाश में दिखाई देने हारे गन्धर्वनगर जैसे बिना बनाये ही दिखाई देते हैं, (२९) वैसे ही आत्मा की चेष्टा बिना ही देह आदि पाँच कारणों से आप ही आप कर्म उत्पन्न होते हैं। (४३०) ये पाँच कारण और हेतु पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार अनेक कर्म करवाते हैं। (३१) उन कर्मों से चाहे सम्पूर्ण जगत् का संहार हो, चाहे उत्तम नूतन जगत् की रचना हो (३२) परन्तु, कुमुदिनी कैसे सूखती है अथवा कमलिनी कैसे विकसती है, ये दोनों बातें जैसे सूर्य नहीं देखता; (३३) अथवा मेघों से बिजली गिरने पर चाहे पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, अथवा वर्षा हो कर हरा चारा उत्पन्न हो (३४) तथापि आकाश जैसे ये दोनों बातें नहीं जानता, वैसे ही जो देह में ही देहातीत स्थिति में रहता है (३५) वह, जागृत मनुष्य जैसे स्वप्न नहीं देखता वैसे ही, देह इत्यादि के कर्मों से सृष्टि की उत्पत्ति हो या लय हो तथापि उन्हें नहीं देखता। (३६) यों तो जो उसे चर्म-चक्षु से देखते हैं वे निश्चय से उसे कर्म करनेहारा ही समझेंगे, (३७) क्योंकि तृणों का पुतला बनाया हो और खेत में खड़ा कर रक्खा हो तो क्या गीदड़ उसे असली रखवाला नहीं समझते ? (३८) पागल मनुष्य कपड़ा पहने हुए है या नङ्गा है यह जैसे दूसरे ही जानते हैं; युद्ध में मरे हुए सैनिकों के

घाव दूसरे ही गिनते हैं, (३९) अथवा महासती के भोगों [नहाना, कपड़े पहनना आदि] को सम्पूर्ण जगत् देखता है, परन्तु वह अग्नि की ओर अथवा अपने शरीर की ओर अथवा लोगों की ओर भी नहीं देखती, बल्कि अपने पति के प्रेम में ही निमग्न रहती है, (४४०) वैसे ही जो देखनेहारा आत्मस्वरूप प्राप्त कर दृश्य वस्तु सहित विलीन हो जाता है वह नहीं जानता कि इन्द्रिय-समूह क्या व्यापार करता है। (४१) बड़ी लहरों में छोटी लहरें मिल जाती हैं तब यद्यपि तीर पर खड़े हुए लोग समझते हैं कि एक लहर में दूसरी समा गई (४२) तथापि वहाँ क्या कोई दूसरी वस्तु रहती है जो जल को लीलती है? वैसे ही जो पूर्ण हो चुका है उसे कोई दूसरा शेष नहीं रहता जिसका कि वह नाश करे। (४३) सोने की बनाई हुई देवी सोने के शूल से सोने के बनाये हुए महिषासुर का वध करती है। (४४) यह काम मन्दिर के पास खड़े रहनेहारे पुजारी को सत्य जान पड़ता है परन्तु वास्तव में वह देवी, शूल वा महिष सब सुवर्ण ही रहता है। (४५) चित्र में लिखा हुआ जल या अग्नि केवल दृष्टि का ही भ्रम है, चित्रपट पर वस्तुत अग्नि या जल दोनों नहीं रहते, (४६) वैसे ही मुक्त मनुष्य का शरीर भी पूर्व-संस्कार के बल ही हिलता-डुलता देखकर भ्रमिष्ट लोग उसे कर्ता समझते हैं। (४७) वस्तुत. उसके कर्मों से चाहे त्रैलोक्य का नाश क्यों न हो तथापि ऐसा न समझना चाहिए कि वह नाश उसने किया। (४८) अजी! अँधेरे में प्रकाश लाने पर यह कहने का अवकाश ही कहाँ रहता है कि वह प्रकाश उस अँधेरे का नाश करे? वैसे ही ज्ञानी को द्वैत ही नहीं रहता तो वह नाश किस वस्तु का करेगा? (४९) उसकी बुद्धि पाप और पुण्य की बात भी नहीं जानती, जैसे कि गङ्गा में मिलने पर नदी में कोई अशुद्धता नहीं रहती। (४५०) हे धनञ्जय! अग्नि अग्नि से मिले तो क्या वह जलेगी? अथवा शस्त्र क्या स्वयं अपने पर ही घाव कर सकता है? (५१) वैसे ही जो सम्पूर्ण कर्म-समूह को अपने से जुदा नहीं समझता उसकी बुद्धि किस वस्तु में लिप्त हो सकती है? (५२) इस प्रकार कार्य, कर्ता और क्रिया तीनों को जो अपना ही स्वरूप समझता है उसे शरीर इत्यादि के कारण कर्मबन्ध नहीं होता। (५३) क्योंकि कर्म करनेहारा जीव कुशलता के साथ पञ्चमहाभूतों की खानें खोद कर इन्द्रिय-रूपी दसों हथियारों से कर्मरूपी हवेलियों की

रचना कर रहा है। (५४) इनमें पुण्य और पापरूपी द्विविध रूप रचे जाते हैं और तत्क्षण कर्मरूपी मन्दिर बनते जाते हैं। (५५) परन्तु यह निश्चय जानो कि इस बड़े काम में आत्मा सहायक नहीं होता। यदि तुम कहो कि आत्मा इस कर्म के आरम्भ में सहायक होता है, (५६) तो वह आत्मा तो साक्षिरूप है, ज्ञानस्वरूप है, फिर जो कर्म-प्रवृत्ति का सङ्कल्प उठता है उसे उठाने के लिए वह कैसे आज्ञा दे सकता है? (५७) अतः कर्मप्रवृत्ति के विषय में भी उसे कुछ श्रम नहीं करना पड़ता, क्योंकि प्रवृत्ति की बेगार भी जीव ही करते हैं। (५८) अतएव जो केवल आत्मस्वरूप हो रहा है वह कभी इस कर्म-रूपी बन्दीखाने में नहीं जाता। (५९) परन्तु अज्ञान-रूपी पट पर जो विपरीत ज्ञान-रूपी चित्र प्रतिबिम्बित होता है उस चित्र के खींचनेहारी जो त्रिपुटी प्रसिद्ध है (४६०)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

—जिसे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं, जो तीन वस्तुएँ संसार की बीजभूत हैं, वही [त्रिपुटी] निःसन्देह कर्म की प्रवृत्ति है। (६१) अब हे धनञ्जय! इन तीनों विषयों का जुदा-जुदा वर्णन करते हैं, सुनो। (६२) जीवरूपी सूर्यबिम्ब की किरणें जो श्रोत्र इत्यादि पाँच इन्द्रियाँ हैं उनके कारण जब विषय-रूपी कमल की कली खिलती है (६३) अथवा जीवरूपी राजा के खुली पीठ के घोड़े जब इन्द्रिय-रूपी दौड़ लगा कर विषय-रूपी देश को लूट लाते हैं (६४) तब जो इन इन्द्रियों में व्यापार करता है, जो जीव को सुख या दुःख का लाभ करा देता है, वह ज्ञान घोर निद्रा के समय जहाँ विलीन हो जाता है (६५) उस जीव को ज्ञाता कहते हैं। और हे पाण्डुसुत! अभी प्रथम जिसका वर्णन किया वह ज्ञान है (६६) और हे किरीटी! वह अविद्या के गर्भ से उत्पन्न होते ही निज को त्रिधा भिन्न कर लेता है (६७) तथा अपनी दौड़ के सन्मुख ज्ञेयरूपी निशान खड़ा कर पीछे की ओर ज्ञाता को खड़ा करता है; (६८) एवं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के बीच में रहने के कारण जो इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ता है; (६९) ज्ञेय की सीमा का उल्लङ्घन करते ही जिसकी दौड़ बन्द हो जाती है, और जो सम्पूर्ण पदार्थों के नाम रखता है (४७०) वह सामान्य

ज्ञान है। यह वचन मिथ्या नहीं है। अब ज्ञेय के लक्षण सुनो। (७१) शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध, और रस ये पाँच प्रकार के लक्षण ज्ञेय के हैं। (७२) अलग-अलग इन्द्रियों को स्पर्श कराने से जैसे एक ही आम का रस, वर्ण और सुगन्ध जुदे-जुदे ज्ञात होते हैं (७३) वैसे ही ज्ञेय वस्तु एक ही है, परन्तु उसका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है इस-लिए उसके पाँच लक्षण हो गये हैं। (७४) प्रवाह समुद्र को पहुँच कर समाप्त हो जाता है, सीमा प्राप्त होते ही दौड़ बन्द हो जाती है, फल आते ही धान्य की बाढ़ बन्द हो जाती है (७५) वैसे ही इन्द्रियों के मार्ग से दौड़ते हुए जहाँ ज्ञान की सीमा हो जाती है उस विषय को हे किरीटी! ज्ञेय कहते हैं। (७६) इस प्रकार हे धन-ञ्जय! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का वर्णन हुआ। इन्हीं तीनों से कर्म प्रवृत्ति होती है। (७७) क्योंकि शब्द इत्यादि विषयरूपी जो पञ्चविध ज्ञेय है वही एक प्रिय या अप्रिय रहता है। (७८) और हे धनञ्जय! ज्ञान ज्योंही ज्ञाता के सन्मुख ज्ञेय को अल्पसा प्रकट करता है त्योंही ज्ञाता उसके स्वीकार या त्याग में प्रवृत्त होता है। (७९) मीन को देख कर जैसे बगला, द्रव्य को देख कर जैसे रङ्क, अथवा स्त्री को देख कर जैसे कामी मनुष्य प्रवृत्त होता है, (४८०) उतार में जैसे जल बहने लगता है, फूलों की सुगन्ध से जैसे भ्रमर आकर्षित होते हैं, अथवा सन्ध्याकाल के समय छूटा हुआ वत्स जैसे गाय की ओर भागता है, (८१) अजी! स्वर्ग की उर्वशी की वार्ता सुन कर मनुष्य जैसे आकाश में यज्ञ-रूपी सीढ़ियाँ बाँधते हैं, (८२) हे किरीटी! कबूतर जैसे आकाश में चढ़ा हो तथापि कबूतरी को देखते ही शरीर को लोट-पोट करता हुआ गिरता है, (८३) अथवा मेघों की गर्जना होते ही मोर जैसे आकाश की ओर उड़ता है, वैसे ही ज्ञेय को देख कर ज्ञाता तत्काल ही दौड़ता है। (८४) इसलिए संसार में सम्पूर्ण कर्मों की प्रवृत्ति ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यों त्रिविधि होती है। (८५) इनमें ज्ञेय यदि भाग्यवशात् ज्ञाता का प्रिय हो तो उसका भोग लेने में क्षण का भी विलम्ब उससे नहीं सहा जाता, (८६) परन्तु यदि कदा-चित् वह उसके प्रतिकूल हो तो उसका त्याग करते हुए वही क्षण उसे युग के समान मालूम होता है। (८७) मनुष्य को सर्प या रत्नों का हार दिखाई दे तो तत्काल भय या आनन्द उत्पन्न होता है, (८८) वही हाल प्रिय अथवा अप्रिय ज्ञेय को देख कर ज्ञाता का होता है, और

फिर वह उस ज्ञेय के त्याग या स्वीकार की चेष्टा करता है। (८९) उस समय, दूसरे मल्ल को देखते ही जिसका जी मल्लयुद्ध करने को चाहता है वह चाहे सब सेना का सेनापति भले ही हो तथापि जैसे रथ का त्याग कर पैदल हो जाता है (४९०) वैसे ही जो ज्ञाता है वही कर्त्ता के रूप में प्रकट होता है। जैसे कोई भोजन करनेहारा भोक्ता राँधने बैठे (९१) अथवा भ्रमर ही बगीचा लगावे, कसौटी ही कस लगानेवाला बन जावे, अथवा देव ही मन्दिर बनाने के काम में प्रवृत्त हो, (९२) वैसे ही ज्ञेय की अभिलाषा से ज्ञाता इन्द्रियों के समुदाय से व्यापार कराता है और उससे वह, हे पाण्डव! कर्ता बन जाता है। (९३) और खुद कर्ता होने के कारण ज्ञान को करणता प्राप्त कराता है, इसलिए ज्ञेय भी स्वभावतः कार्य हो जाता है। (९४) इस प्रकार हे सुमति! ज्ञान की निजकी गति बदल जाती है, और रात को जैसे नेत्रों की शोभा बदल जाती है, (९५) अथवा प्रारब्ध प्रतिकूल हो जाने से जैसे श्रीमान् के विलासों में अन्तर पड़ता है, पूर्णमासी के अनन्तर जैसे चन्द्रमा बदल जाता है (९६) वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार द्वारा ज्ञाता कर्तृत्व से वेष्टित हो जाता है। यह दशा क्योंकर होती है उसका अब हम वर्णन करते हैं, सुनो। (९७) बुद्धि, चित्त, मन और अहङ्कार ये चतुर्विध अन्तःकरण अथवा आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं। (९८) और त्वचा, कान, नेत्र, जिह्वा और नाक ये पाँच प्रकार की बाह्य इन्द्रियाँ हैं। (९९) अब आन्तरिक इन्द्रियों के द्वारा कर्ता जब कर्तव्य का निश्चय करता है तब यदि उसे सुख होता-सा मालूम हो (५००) तो वह बाह्य चक्षु इत्यादि दसों इन्द्रियों को जागृत कर व्यापार में प्रवृत्त करता है, (१) और जब तक कर्तव्य का लाभ हाथ नहीं आता तब तक उस इन्द्रियसमूह को उस व्यापार में ही लगाये रखता है; (२) अथवा यदि उसे मालूम हो कि इस कर्तव्य का फल दुःखद होगा तो वह उन दसों इन्द्रियों को उसके त्याग करने में प्रवृत्त करता है, (३) और जब तक दुःख निर्मूल नहीं होता तब तक रात और दिन उन्हें कर्म में जोते रहता है। जैसे कण-रहित तुष जिधर की वायु हो उधर उड़ता है (४) वैसे ही जब इन्द्रियों की प्रवृत्ति ज्ञाता के त्याग या स्वीकार के अनुसार होती है तब उस ज्ञाता को कर्त्ता कहते हैं। (५) और कर्त्ता के सब कर्मों में इन्द्रियाँ इस तरह काम देती हैं जैसे कि खेती में हल-बखर काम आते हैं, इसलिए हम उन्हें [इन्द्रियों को]

करण कहते हैं। (६) और इन्हीं कारणों के द्वारा कर्ता जो क्रिया करता है, उससे जो व्याप्त रहता है उसे यहाँ कर्म कहा गया है। (७) सुनार की बुद्धि से व्याप्त जैसा अलङ्कार, चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त जैसी चन्द्रिका, अथवा सुन्दरता से व्याप्त जैसी बेल, (८) अथवा प्रभा से व्याप्त जैसा प्रकाश, मधुरता से व्याप्त जैसा ईख का रस, अथवा अवकाश से व्याप्त जैसा आकाश, (९) वैसा ही है धनञ्जय! जो कर्ता की क्रिया से व्याप्त है उसे कर्म कहना अन्यथा नहीं है। (५१०) इस प्रकार हे ज्ञानियों के शिरोमणि! हम कर्ता, कर्म और कारण तीनों के लक्षण कह चुके। (११) जैसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों से कर्म-प्रवृत्ति होती है वैसे ही कर्ता, करण और कार्य कर्म का साहित्य है। (१२) अग्नि में जैसे धूम समाया रहता है, बीज में जैसे वृक्ष समाया रहता है, अथवा मन में जैसे मनोरथ सदा मौजूद रहता है (१३) वैसे ही कर्त्ता, क्रिया और करण यही कर्म का जीवन है, जैसे कि सोने की खानि ही सोने की उत्पत्ति-स्थान है। (१४) हे पाण्डु-सुत! तात्पर्य यह कि जहाँ इस प्रकार प्रवृत्ति होती है कि यह कार्य है और मैं कर्त्ता हूँ वहाँ आत्मा सम्पूर्ण क्रियाओं से दूर रहता है। (१५) इसलिए हे सुमति! मैं बारम्बार कहता हूँ कि आत्मा कर्मों से भिन्न ही है। अस्तु, अब यह तुम कहाँ तक सुनोगे। (१६)

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

परन्तु जिन ज्ञान, कर्म और कर्ता का हमने वर्णन किया वे तीनों तीन गुणों के कारण त्रिधा भिन्न हैं। (१७) इसलिए हे धनञ्जय! ज्ञान कर्म या कर्ता का विश्वास न करना चाहिए क्योंकि तीन गुणों में से दो गुण बन्धकारक होते हैं और मुक्ति के लिए केवल एक ही समर्थ है। (१८) वह एक सात्त्विक गुण ज्ञात हो, इसलिए हम इन गुणों का निरूपण, जैसा सांख्यशास्त्र में किया गया है वैसा, करते हैं। (१९) जो विचाररूपी क्षीरसागर है, आत्मज्ञानरूपी कुमु-दिनी का चन्द्रमा है, जो ज्ञानरूपी नेत्रवान् शास्त्रों का राजा है, (५२०) अथवा जो प्रकृति-पुरुषरूपी मिश्रित रात्रि और दिन को अलग करनेहारा त्रिभुवन का सूर्य है, (२१) जिसमें इस अपरिमित मोह-राशि को चौबीस तत्त्वों के माप से माप कर परतत्त्व का सुख वर्णन

किया है, (२२) वह सांख्यशास्त्र, हे अर्जुन! जिनका स्तुति-पाठ करता है उन गुणों की कथा ऐसी है (२३) कि उन्होंने अपने निज बल से और अपनी त्रिविधता के चिह्न से जितना दृश्यमात्र है सब अङ्कित कर डाला है; (२४) एवं सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की इतनी महिमा है कि यह त्रिविधता सृष्टि में सबसे आदि जो ब्रह्मा उनमें तथा सबसे अन्तिम जो कृमि उसमें भी है। (२५) अब सम्प्रति जिसके भिन्न होने से सब सृष्टि-समुदाय गुणभेद में पड़ा हुआ है उस ज्ञान का वर्णन प्रथम करते हैं। (२६) क्योंकि यदि दृष्टि स्वच्छ हो तो चाहे जो वस्तु स्वच्छ दिखाई दे सकती है वैसे ही शुद्ध ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं का शुद्धस्वरूप मालूम हो सकता है। (२७) अतः कैवल्य-गुण निधान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अब हम सात्विक ज्ञान का लक्षण कहते हैं, सुनो। (२८)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

हे अर्जुन! शुद्ध सात्विक ज्ञान असल में वह है जिसका उदय होते ही ज्ञेय वस्तु ज्ञाता-सहित विलीन हो जावे। (२९) जैसे सूर्य कभी अन्धकार नहीं देखता, समुद्र कभी यह नहीं जानता कि नदी कैसी होती है, अथवा जैसे कभी अपनी छाया को आलिङ्गन नहीं दिया जा सकता (५३०) वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा शिव से लेकर तृण-पर्यन्त सम्पूर्ण भूत-व्यक्तियाँ भिन्न नहीं दिखाई देतीं, (३१) अथवा जैसे लिखे हुए चित्र पर हाथ फेरने पर, लवण को जल से धोने पर, अथवा स्वप्न से जागृत होने पर जैसी स्थिति होती है (३२) वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को देखते ही न ज्ञाता, न ज्ञान, न ज्ञेय शेष रहता है; (३३) जैसे अलङ्कार को गला कर सोना नहीं अलगाया जा सकता, अथवा पानी छान कर तरङ्ग अलग नहीं की जा सकती (३४) वैसे ही जिस ज्ञान से कोई दृश्य वस्तु भिन्न दिखाई नहीं देती वही ज्ञान वास्तव में सात्त्विक ज्ञान है। (३५) कुतूहल से दर्पण देखने जाइए तो देखनेहारा ही सन्मुख आ खड़ा होता है, वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय ज्ञाता का ही उलट कर आया हुआ स्वरूप जान पड़ता है (३६) वही, मैं फिर कहता हूँ, सात्त्विक ज्ञान है जो मानों मोक्ष-लक्ष्मी का मन्दिर है। अस्तु, अब राजस ज्ञान का लक्षण सुनो। (३७)

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

हे पार्थ। सुनो, भेद का आश्रय कर जो ज्ञान प्रवृत्त होता है वह राजस है। (३८) भूतमात्र में भिन्नत्व से व्याप्त हो जिस ज्ञान ने उसे विचित्रता प्राप्त करा दी है और उससे ज्ञाता को जिसने अत्यन्त भ्रम मे डाल दिया है (३९) जैसे निद्रा सत्यस्वरूप पर विस्मृतिरूपी परदा डाल कर जीव को स्वप्नरूपी कष्ट का अनुभव कराती है (५४०) वैसे ही आ मज्ञान के मन्दिर के बाहर—मिथ्या मोह के वर्तुल के भीतर—जो ज्ञान जीव को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का खेल दिखाता है, (४१) अलङ्कारत्व से ढका हुआ सोना जैसे बालकों को प्रतीत नहीं होता वैसे ही जिस ज्ञान से नाम और रूप का ही ज्ञान होता और अद्वैत दूर रह जाता है, (४२) मूर्ख लोग जैसे घड़ों या मटकों के रूपवाली पृथ्वी को नहीं पहचान सकते, दीपक का रूप लेने से जैसे अग्नि अपरिचित हो जाता है, (४३) अथवा वस्त्रता का आरोपण होने के कारण मूर्ख मनुष्य यह नहीं पहचानता कि वह तन्तु का ही रूप है, अथवा चित्र देख कर जैसे अज्ञानी मनुष्य को पट की विस्मृति होती है (४४) वैसे ही जिस ज्ञान के कारण भूत-व्यक्तियों को भिन्न देख कर एकता ज्ञान की भावना नष्ट हो जाती है, (४५) और ईंधन भिन्न होने से जैसे अग्नि भिन्न जान पड़ती है, फूल जुदे-जुदे होने से जैसे सुगन्ध भिन्न जान पड़ती है, अथवा जुदे-जुदे जलाशय होने से जैसे चन्द्रमा, पूर्ण होने पर भी, भिन्न दिखाई देता है, (४६) वैसे ही पदार्थों में अनेक भेद देख कर जो सर्वत्र छोटा-बड़ा इत्यादि वेष से भरा हुआ है उसे राजस ज्ञान कहते हैं। (४७) अब तामस ज्ञान का लक्षण कहते हैं। उसे भी भली भाँति पहचान लो, जैसे कि डोम के घर से बचने के हेतु उसे पहचान रखते हैं। (४८)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

हे किरीटी। जो ज्ञान, विधिरूपी वस्त्र से विहीन हो, सञ्चार करता है उसके नग्न होने के कारण श्रुति उसकी ओर पीठ फेर लेती है, (४९) तथा जिस ज्ञान को दूसरे शास्त्र भी बाह्य समझ कर अपवित्र ठहराते और निन्दा कर म्लेच्छ धर्म रूपी पर्वत की ओर

हाँक देते हैं, (५५०) जो ज्ञान ऐसा है कि तमोगुणरूपी नक्र उसका ग्रहण करते ही भ्रमिष्ट हो घूमता है, (५१) जो ज्ञान किसी सम्बन्ध की बाधा नहीं समझता, किसी पदार्थ को निषिद्ध नहीं समझता, जैसे ओस पड़े हुए किसी गाँव में छूटा हुआ कुत्ता (५२) जो वस्तु मुँह में समा नहीं सकती अथवा जिसके खाने से मुँह जलता है उसी को छोड़ता है, बाकी सब कुछ खाता है; (५३) सोने की चीज चुरा ले जाते हुए जैसे चूहा भला-बुरा नहीं देखता, अथवा मांस खानेहारा जैसे यह नहीं देखता कि यह मांस काले जानवर का है या गोरे का, (५४) अथवा जङ्गल में लगी हुई आग जैसे कोई विचार नहीं करती, अथवा मक्खी जैसे जीता या मरा हुआ जीव न देख कर हर कहीं बैठती है, (५५) कौए को जैसे यह विवेक नहीं है कि यह उबका हुआ अन्न है या परोसा हुआ, अथवा यह ताजा अन्न है या सड़ा हुआ, (५६) वैसे ही जो ज्ञान विषयों में व्यापार करता हुआ यह नहीं जानता कि निषिद्ध आचरण छोड़ देना चाहिए अथवा विहित आचरण करना चाहिए, (५७) जो कुछ उसकी दृष्टि के सन्मुख आता है उस सब विषय का जो सेवन करता है; स्त्री-विषय शिश्न को और द्रव्य-विषय उदर को बाँट देता है, (५८) जिससे तृषा शान्त हो उसी को जो सुखकारक जल समझता है, इसके सिवा जो जल के विषय में पवित्र या अपवित्र ये नाम भी नहीं जानता, (५९) उसी प्रकार जो यह भी नहीं कहता कि यह खाने योग्य है, यह खाने योग्य नहीं है, अथवा यह निन्द्य है, यह अनिन्द्य है; जो समझता है कि जो मुँह को भावे वही पवित्र है, (५६०) और जितनी स्त्री-जाति है उतनी जो केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही पहचानता है, उसकी मित्रता करने के लिए जो सदा अभिलाषी रहता है, (६१) जिस ज्ञान से अपना उपकार करनेहारा ही मित्र समझा जाता है, तथा जिससे देह-सम्बन्ध का अन्त नहीं होता, (६२) जैसे मृत्यु का सभी कुछ खाद्य है, और अग्नि के लिए सभी ईंधन है वैसे ही जो सारे जगत् को ही अपना धन समझता है वह तामस ज्ञान है। (६३) इस प्रकार जो सम्पूर्ण विश्व को विषय ही समझता है उसे देहपोषण ही एक हेतु रहता है। (६४) आकाश से गिरे हुए जल का एक आश्रय जैसे समुद्र ही होता है वैसे ही वह सब कर्म केवल एक उदर के ही हेतु समझता है। (६५) इसके अतिरिक्त कोई स्वर्ग या नरक है

अथवा प्रवृत्ति या निवृत्ति उसका हेतु है इत्यादि ज्ञान की उसे रात्रि ही रहती है। (६६) जो ज्ञान इस छोटे से देह को ही आत्मा कहता है और पत्थर की मूर्त्ति को ईश्वर समझता है, इसके परे जिसकी बुद्धि ही प्रवृत्त नहीं होती, (६७) जो समझता है कि शरीर-पात होने ही कर्म-सहित आत्मा का नाश हो जाता है फिर भोगनेवाला किस स्वरूप से शेष रह सकता है? (६८) अथवा ईश्वर देखता है, वह फलभोग करवाता है ऐसा कहिए, तो जो देव की मूर्ति ही बेंच खाता है, (६९) नगर के मन्दिरों के देवता कर्म-फल देते हैं कहिए तो जो उत्तर देता है कि फिर दूर दिखाइ देनेवाले पर्वत क्यो चुप रहते हैं? (५७०) इस प्रकार जो कदाचित् देवता को माने तो उसे पत्थर की मूर्ति ही समझता है तथा देह को ही आत्मा समझता है, (७१) और जो पाप, पुण्य इत्यादि हैं उन सबको जो मिथ्या कहता और अग्नि-मुख के समान चाहे जिस वस्तु का उपभोग लेना ही जो भला समझता है, (७२) जिसकी यही सत्य प्रतीति है कि चर्म-चक्षु जो वस्तु दिखावें, इन्द्रियाँ जिसका चसका लगा दें वही उत्तम है, (७३) बहुत क्या कहें, हे पार्थ! जैसे धूम की वेल वृथा ही आकाश में ऊँची उठती है वैसे ही जिसकी स्थिति बढती हुई दिखाई दे, (७४) भेंड़ नाम का वृक्ष [जो न गीला न सूखा उपयोगी होता है] जैसे बढा हुआ हो तथापि टूटे के ही समान है, (७५) अथवा ईख के भुट्टे अथवा नपुसक मनुष्य, या निरङ्कुश [सेमर?] का लगा हुआ वन, (७६) अथवा बालक के मनोरथ या चोरों के घर का धन या बकरी के गले के स्तन (७७) की तरह जो ज्ञान निष्फल और बुरा दिखाई देता है उसे मैं तामस ज्ञान कहता हूँ। (७८) उसे ज्ञान नाम देना ऐसा ही है जैसे जन्मान्ध के लिए यह कहना कि इसकी आँखें बड़ी हैं, (७९) अथवा बहिरे के विषय में कहना कि इसके कान बडे तीक्ष्ण हैं, अथवा जो पीने योग्य नहीं है उसे पेय वस्तु कहना, वैसे ही इस तामस ज्ञान को 'ज्ञान' नाम झूठमूठ दिया गया है। (५८०) अस्तु, कहाँ तक वर्णन करें। तात्पर्य यह कि ऐसा जो ज्ञान देखो उसे ज्ञान नहीं प्रत्यक्ष अन्धकार जानो। (८१) हे श्रोताओं के शिरोमणि! तीनों गुणों से भिन्न ज्ञान के जो लक्षण हैं वे हम तुम्हें बतला चुके। (८२) अब हे धनुर्धर! इन्हीं तीन प्रकार से कर्ता की क्रियाएँ भी ज्ञान के प्रकाश से गोचर होती हैं। (८३) इसलिए जैसे बहते हुए जल के विभाग हो

जायँ वैसे ही कर्म के भी तीन विभाग हो जाते हैं। (८४) उस ज्ञानत्रय के कारण त्रिधा हुए कर्म के विभागों में से सात्विक कर्म ऐसा है, सुनो। (८५)

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जैसे पतिव्रता अपने प्रियपति को आलिङ्गन देती है वैसे ही जो कर्म अपने अधिकारानुसार किया जाता है और मान्य होता है, (८६) साँवले शरीर पर जैसे चन्दन अथवा स्त्रियों के नेत्रों में जैसे काजल शोभता है, वैसे ही जो कर्म सर्वदा अधिकार को शोभा देनेहारा होता है (८७) वह नित्य कर्म उत्तम कहा है; और नैमित्तिक कर्म उसका सहकारी हो तो मानो सोने में सुगन्ध ही प्राप्त हो जाती है। (८८) माता जैसे तन-मन खर्च करके बालक की रक्षा करती है तथापि उससे उकताना कभी नहीं जानती (८९) वैसे ही अपना सर्वस्व समझ कर जो कर्म करता है, परन्तु उस कर्म का फल दृष्टि के सन्मुख नहीं रखता, सम्पूर्ण क्रिया ब्रह्म में ही समर्पित करता है; (५९०) और जैसे प्रियजन भोजन को आवें तो कोई यह नहीं सोचता कि यह पदार्थ मेरे लिए बचेगा या नहीं, वैसे ही यदि सत्कर्म रह जाय (९१) तो जो कर्म के न होने से मन में दुखी नहीं होता, तथा कर्म बन पड़े तो उस आनन्द से जा फूलना भी नहीं जानता, (९२) ऐसी-ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करता है उसके उस कर्म का हे धनञ्जय! सात्विक-सरीखा सत्वगुण-सम्बन्धी नाम दिया गया है। (९३) अब हम राजस कर्म के लक्षण वर्णन करते हैं, अवधान न्यून मत होने दो। (९४)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

मूर्ख जैसे घर में माता-पिता से अच्छी तरह नहीं बोलता पर बाहर सब संसार का आदर करता है, (९५ अथवा तुलसी के पेड़ में दूर से एक छींटा भी नहीं डालता पर द्राक्षा की जड़ में दूध देता है, (९६) वैसे ही जो नित्य-नैमित्तिक आवश्यक कर्म हैं उनके नाम से बैठक छोड़ उठ नहीं सकता, (९७) पर दूसरे काम्य-कर्मों के लिए जो अपना सब तन और धन भी खर्च करना बहुत नहीं समझता, (९८)

अजी ! जहाँ ड्योढ़ा मूल्य आता है वहाँ बिक्री करने से जैसे कोई नहीं अघाता, बीज बोते हुए जैसे कोई नहीं थकता, (९९) अथवा पारस हाथ लगे तो साधक जैसे लोहा मोल लेने के लिए सब सम्पत्ति खर्च कर देता है और उन्नति प्राप्त करता है, (६००) वैसे ही अगले फल देखकर कठिन-कठिन काम्य-कर्म करता हुआ जो उन्हें थोड़ा ही समझता है, (१) वह फलेच्छा करनेहारा जितनी काम्य क्रियाएँ यथाविधि और भली भाँति करता है उतनी सब क्रियाएँ राजस कर्म हैं। (२) और कर्म कर जो उसके साथ उस कर्म की ढोंड़ी पीटता है और अपने अधिकार के बायन बाँटता फिरता है (३) इस प्रकार जो कर्माभिमान से फूलता है और, कालज्वर जैसे ओषधि को नहीं मानता वैसे ही, जो पिता या गुरु को भी नहीं मानता, (४) ऐसे अहङ्कार से जो फल की इच्छा करनेहारा मनुष्य आदर के साथ जो-जो किया करे वह राजस कर्म है; (५) एवं वह क्रिया भी जो प्राय. कष्ट के साथ करता है, बाजीगर लोग जैसे पेट भरने के लिए कष्ट करते हैं (६) अथवा चूहा जैसे एक कण के लिए सम्पूर्ण पहाड़ में छेद कर डालता है, या दादुर जैसे सेवार खोजने के लिए सम्पूर्ण समुद्र को गँदला कर डालता है (७) या सँपेरा जैसे भीख के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं करता तथापि साँप लिये फिरता है, वैसे ही क्या किया जाय, जिसे कष्ट करना ही भाता है, (८) अथवा एक परमाणु के लाभ के लिए दीमक जैसे पाताल नाँप जाती है वैसे ही जो स्वर्ग-सुख के लोभ से जो कुछ श्रम करता है (९) उस सक्लेश और सकाम कर्म को राजस कर्म समझना चाहिए। अब तामस कर्म के लक्षण सुनो। (६१०)

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

तामस कर्म उसे कहते हैं जो निन्दा का काला या पापी घर है तथा जसमें निषेध का जन्म सार्थक हुआ है। (११) पानी पर लकीर खींचने से जैसे वह दिखाई नहीं देती वैसे ही जिस कर्म के उत्पन्न होने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, (१२) अथवा जैसे काँजी मथने से या राख फूँकने से अथवा कोल्हू में रेती पेरने से कुछ भी हाथ नहीं आता, (१३) अथवा जैसे भूसा फटकना या आकाश छेदना

या वायु को फाँसना (१४) इत्यादि सब चेष्टाएँ निष्फल हो नष्ट हो जाती हैं वैसे ही जो कर्म किया हुआ निष्फल होता है, (१५) परन्तु जिस कर्म के करने में नरदेह जैसा द्रव्य खर्च होता है तथा संसार-सुख का नाश हो जाता है; (१६) जैसे कमलवन में कँटीली जाली फेंक कमल तोड़ने की चेष्टा करने से निज को क्लेश होता तथा कमलों का नाश होता है, (१७) अथवा पतङ्ग जैसे दीपक के द्वेष से स्वयं जलता है और दीपक को बुझाकर दूसरों के लिए अँधेरा कर देता है, (१८) वैसे ही सम्पूर्ण धन वृथा जाय और चाहे शरीर का भी घात हो जाय तथापि जो कर्म दूसरों का अपाय ही करता है, (१९) जैसे कोई मक्खी निगल ले तो वह अपने शरीर का नाश करती तथा निगलनेहारे को वमन कराने का क्लेश पहुँचाती है वैसे ही जो कर्म दोषी होता है; (६२०) तथा जो कर्म यह विचार न करके किया जाता है कि मुझमें कर्म करने की सामर्थ्य है या नहीं; (२१) मेरा प्रयत्न कितना है, इसे करते हुए क्या मौका आन पड़ेगा और करने पर भी क्या प्राप्ति होगी (२२) इत्यादि विचार को अविवेक के कारण, मिटा कर अभिमान से जो कर्म किया जाता है, (२३) जैसे आग जब अपने रहने का स्थान जला कर आसपास फैलती है अथवा समुद्र जब अपनी मर्यादा छोड़ फैल जाता है (२४) तब जैसे वे दोनों थोड़ा या बहुत नहीं विचारते, आगे-पीछे नहीं देखते, मार्ग या अमार्ग एकत्र करते चलते हैं, (२५) वैसे ही जो कर्म कर्तव्य या अकर्तव्य को एकसा ही रगड़ता चलता है, स्वधर्म या परधर्म कुछ भी श्रेष्ठ नहीं रहने देता वह निश्चय से तामस कर्म है। (२६) इस प्रकार हे अर्जुन ! हम तीनों गुणों के अनुसार विभिन्न हुए कर्म का विवेचन उत्पत्ति-सहित कर चुके। (२७) अब ऐसा कर्म करने से कर्माभिमानी कर्त्ता जो जीव है उसे भी त्रिविधता प्राप्त हुई है। (२८) जैसे एक ही पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रमों के कारण चार तरह का जान पड़ता है वैसे ही कर्म भेद से कर्त्ता को सात्विक, राजस और तामस-रूपी त्रिविधता प्राप्त हुई है। (२९) परन्तु उन तीनों में से सम्प्रति हम सात्विक का वर्णन करते हैं। उसे ध्यान देकर सुनो। (६३०)

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जैसे मलय पर्वत के चन्दन वृक्षों की शाखाएँ फल की इच्छा छोड़कर सीधी बढ़ती रहती हैं, (३१) अथवा नागबेल* में फल न लगने पर भी वह जैसी उपयोगी होती है, वैसे ही जो नित्य नैमित्तिक इत्यादि हितकारी क्रियाएँ करता है, (३२) उसकी फलशून्यता का अर्थ विफलता न करना चाहिए। क्योंकि हे पाण्डुसुत! जो फल ही है उसमें और फल क्या लगेंगे ? (३३) और जो आदरसहित अनेक क्रियाएँ करता है परन्तु वर्षाऋतु के मेघसमूह के समान यह अभिमान नहीं रखता कि मैं कर्त्ता हूँ (३४) वैसे ही परमात्मस्वरूप को समर्पण करने के योग्य कर्म उत्पन्न हुआ, इसलिए (३५) जो काल का उल्लङ्घन नहीं करता, देशशुद्ध भी प्राप्त करता है, तथा शास्त्रों के प्रकाश से कर्मों का निर्णय करता है, (३६) इन्द्रियों और मनोवृत्तियों की एकता कर जो चित्त को फल की ओर जाने नहीं देता तथा उसे नियमों की साँकल से बाँधे रखता है, (३७) और जो सदैव यह चिन्ता करता रहता है कि उक्त प्रतिबन्ध सहने के लिए उत्तम धैर्य प्राप्त हो, (३८) और आत्मप्राप्ति की इच्छा से जो आये हुए कर्म करता है पर देहसुख की परवाह नहीं करता, (३९) इस प्रकार ज्यों-ज्यों नींद दूर होती है ज्यों-ज्यों भूख का स्मरण नहीं होता, ज्यों-ज्यों शरीर को सुख नहीं मिलता (६४०) त्यों-त्यों—जैसे सोने को आग में रखने से वह तौल में कम होता पर कस में उत्तम होता जाता है वैसे ही—वह अधिक-अधिक उत्साहित होता जाता है, (४१) यदि सच्चा प्रेम हो तो जीवन भी दुःखरूप मालूम होता है, अग्नि में कूदती हुई सती के शरीर पर क्या रोमाञ्च हुए दिखाई देते हैं ? (४२) फिर हे धनञ्जय! जो आत्मा जैसे प्रिय जन का प्रेमी है उसे क्या देह-कष्ट होने से दुःख होगा ? (४३) इसलिए ज्यों-ज्यों विषय-प्रेम टूटता है, ज्यों-ज्यों देह-बुद्धि मिटती जाती है त्यों-त्यों जिसे कर्म करने का आनन्द दुगुना होता जाता है, (४४) इस प्रकार जो कर्म करता है, गाड़ी अगर पहाड़ से गिर कर टूट जाय तो भी गाड़ी को जैसे उसका दुःख नहीं होता वैसे ही कर्म बन्द हो जाने से जिसे दुःख नहीं होता, (४५,४६) अथवा आरब्ध कर्म पूर्ण सिद्ध हुआ हो तो भी जो उसकी बड़ाई नहीं मारता, (४७) जो ऐसे लक्षणों-सहित कर्म करता हुआ दिखाई देता है उसे तत्त्वतः सात्त्विक कर्त्ता कहते हैं। (४८)

---

* पान की बेल।

अब हे धनञ्जय ! राजस कर्त्ता की पहचान यह है कि वह संसार की अभिलाषा का आश्रयस्थान होता है। (४९)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जैसे गाँव के कूड़े-कचरे के लिए घूरा ही एक स्थान है, अथवा सम्पूर्ण अमङ्गलों को श्मशान में आश्रय मिलता है, (६५०) वैसे ही जो सम्पूर्ण संसार के मनोरथों के पाँवों के धोये हुए दोषों का घर बन रहा है, (५१) इसलिए जिस कर्म से सहज फल-प्राप्ति होती दिखाई दे उसका जो उत्तम उपक्रम करता है, (५२) और प्राप्त किये हुए धन में से एक कौड़ी खर्च नहीं करता, क्षण-क्षण में उस पर से अपने जी की भी निछावर करता है, (५३) जैसे कृपण अपना अन्तःकरण अपने धन की ओर रखता है, जैसे बगला मछली का ध्यान धरता है वैसे ही जो दूसरे के धन के विषय सावधान रहता है; (५४) बेर की झाड़ी जैसे, पास जाने से, मनुष्य को उलझा लेती और स्पर्श करने से शरीर को छेदती है और उसके फल भी भीतर से पोले होते हैं (५५) वैसे ही जो मन से, वाणी से और शरीर से हर किसी को दुःख ही देता रहता है तथा स्वार्थ-प्राप्ति करता हुआ दूसरों का हित नहीं विचारता, (५६) तथा जो शरीर से क्षमारूपी कर्म नहीं कर सकता और जिसके मन से भी मलिनता नहीं छूटती, (५७) धतूरे के फल में जैसे बाहर काँटे और भीतर नशा भरा रहता है वैसे ही जो अन्तर्बाह्य सुचिता के विषय में दुबला हो रहा है, (५८) और हे धनञ्जय ! कर्म करने पर यदि फल प्राप्त हो तो जो हर्ष से संसार को चिराने लगता है, (५९) अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कर्म निष्फल हो जाय तो दुःख से व्याकुल हो उसका धिक्कार करने लगता है, (६६०) इस प्रकार जिसका कर्म का व्यवहार देखो वही निश्चय से राजस कर्त्ता है। (६१) अब इसके उपरान्त जो कुकर्मों का घर तामस कर्त्ता है उसका भी वर्णन करते हैं। (६२)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अग्नि जैसे यह नहीं जानती कि मेरे लगने पर पदार्थ कैसे जलता है, (६३) शस्त्र जैसे यह नहीं जानता कि मेरी तीक्ष्णता के कारण

मृत्यु कैसे हो जाती है, अथवा जैसे कालकूट विष अपना फल स्वयं नहीं जानता, (६४) वैसे ही हे धनञ्जय ! जो दूसरों का तथा अपना भी घात करता हुआ बुरे कर्मों का आचरण करता है (६५) पर उस आचरण के समय जो यह नहीं सोच सकता कि मैं क्या कर रहा हूँ, और आँधी की वायु के समान कर्म में प्रवृत्त होता है, (६६) वास्तव मे हे धनञ्जय ! कर्तव्य के साथ जिसका कुछ मेल नहीं मिलता, जिसके सन्मुख पागल का भी कुछ ठिकाना नहीं लगता, (६७) और बैलों को लगी हुई किल्नी के समान जो इन्द्रियों के सन्मुख डाला हुआ चारा चर कर अपना जीवन रखता है, (६८) बालक जैसे बिना अवसर के हँसने या रोने लगता है, वैसे ही जो उच्छृङ्खल व्यवहार करता है, (६९) प्रकृति के अधीन होने के कारण जो कर्तव्य या अकर्तव्य कर्मों की रुचि नहीं रखता, तथापि कचरे से घूरे की तरह जो तृप्त हो फूलता है, (६७०) अत सन्मान्यता के बल से युक्त हो जो ईश्वर के सन्मुख भी सिर नहीं झुकाता और स्तब्धता के विषय मे पर्वत को भी कुछ नहीं समझता, (७१) और जिसका मन कपटी, आचरण उचक्केपन का, और दृष्टि मूर्तिमती वेश्या की ही होती है, (७२) बहुत क्या जिसका मानों शरीर ही कपट का बना हुआ होता है, जिसका जीता रहना जुआड़ी के खेल का स्थान है, (७३) उस मनुष्य का यह जन्म नहीं, केवल लुटेरे भीलों का गाँव है, इसलिए वहाँ किसी को आवागमन न करना चाहिए। (७४) तथा दूसरों का भला करने से जिसे बैर है, जैसे लवण दूध मे मिलते ही उसे अपेय बना देता है, (७५) अथवा कोई ठण्डा पदार्थ अग्नि में डाला जाय तो अग्नि तत्काल भड़क कर प्रज्वलित हो जाती है, (७६) अथवा हे किरीटी ! उत्तम उत्तम पदार्थ पेट मे प्रविष्ट होने पर जैसे मलरूप हो जाते हैं, (७७) वैसे ही दूसरे का हित जिसके अन्तःकरण मे प्रविष्ट होकर पूर्णत अहित ही हो निकलता है, (७८) जो गुण लेता पर दोष ही देता है, और सर्प को पिलाये गये दूध की तरह जो अमृत को भी विष बना देता है, (७९) और जब यह मौका हो कि इस लोक में बचानेवाला और परलोक देनेवाला उचित कर्म करना चाहिए (६८०) तब जिसे स्वभावत नींद आ जाती है, पर कुकर्म के समय जिससे वही नींद किसी अस्पृश्य वस्तु के समान दूर रहती है, (८१) दाखों मे रस भरता है उस समय अथवा

आमों में रस भरता है तब कौओं का मुँह सड़ जाता है, अथवा दिन के समय जैसे घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं, (८२) वैसे ही जब कल्याण का समय होता है तब जिसे आलस वश कर लेता है परन्तु कुकर्म के समय वही आलस जिसकी आज्ञा में रहता है, (८३) समुद्र के पेट में जैसे अखण्ड अँगीठी जल रही है वैसे ही जो अन्तःकरण में खेद बनाये रखता है, (८४) कण्डियों की आग में जैसे धुआँ अवश्य होता है, अपानद्वार से निकली हुई वायु जैसे अवश्य ही दुर्गन्ध से युक्त रहती है, वैसें ही जो जन्मभर विषाद से युक्त रहता है, (८५) और हे वीर! जो कल्पान्त के अनन्तर के लाभ की अभिलाषा से युक्त हो व्यापार में प्रवृत्त होता है, (८६) हृदय में चिन्ता तो संसार से भी परे की रखता है पर कर्तृत्व देखो तो जिसे तृण का भी लाभ नहीं होता, (८७) ऐसा जो संसार में मूर्तिमान् पापों का समूह दिखाई दे वह सर्वथा तामस कर्त्ता है; (८८) एवं हे सुजनों के राजा! कर्म, कर्त्ता और ज्ञान तीनों के त्रिधा लक्षण हम तुमसे वर्णन कर चुके। (८९)

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

अब अविद्यारूपी नगर में मोहरूपी वस्त्र पहन कर और सन्देह-रूपी अलङ्कार धारण कर (६९०) आत्मनिश्चयरूपी निज की सुन्दरता जिस बुद्धिरूपी दर्पण में मूर्तिमान् दिखाई देती है उस बुद्धि के भी तीन भेद हैं। (९१) अजी, संसार में कौन सी वस्तु है जो सत्व इत्यादि गुणों से त्रिधा नहीं हुई है! (९२) जिसमें अग्नि नहीं है ऐसी कौनसी लकड़ी है, वैसे ही दृश्य वर्ग में कौनसी वस्तु है जो त्रिविध नहीं है? (९३) अतः तीनों गुणों के कारण बुद्धि त्रिगुणित हुई है और उसी प्रकार धृति भी भिन्न हुई है। (९४) अतः इन भिन्न हुई वस्तुओं का वर्णन अलग-अलग लक्षणों-सहित करते हैं। (९५) प्रथम हे धनञ्जय! बुद्धि और धृति दोनों में से बुद्धि के भेदों का वर्णन सुनो। (९६) हे उत्तम योद्धा! संसार में प्राणियों के आने के मार्ग उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के हैं। (९७) जो कर्तव्य कर्म, काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म हैं वे यही तीन प्रसिद्ध मार्ग हैं। इन्हीं से जीवों को संसार-भय की प्राप्ति होती है। (९८)

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

अतः संसार में अपने अधिकारानुसार और विधि के मार्ग से आया हुआ जो नित्य कर्म है वही एक उत्तम है। (९९) आत्मप्राप्ति-रूपी फल को दृष्टि के सन्मुख रख उसी कर्म का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे कि प्यास बुझाने के लिए जल-पान किया जाता है। (७००) इस रीति से वह कर्म जन्म-भय का दुःख मिटा देता है और मोक्ष का लाभ सुगम कर देता है। (१) जो सज्जन इस प्रकार कर्म करता है वह संसार-भय से मुक्त हो जाता है और उस कर्म के बल से मुमुक्षु का पद प्राप्त कर लेता है। (२) फिर, जो बुद्धि वैसा ही दृढ़ निश्चय रखती है उसे मोक्ष इस प्रकार प्राप्त हो जाती है मानों वह उसी के लिए रक्खी हुई थी। (३) इस प्रकार प्रवृत्ति की भूमिका पर निवृत्ति की ही रचना की गई है तो फिर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए कि न होना चाहिए ? (४) प्यासे को जैसे जल से जीवन प्राप्त होता है, बाढ़ में गिरे हुए को जैसे तैरने से, अथवा अँधेरे कुएँ में गिरे हुए को सूर्य की किरणों से ही गति मिल सकती है, (५) अथवा जैसे पथ्य और औषधि मिले हो रोगग्रस्त मनुष्य भी जी जाता है, अथवा मछली को जल का आश्रय मिले (६) तो जैसे उसके जीवन को कुछ अपाय नहीं होता वैसे ही इस नित्य कर्म के करने से अवश्य ही मोक्ष का लाभ होता है। (७) इस नित्य कर्म की ओर जो शुद्ध बुद्धि प्रवृत्त होती है, और आचरण के लिए जो कर्म हैं (८) अर्थात् जो काम्य इत्यादि संसार-भय देनेवाले कर्म हैं, जिन पर निषिद्धता की मुहर लगी हुई है, (९) उन अकरणीय और जन्म-मरण का भय देनेवाले कर्मों की ओर से जो बुद्धि, प्रवृत्ति को पिछले पाँवों भगाती है, (७१०) अग्नि में जैसे प्रवेश करते नहीं बनता, अथाह पानी में जैसे डूबा नहीं जाता, अत्यन्त प्रखर शूल जैसे पकड़ा नहीं जाता, (११) काले नाग को फुफकारते देख उस पर जैसे हाथ नहीं डाला जाता अथवा बाघ की गुफा में जैसे जाया नहीं जाता, (१२) वैसे ही निषिद्ध कर्म देखकर जिस बुद्धि को अवश्य ही महाभय उत्पन्न होता है, (१३) विष मिला कर अन्न पकाया गया हो तो जैसे मृत्यु अवश्यम्भावी है,

वैसे ही जो बुद्धि जानती है कि निषिद्ध कर्मों से जन्म-मरण-रूपी बन्ध नहीं टूटता. (१४) और ऐसे बन्ध-भय से भरे हुए निषिद्ध कर्म के प्राप्त होने पर जो बुद्धि उस कर्म को त्याग करने का प्रबन्ध करना जानती है, (१५) तथा जो कार्य और अकार्य का विवेक रखती है, जो प्रवृत्ति-निवृत्ति का माप करनेहारी है, रत्नों का परखैया जैसे अच्छा-बुरा रत्न पहचान लेता है (१६) वैसे ही जो कर्तव्य और अकर्तव्य की उत्तम परख करना जानती है वही बुद्धि सात्विक है। (१७)

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

बगलों के गाँव में जैसे दूध और पानी मिला हुआ ही पिया जाता है [अलग नहीं किया जाता], अथवा अन्धा जैसे दिन और रात का भेद नहीं जानता, (१८) जो फूलों के मकरन्द का सेवन करता है वही लकड़ी में भी छेद करता है पर जैसे उसका भ्रमरत्व नष्ट नहीं होता, (१९) वैसे ही जो बुद्धि कार्य और अकार्य, धार्मिक और अधार्मिक विषयों को यथार्थतः न समझ कर उनका आचरण करती है; (७२०) अजी! जैसे परखे विना मोती लिये जायँ तो कदाचित् ही अच्छे मिलें, वरन् अच्छे न मिलना तो रक्खा ही हुआ है; (२१) वैसे ही जो बुद्धि निषिद्ध कर्म कदाचित् प्राप्त न हो तो ही बचती है अन्यथा जो भले-बुरे दोनों कर्मों का समान ही आचरण करती है, (२२) जैसे कोइ योग्यायोग्य का विचार न करके सब जन-समुदाय को निमन्त्रण दे, वैसे ही जो बुद्धि उत्तम कर्म की परख नहीं करती उसे राजसी कहते हैं। (२३)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

और जैसे राजा जिस मार्ग से जाता है वही चोर के लिए जङ्गल का रास्ता है [यानी राजमार्ग चोर के काम का नहीं], अथवा राक्षस के लिए जैसे दिन का प्रकाश ही रात है, (२४) अथवा भाग्य-हीन के लिए गड़ा हुआ द्रव्य जैसे कोयले का ढेर बन जाता है, अथवा स्वयं विद्यमान रहते हुए भी जैसे कोई अपने को अविद्यमान समझ ले (२५) वैसे ही जितने धर्म-विषय हैं उतने सब, जिस बुद्धि को, पापरूप दिखाई देते हैं; सत्य को जो मिथ्या ही समझती है,

(२६) सम्पूर्ण शुद्ध अर्थों का जो विपरीत अर्थ करती है, जो-जो अच्छे गुण हैं उन्हें जो दोष ही मानती है, (२७) बहुत क्या, वेदों ने जिन विषयों को आश्रय दे मान्य किया है उन सबों को जो विपरीत ही समझती है (२८) उसे हे पाण्डुसुत! बिना किसी से पूछे तामसी बुद्धि समझना चाहिए। रात की सत्यता सिद्ध करने के लिए क्या धर्मशास्त्रों के अर्थ देखने की आवश्यकता होती है? (२९) इस प्रकार हे ज्ञानरूपी कमल के सूर्य! बुद्धि के तीनों भेद हम तुमसे विशद रीति से कह चुके। (७३०) अब इसी बुद्धिवृत्ति से जब कर्मों का निश्चय किया जाता है तब जिस धृति का उपक्रम होता है वह धृति भी त्रिविध है। (३१) उस धृति के भी तीनों विभागों का उनके लक्षणों-सहित वर्णन करते हैं, सुनो। (३२)

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

सूर्य का उदय होते ही जैसे चोरी और अन्धकार दोनों का अन्त हो जाता है, अथवा जैसे राजा की आज्ञा से बुरे कर्मों का प्रतिबन्ध हो जाता है, (३३) अथवा वायु का वेग तीव्र हो तो मेघ जैसे गर्जना करते और स्वयं अपना शरीर भी छोड़ देते हैं, (३४) अथवा अगस्त्य का दर्शन होते ही समुद्र जैसे चुप हो जाते हैं, अथवा चन्द्र का उदय होते ही कमल जैसे बन्द हो जाते हैं, (३५) अथवा सिंह यदि सन्मुख आ खड़ा हो तो मदोन्मत्त हाथी उठाया हुआ पाँव आगे नहीं रख सकता, (३६) वैसे ही अन्तःकरण में जिस धैर्य का उदय होने से मन इत्यादि अपने व्यापार फ़ौरन छोड़ देते हैं, (३७) और हे किरीटी! इन्द्रियों के और विषयों के सम्बन्ध आप ही आप छूट जाते हैं, दसों इन्द्रियाँ मनरूपी माता के पेट में समा जाती हैं, (३८) ऊर्ध्ववायु और अधोवायु का मार्ग बन्द कर प्राण नवों वायुओं की गठड़ी बाँध सुषुम्ना में कूद पड़ता है, (३९) और मन सङ्कल्प-विकल्प-रूपी आवरण छोड़ कर बुद्धि के पीछे चुपचाप जा बैठता है, (७४०) इस प्रकार जो धैर्यराज मन, प्राण और इन्द्रियों से उनके व्यापारों का समारम्भ छुड़वा देता है, (४१) और फिर उन सबों को अकेले रख योग की युक्ति से ध्यान के हृदयकमल में बन्द कर देता है, (४२) और जब तक वे परमात्मा-रूपी चक्रवर्ती को उसके हाथ बिना रिश्वत लिये न सौंप दें तब तक जो धैर्य उन्हें

पकड़े रहता है, (४३) वह धैर्य, श्रीलक्ष्मीकान्त अर्जुन से कहते हैं, केवल सात्विक धैर्य कहलाता है। (४४)

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

जो निज को शरीर समझ कर धर्म, अर्थ और काम-रूपी तीन उपायों से स्वर्ग और संसार दोनों घर रहता और पेट भरता है (४५) वह मनुष्य मनोरथरूपी समुद्र में धर्म, अर्थ और कामरूपी जहाजों के द्वारा जिस बल से युक्त हो व्यापार करता है, (४६) जिस धृति के बल से ऐसा साहस करता है कि जिस कर्म की पूँजी लगावे उसके चौगुने का लाभ उठाता है (४७) उसे हे पार्थ ! राजस धृति कहते हैं। अब तीसरी जो तामस है सो सुनो। (४८)

यया स्वप्नं भयंशोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

कोयला जैसे कालेपन का ही बनाया हुआ है वैसे ही जो सब अधम गुणों का ही रूप है, (४९)—यदि कोई कहे कि प्रकृत और निकृष्ट वस्तु भी क्या 'गुण' विशेषण के योग्य है, तो राक्षस भी क्या पुण्यजन नहीं कहलाता ? (७५०) ग्रहों में जो अग्निरूप है उसे जैसे मङ्गल कहते हैं वैसे ही साधारणतः तम को गुण शब्द लगाया गया है—(५१) हे उत्तम योद्धा ! जो सब दोषों के बसने का स्थान है, जिस मनुष्य की गठन तम को ही सिद्ध कर सङ्गठित हुई है (५२) वह आलस को काँख में ही दवाये रहता है। अतः जैसे पापों का पोषण करने से दुःख नहीं छोड़ते वैसे ही उसे कभी निद्रा नहीं छोड़ती। (५३) और पत्थर को जैसे कठिनता नहीं छोड़ सकती वैसे ही शरीर और धन के लोभ के कारण उसे भी भय नहीं छोड़ता। (५४) कृतघ्न मनुष्य से जैसे पाप दूर नहीं जा सकता वैसे ही वह तामसी मनुष्य, पदार्थ-मात्र से प्रीति होने के कारण, शोक का घर ही बन जाता है (५५) और वह रात-दिन हृदय में असन्तोष रखता है इसलिए विषाद उससे मित्रता करता है। (५६) लहसुन को जैसे दुर्गन्ध नहीं छोड़ती, अथवा अपथ्य करनेहारे को रोग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार विषाद उससे, उसके मरते दम तक; मित्रता रखता है। (५७) और वह अपने यौवन का,

अपने धन का और काम का घमण्ड रखता है इसलिए मद भी उसे अपना घर बना लेता है। (५८) उष्णता जैसे अग्नि को नहीं छोड़ती, ऊँची जाति का साँप जैसे वैर नहीं छोड़ता, अथवा भय जैसे सर्वदा सब जगत् से वैर रखता है, (५९) अथवा काल जैसे कभी शरीर को भूल नहीं सकता, वैसे ही मद भी तामसी मनुष्य में अटल बना रहता है। (७६०) इस प्रकार तामसी मनुष्य में निद्रा इत्यादि ये पाँचों दोष जिस धृति ने धारण किये हैं (६१) उस धृति का नाम—जगत् के देव श्रीकृष्ण कहते हैं—तामसी धृति है। (६२) यों त्रिविध बुद्धि के द्वारा प्रथम जो कर्म निश्चय किया जाता है वह इस धृति से सिद्ध होता है। (६३) सूर्य से मार्ग प्रकट होता है और पाँवों से उस मार्ग से, चलते हैं, पर जैसे चलने की क्रिया धैर्य के ही कारण होती है (६४) वैसे ही बुद्धि कर्म को प्रकट करती है और वह कर्म इन्द्रिय-सामग्री से किया जाता है, परन्तु उस क्रिया के लिए जो धैर्य आवश्यक है (६५) वही यह त्रिविध धृति है जिसका हमने अभी वर्णन किया। इस धृति से त्रिविध कर्मों की निष्पत्ति होने पर (६६) जो एक फल उत्पन्न होता है, जिसे कि सुख कहते हैं, वह भी कर्मानुसार त्रिविध हुआ है। (६७) अतः अब फलरूप जो सुख त्रिधा भिन्न है उसका हम उत्तम शब्दों से शुद्ध निरूपण करते हैं। (६८) वह शुद्धता ऐसी है कि शब्द के द्वारा उसके निरूपण का ग्रहण करने से कदाचित् कर्णरूपी हाथ का मल उसे लग जाय (६९) इसलिए उसे प्रेमयुक्त अन्तःकरण से [जिसका कि उपरोध करने से अवधान भी चला जाता है] श्रवण करना चाहिए। (७७०) ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने त्रिविध सुख के निरूपण का प्रस्ताव किया। उसी वृत्तान्त का हम वर्णन करते हैं। (७१)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं हे प्राज्ञ! त्रिविध सुख के लक्षण कहने की जो हमने प्रतिज्ञा की थी सो सुनो। (७२) हे किरीटी! सुख का रूप हम वह समझते हैं कि जो जीव को आत्मा की भेंट होने पर प्राप्त हो। (७३) जैसे दिव्य औषधि मात्रा-मात्रा के प्रमाण से ली जाती है, अथवा राँगे की चाँदी, कीमिया की वृत्ति से, पुटों पर पुट देकर बनाई जाती है, (७४) अथवा लवण का पानी करने के लिए जैसे

उसे दो-चार बार जल से धोना पड़ता है, (७५) वैसे ही थोड़ा-सा सुख हो तो बारबार वही अभ्यास करने से जहाँ जीव-दशा के दुःख का नाश हो जाता है (७६) वही आत्मसुख है। वह त्रिगुणात्मक है। अब हम उस एक-एक रूप का वर्णन करते हैं। (७७)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ॥३७॥

साँपों से वेष्टित होने के कारण जैसे चन्दन की जड़ भयानक होती है, अथवा गड़े हुए हण्डे का मुंह जैसे—उस पर रहनेहारे भूत के कारण—भयानक होता है, (७८) स्वर्ग जैसे सुन्दर होता है पर उसको पाने के लिए यज्ञरूपी सङ्कट आ पड़ते हैं [यानी यज्ञ किये जायँ तब कहीं स्वर्ग मिले] अथवा बालक ऊधम मचाता है अतः उसकी बाल्यावस्था पीड़ा-कारक जान पड़ती है, (७९) अथवा दीपक जलाने के पूर्व जैसे धुआँ अवघट जान पड़ता है,* अथवा मुँह पर रखते ही जैसे औषधि कड़ुवी लगती है, (७८०) वैसे ही हे पाण्डव! जिस सुख का आरम्भ दुःखद होता है, तथा जिसमें यम, दम इत्यादि साधना का समुदाय इकट्ठा करना पड़ता है, (८१) जिससे ऐसा वैराग्य उठता है कि जो सब विषय-प्रीति को चपेट लेता और स्वर्ग और संसाररूपी प्रतिबन्ध को निकाल फेंकता है, (८२) जिसमें विवेक का श्रवण, तथा तीव्र और कठोर व्रतों का आचरण करते-करते बुद्धि इत्यादि के लत्ते उड़ जाते हैं, (८३) जिसमें सुषुम्नारूपी मुँह में प्राण और अपान वायु के प्रवाह लील लिये जाते हैं, आरम्भ में ही जहाँ इतने भारी क्लेश हैं, (८४) सारस की जोड़ी को वियोग होने से, पन्हाई हुई गाय के पास से बछड़े को दूर खींचने से, मँगते को परोसी हुई थाली पर से भगाने से जैसा दुःख होता है, (८५) अथवा माता के सामने से मृत्यु यदि उसके एकलौते बालक को उठा ले जाय तो उसे अथवा जल से जुदा होने पर मीन को जैसे दुःख होता है (८६) वैसे ही जहाँ वैराग्ययुक्त वीर, इन्द्रियों को विषयों का घर छोड़ते हुए जो युगान्त-सा दुःख होता है उसे सहते हैं, (८७) इस प्रकार जिस सुख का आरम्भ कठिन और क्षोभकारक है परन्तु क्षीरसमुद्र से जैसे

---

* पुराने जमाने में चिराग जलाने के लिए आग जलानी पड़ती थी और आग जलाते समय आँखों को धुआँ लगता ही है।

अमृत का लाभ होता है (८८) वैसे ही यदि पहले वैराग्यरूपी विष के लिए धैर्यरूपी शङ्कर अपना कण्ठ आगे करें तो जहाँ ज्ञानरूपी अमृत का आनन्द दिखाई देता है, (८९) द्राक्षा के फलों की हरियाली तक्षक को भी हराती है पर पकने पर जैसे उसमें माधुर्य भर जाता है, (७९०) वैसे ही आत्म-प्रकाश के बल से वैराग्य इत्यादि का जब परिपाक होता है तब वैराग्य के सङ्ग अविद्या-समूह का नाश हो जाता है (९१) और फिर सागर में जैसे गङ्गा वैसे आत्मा मे बुद्धि के मिलने से आप ही आप अद्वयानन्द की खानि प्रकट होती है, (९२) इस प्रकार जिस सुख के मूल मे वैराग्य है और जो आत्मानुभवप्राप्तिरूपी परिणाम को प्राप्त होता है उसे सात्त्विक कहते हैं। (९३)

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

हे धनञ्जय ! विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो सुख दोनों तीरो पर से उभराने लगता है, (९४) जैसे किसी अधिकारी के नगर-प्रवेश का उत्सव अच्छा लगता है अथवा ऋण लेकर किया हुआ विवाह, करते समय, सुखकारी होता है, (९५) अथवा रोगी को मुँह पर रक्खा हुआ केला और शक्कर खाने मे मीठी लगती हैं, अथवा जैसे वचनाग की आरम्भ की मिठास भली लगती है, (९६) अथवा जैसे साहु-चोर की मित्रता प्रथम सुखदायक होती है, जैसे बाजार की वेश्या का आचरण प्रथम प्रिय मालूम होता है, जैसे बहुरूपिये के विचित्र खेलो से आनन्द होता है (९७) उसी प्रकार विषय और इन्द्रियों के संयोग मे जीव को प्रथम सुख होता है परन्तु फिर परिणाम वैसा ही दुखदायक है जैसे हंस चट्टान पर से बहते हुए पानी मे तारों के प्रतिबिम्ब को रत्न समझ कर कूदने पर फँस जाता है, (९८) इसी प्रकार सब पूर्व-सम्पादित लाभ की हानि हो जाती है, जीवन का ठाँव मिट जाता है और पुण्यरूपी धन को भी चोर लूट जाते हैं, (९९) और जो कुछ भोग भोग लिये हो वे स्वप्न के समान विलीन हो जाते हैं और केवल दुःख की राशि में लोटते रहना ही शेष रह जाता है। (८००) इस प्रकार जो सुख इस लोक मे विपरीतरूप परिणाम पाता है वह परलोक मे विषरूप हो प्रकट होता है। (१) क्योंकि इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण कर धर्मरूपी बगीचा जला कर विषयों के समारोह का जो भोग लिया

जाता है (२) उससे पापों का बल बढ़ता है और वे नरक में जा रहते हैं। जिस सुख से परलोक में ऐसा अपाय होता है (३) जैसे मधुर नामक विष, जो नाम से तो मधुर है पर परिणाम में अवश्य ही मारक होता है, वैसे ही जो सुख प्रथम मधुर पर अन्त में कटु होता है (४) वह सुख हे पार्थ! सचमुच रजोगुण का ही बना हुआ है। अतएव उसे कभी स्पर्श न करो। (५)

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अपेय वस्तु के पीने से, अखाद्य वस्तु के खाने से, और इच्छानुसार स्त्रीसङ्ग करने से जो सुख होता है, (६) अथवा दूसरों को मारने से या दूसरों का द्रव्य हर लेने से, अथवा भाटों के मुख से कीर्त्तिश्रवण करने से जो सुख उत्पन्न होता है, (७) जो आलस्य से पुष्ट होता है, जो निद्रा में दिखाई देता है, जिसके आरम्भ में तथा परिणाम में मनुष्य आत्मलाभ का मार्ग भूल जाते हैं (८) उस सुख को हे पार्थ! सर्वथा तामस जानो। इसका वर्णन विशेष नहीं बढ़ाते हैं क्योंकि वह निन्द्य ही है। (९) इस प्रकार मुख्य फल का सुख भी, जो कर्मभेद से त्रिधा हुआ है, हम तुमसे शास्त्रानुसार व्यक्त कर चुके। (८१०) तात्पर्य यह कि इस स्थूल या सूक्ष्मसृष्टि में केवल कर्त्ता, कर्म और फलरूपी त्रिपुटी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (११) और यह त्रिपुटी तो, हे किरीटी! पट जैसे तन्तुओं से बुना हुआ रहता है, वैसे तीन गुणों से बुनी हुई है। (१२)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

इसलिए स्वर्ग में या मृत्युलोक में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो सत्व इत्यादि से [जो प्रकृति का आभास है] सम्बद्ध न हो। (१३) ऊन के बिना कम्बल कैसे रह सकता है, मिट्टी के बिना ढेला कैसे रह सकता है, अथवा जल के बिना तरङ्ग कैसे हो सकती है? (१४) वैसे ही गुण के न होने पर सृष्टि का व्यापार करनेहारा कोई प्राणी है ही नहीं। (१५) अतः यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल तीनों गुणों की बनी हुई है। (१६) गुणों ने ही देवों की—ब्रह्मा, विष्णु और महेश-रूपी—त्रयी की है। गुणों से ही लोकों की, स्वर्ग, मृत्यु, और

पाताल-रूपी त्रिपुटी हुई है, और गुणों से ही चारों वर्णों के जुदे-जुदे कर्म नियत हुए हैं। (१७)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ये चारों वर्ण कौन से हैं? वही जिनमें कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, (१८) और दूसरे जो क्षत्रिय और वैश्य हैं वे भी ब्राह्मण के समान ही माने जाते हैं क्योंकि वे भी वैदिक क्रियाओं के लिए योग्य हैं। (१९) चौथे जो शूद्र हैं उन्हें हे धनञ्जय! वेदों का अधिकार नहीं है, तथापि उनकी उपजीविका अन्य तीनों वर्णों के अधीन होती। (८२०) उस सेवा-वृत्ति के सामर्थ्य से ही मानों ब्राह्मण इत्यादि तीन वर्णों की पंक्ति में शूद्र एक चौथा वर्ण हो गया है। (२१) जैसे फूलों के सङ्ग से श्रीमान् मनुष्य डोरा भी सूँघते हैं उसी प्रकार श्रुति, ब्राह्मण के सङ्ग के कारण, शूद्र का भी स्वीकार करती है (२२) ऐसी हे पार्थ! यह चतुर्वर्णव्यवस्था है। अब इनके कर्म मार्ग का स्पष्टीकरण करते हैं (२३) जिससे कि ये चारों वर्ण जन्ममृत्युरूपी सङ्कट से छूट कर ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट हो सकते हैं (२४) आत्मप्रकृति के सत्व इत्यादि तीन गुणों ने कर्मों के चार विभाग कर उन्हें चारों वर्णों में बाँट दिया है। (२५) जैसे पिता का सम्पादित किया हुआ धन बेटों में बाँटा जाय, अथवा सूर्य जैसे पथिकों को मार्ग बाँट दे, अथवा स्वामी जैसे अपने सेवकों को जुदे जुदे व्यापार बाँट दे, (२६) वैसे ही प्रकृति के गुणों ने इन चारों वर्णों में कर्मों का बँटवारा किया है। (२७) उनमें से सत्व ने अपने सम विषम भाग से ब्राह्मण और क्षत्रिय दो उत्तम वर्ण उत्पन्न किये, (२८) और सत्व मिश्रित रज से वैश्य उत्पन्न हुए और तमोमिश्रित रज से शूद्र उत्पन्न हुए। (२९) इस प्रकार हे प्रबुद्ध! इन गुणों ने एक ही प्राणिसमूह में चार वर्णों का भेद उत्पन्न किया है। (८३०) और अपना ही रक्खा हुआ धन जैसे दीपक के सहाय से रक्खा-रखाया दिखाई देता है वैसे ही शास्त्र-गुणानुसार भिन्न होनेहारे कर्मों को प्रकट करता है। (३१) अब वे वर्णविहित कर्म कौन कौन से हैं, उनके लक्षण क्या हैं सो कहते हैं। हे भाग्यवान्! सुनो (३२)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

प्रिया जैसे एकान्त में अपने पति से मिलती है वैसे ही जब सब इन्द्रिय-वृत्तियों को अपने हाथ में ले बुद्धि आत्मा से जा मिलती है, (३३) तब उसके इस प्रकार विराम पाने को शम कहते हैं। यह शम नामक गुण जिस कर्म के आरम्भ में है, (३४) और इन्द्रियों के समुदाय को विधिरूपी डण्डे से पीट कर कभी उसे अधर्म की ओर न जाने देनेहारा (३५) तथा शम को सहाय करनेहारा दम नामक गुण जिस कर्म में दूसरा है, तथा तप नामक गुण [स्वधर्म का आचरण कर जीवन रखना, (३६) तथा जन्म-दिन से छठी रात को जैसे दिया न बुझने देना चाहिए, वैसे ही सदा अन्तःकरण में ईश्वर का विचार करना (३७) तप कहलाता है] जिस कर्म में तीसरा है, और शौच [जहाँ दो प्रकार की पापरहित शुचिता है (३८) अर्थात् मन निर्मल विचारों से भरा है और शरीर सत्कर्मों से अलङ्कृत हो रहा है, इस प्रकार जीवन का जो अन्तर्बाह्य उत्तम होना है (३९) उसे हे पार्थ! शौच कहते हैं] जिस कर्म में चौथा गुण है और क्षमा [पृथ्वी के समान सब प्रकार से सब कुछ सहना हो (८४०) हे पाण्डव! क्षमा कहाता है] गुण जिस कर्म में पाँचवाँ है, [स्वरों में जैसा पञ्चम स्वर मधुर होता है वैसा ही यह पाँचवाँ गुण है] (४१) और ऋजुता [प्रवाह टेढ़ा बहता हो तथापि गङ्गा सरल ही है, अथवा ईख टेढ़ा-मेढ़ा झुका हुआ हो तथापि उसकी मधुरता समान ही रहती है (४२) वैसे ही दुःखद प्राणियों से भी भली भाँति सरल रहना ऋजुता है] जिस कर्म का छठा गुण है, और ज्ञान (४३) [जैसे माली प्रयत्न कर वृक्षों की जड़ों में पानी डालने में अथक श्रम करता है परन्तु वे सब श्रम फल-दायक होते हैं (४४) वैसे ही शास्त्र के अनुसार आचरण करने पर एक ईश्वर की ही प्राप्ति होने की बात निश्चय से जानना ही ज्ञान है] (४५) जिस कर्म का सातवाँ गुण है और गुणरत्न विज्ञान (४६) [सत्वशुद्धि के समय, शास्त्र के विचार-द्वारा, अथवा ध्यान के बल से, निश्चयात्मिका बुद्धि ईश्वरतत्त्व से मिल जाय (४७) उसे उत्तम विज्ञान कहते हैं] जिस कर्म में आठवाँ है और आस्तिक्य (४८) राजा की मुहर जिसके हाथ है वह कोई हो, प्रजा उसका आदर करती है, वैसे ही

जिस मार्ग का शास्त्रों ने स्वीकार किया है (४९) उसको आदर से मानना ही आस्तिक्य है [जिससे कि कर्म चरितार्थ होता है] जिसका नवाँ गुण है; (८५०) इस प्रकार जिस कर्म में ये शम इत्यादि नवों गुण निर्दोष हैं उसी को ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म समझो। (५१) ब्राह्मण इन नौ गुणरत्नों का समुद्र होता हुआ, इन नौ रत्नों का हार कभी जुदा न करके पहने ही रहता है। प्रकाश अलग न करके जैसे सूर्य उससे अलङ्कृत रहता है, (५२) अथवा चम्पा का वृक्ष जैसे चम्पा के फूल से सुशोभित रहता है, अथवा चन्द्रमा जैसे अपनी चाँदनी से प्रकाशित रहता है, अथवा चन्दन अपनी ही सुगन्ध से चर्चित रहता है, (५३) वैसे ही इन नौ गुणों से जड़ा हुआ हार ब्राह्मण का निर्दोष अलङ्कार है। वह कभी ब्राह्मण के शरीर से जुदा नहीं होता। (५४) अब हे धनञ्जय! क्षत्रिय को जो कर्म उचित है उसका वर्णन करते हैं, खूब ध्यान से सुनो। (५५)

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

तेज के लिए जैसे सूर्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता, अथवा जैसे सिंह कोई दूसरा सहकारी नहीं खोजता (५६) वैसे ही स्वयं आप ही बलवान् होना, किसी की सहायता बिना ही शूर होना, यह जिसमें पहला गुण है,—(५७) और जैसे सूर्य के प्रताप से करोड़ों तारे लुप्त हो जाते हैं, सूर्य न रहे तो चन्द्र और तारों का लोप नहीं होता, (५८) वैसे ही अपने बलिष्ठ गुण से संसार को आश्चर्य चकित करना और स्वयं किसी वस्तु से क्षुब्ध न होना ऐसा (५९) जो तेज का प्रगल्भरूप है वह जिस कर्म का दूसरा गुण है— और धैर्य जिसका तीसरा गुण है, (८६०) [यहाँ धैर्य उसे समझो कि जिसके ऊपर यदि आकाश भी आ गिरे तथापि मनरूपी बुद्धि के नेत्र जरा भी न मिचें] (६१) और जैसे पानी चाहे जितना हो पर कमल उसके ऊपर ही जा फूलता है, अथवा ऊँचाई में जैसे आकाश ने प्रत्येक वस्तु को जीत लिया है, (६२) वैसे ही हे पार्थ! अनेक अवस्थाएँ उपस्थित होने हुए उन्हें बुद्धि से जीत कर फलरूप अर्थ में प्रवेश करना (६३) यह जो शुद्ध दक्षता है सो जिस कर्म का चौथा गुण है,— और असाधारण युद्ध करना जिसका पाँचवाँ गुण है, (६४) सूर्यमुखी

के फूल जैसे सदा सूर्य के सन्मुख ही रहते हैं वैसे ही सदा शत्रु के सन्मुख रहना, (६५) गर्भवती स्त्री का समागम जैसे प्रयत्न के साथ टालना चाहिए वैसे ही युद्ध के समय शत्रु को पीठ न दिखाना (६६) यह क्षत्रियों के कर्म का पाँचवाँ और सबसे श्रेष्ठ गुण है, जैसे कि चारों पुरुषार्थों में भक्ति ही श्रेष्ठ है,—(६७) और वृक्ष की शाखा जैसे निज से उत्पन्न हुए फूल और फल दे देती है, अथवा कमलों का सरोवर जैसे सुगन्ध के विषय में उदार रहता है, (६८) अथवा जैसे हर कोई चाहे जितनी चाँदनी ले सकता है, वैसे ही दूसरे के सङ्कल्प के अनुसार देना. (६९) ऐसा अपरिमित दान जिस कर्म का छठा गुण रत्न है,—और वेदाज्ञा का एकनिष्ठता से पालन करना (८७०) जैसे अपने अवयवों का पोषण करने से ही उनके द्वारा अपने इच्छानुसार कर्म कर सकते हैं, वैसे ही केवल वेदाज्ञा पालन करने के लोभ से जगत् का उपभोग लेना (७१) ईश्वर-भाव कहाता है जो कि सब सामर्थ्य का घर है; यह गुणों का राजा जिस कर्म में सातवाँ है,—(७२) ऐसा जो कर्म इन शौर्य इत्यादि सात गुण विशेषों से अलंकृत है; जैसे सप्त ऋषियों से आकाश (७३) वैसे ही जो कर्म इन सात गुणों से चित्रित है, तथा जो जगत् में पवित्र समझा जाता है, वह क्षात्र नामक क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। (७४) अथवा वह पुरुष क्षत्रिय नहीं, वह सत्वरूपी सुवर्ण का मेरु ही है, अतः वह इन सात गुणरूपी स्वर्ग का आधार है; (७५) अथवा वह इन सप्त गुणों से युक्त कर्म नहीं करता, मानों सप्तगुणरूपी समुद्रों से वेष्टित पृथ्वी के राज्य का ही उपभोग लेता है; (७६) अथवा उसकी क्रिया संसार में मानों सात गुणरूपी प्रवाहों में बहती हुई गङ्गा है और वह स्वयं महासागर है जिसमें वह गङ्गा शोभा दे रही है। (७७) परन्तु यह सब जाने दो। तात्पर्य यह कि शौर्य इत्यादि गुणात्मक कर्म क्षत्र-जाति का स्वाभाविक कर्म है। (७८) अब हे महामते। वैश्य-जाति का जो उचित कर्म है उसका भी यथार्थ वर्णन करते हैं, सुनो। (७९)

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

भूमि, बीज, हल इत्यादि पूँजी के आधार पर अपार लाभ प्राप्त करना, (८८०) किंबहुना, खेती पर उपजीविका चलाना, गायें रखने

का उद्यम करना, अथवा सस्ते मोल में ली हुई वस्तु महँगे भाव से बेचना, (८१) हे पाण्डव ! इतना ही वैश्य का कर्म-समुदाय है। यह वैश्य जाति का स्वाभाविक कर्म है। (८२) और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण ये जो तीनों द्विज वर्ण [अर्थात् दो जन्मवाले, एक सामान्य जन्म जिसे शौक्ल कहते हैं और दूसरा उपनयन के समय सावित्री मन्त्र के उपदेश से माना हुआ जन्म जिसे सावित्र कहते हैं] हैं उनकी सेवा करना शूद्र-कर्म है। (८३) द्विजों की सेवा के अतिरिक्त शूद्रों का दूसरा कर्म ही नहीं है। अब यह चारों वर्णों के उचित कर्मों का निरूपण हो चुका। (८४)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

हे ज्ञानी ! इन जुदे-जुदे वर्णों के लिए यही कर्म उचित हैं। जैसे जुदी-जुदी इन्द्रियों के लिए शब्द आदि विषय योग्य हैं, (८५) अथवा हे पाण्डुसुत ! मेघों से गिरे हुए जल के लिए नदी, और नदी के लिए समुद्र ही उचित है, (८६) उसी प्रकार वर्णाश्रम के अनुरूप जो कर्तव्य गोरे मनुष्य के गोरेपन के समान स्वभावतः प्राप्त हुआ हो, (८७) उस स्वभाव-विहित कर्म का शास्त्राज्ञानुसार आचरण करने के लिए हे वीरोत्तम ! अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए। (८८) जैसे रत्न अपना ही हो परन्तु परखैये के हाथ से परखा लिया जाता है वैसे ही स्वकर्म भी शास्त्र के द्वारा अवगत करना चाहिए। (८९) जैसे अपने पास दृष्टि रहती है पर दीपक के बिना उसका उपभोग नहीं लिया जा सकता, अथवा रास्ता ही न मिला हो तो पाँव होने से ही क्या उपयोग हो सकता है ? (९०) वैसे ही जाति के अनुसार जो अपना स्वाभाविक अधिकार हो उसे अपने शास्त्र से प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए (९१) फिर जैसे घर में ही द्रव्य रक्खा हुआ हो और वह दीपक के द्वारा दिखाई दे तो हे पाण्डव ! उसकी प्राप्ति में क्या प्रतिबन्ध हो सकता है ? (९२) वैसे ही जो स्वभावतः अपने बाँटे में आया है और शास्त्र से भी जिसकी प्रतीति होती है वह विहित कर्म जो करता है, (९३) तथा आलस्य को छोड़ फल की आशा का त्याग कर शरीर से और मन से जो उसी कर्म का आदर करता है, (९४) प्रवाह का जल जैसे इधर-उधर बहना नहीं जानता वैसे ही जो उस

कर्म के आचरण में ठीक प्रबन्ध से रहता है, (९५) हे अर्जुन ! इस प्रकार जो स्वयं विहित-कर्म करता है वह मोक्ष के इस पार तक पहुँच जाता है। (९६) क्योंकि वह अकर्तव्य और निषिद्ध कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिए मोक्ष के विपरीत जो संसार है सो उससे छूट जाता है, (९७) और बेड़ी चन्दन की बनी हो तथापि जैसे उसका कोई स्वीकार नहीं करता वैसे ही काम्य कर्म की ओर वह कुतूहल से भी नहीं फिरता। (९८) और नित्य कर्म तो वह सब फलत्याग द्वारा छोड़ ही चुकता है इसलिए वह मोक्ष की सीमा प्राप्त कर सकता है। (९९) इस प्रकार वह शुभ और अशुभ संसार से मुक्त हुआ पुरुष वैराग्य-रूपी मोक्ष के द्वार में जा खड़ा होता है। (६००) जो सकल भाग्य की सीमा है, मोक्ष-लाभ का निश्चय है, अथवा कर्म-मार्ग के श्रमों का जहाँ अन्त हो जाता है, (१) जो मानों मोक्ष-फल का रक्खा हुआ रहन है, जो सत्कर्मरूपी वृक्ष का फूल है, उस वैराग्यपद पर वह पुरुष भ्रमर की तरह पाँव रखता है। (२) और देखो, वह आत्मज्ञानरूपी सूर्य के उदय की सूचना देनेहारे अरुणोदयरूपी वैराग्य की प्राप्ति कर लेता है। (३) बहुत क्या कहें, वह पुरुष मानों वैराग्यरूपी एक दिव्याञ्जन ही लगा लेता है जिससे आत्मज्ञानरूपी गड़ा हुआ धन उसके हाथ लग जाता है। (४) इस प्रकार हे पाण्डुसुत ! उस मनुष्य को विहित कर्म के आचरण से मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो जाती है। (५) हे पाण्डव ! यह विहित कर्म अपना एक ही आधार है, और इसका आचरण करना ही मुझ सर्वात्मक ईश्वर की परम सेवा है। (६) सम्पूर्ण उपभोगों-सहित जैसे पतिव्रता अपने प्रिय पति के सङ्ग क्रीड़ा करे तो उसके लिए वही उसका तप है (७) अथवा बालक को एक माता के अतिरिक्त जीवन के लिए कौनसी वस्तु है ? अतः उसकी सेवा करना ही उसका श्रेष्ठ धर्म है; (८) अथवा गङ्गा में जल है यह जान कर मछली जैसे गङ्गा को न छोड़कर सब तीर्थों के सहवास का लाभ प्राप्त करती है, (९) वैसे ही यदि विहित कर्म इस बुद्धि से किया जाय कि उसे छोड़ दूसरा उपाय ही नहीं है तो ईश्वर पर उसका बोझ पड़ता है। (९१०) जिसका जो विहित कर्म है वही उसे करना चाहिए। यह ईश्वर की इच्छा है, अतः उस कर्म का आचरण करने से निःसन्देह उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है। (११) हृदय-रूपी कसौटी

की जाँच से जो उत्तम पाई जाती है वह दासी भी हो तथापि स्वामिनी बन जाती है, इस प्रकार उस दासी की सेवा विवाह में परिणत हो जाती है। (१२) अब स्वामी के इच्छानुसार आचरण करने में भूल न करना ही उसकी परम सेवा है। हे पाण्डव! इसके अतिरिक्त आचरण करना वाणिज्य है। (१३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अतएव विहित कर्म करना कर्म करना नहीं, उस परमात्मा का मनोगत पालना है जिससे कि सब भूतमात्र उत्पन्न हुए हैं, (१४) जो जीवरूपी गुड़िया को अविद्या रूपी चिन्धियाँ लपेट कर सत्व, रज और तम रूपी तीन लड़ों की अहङ्कार रूपी डोरी में नचाता है, (१५) और जो इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्बाह्य इस प्रकार भरा हुआ है जैसा कि दीपक तेज से भरा हुआ रहता है। (१६) हे वीर! विहित कर्म करना उस सर्वात्मक ईश्वर के अपार सन्तोष के हेतु उसकी स्वकर्मरूपी फूलों से पूजा करना ही है। (१७) अब वह आत्मराज उस पूजा से सन्तुष्ट हो उस पुरुष को वैराग्य सिद्धि का प्रसाद देता है। (१८) जिस वैराग्य-दशा में ईश्वर की ही धुन लग जाने के कारण अन्य सब विषय ऐसे अप्रिय हो जाते हैं मानों वमन किया हुआ अन्न हो। (१९) और जैसे प्राणनाथ की चिन्ता से विरहिन स्त्री का जीते रहना भी दुःखद होता है, वैसे ही उस पुरुष को सम्पूर्ण सुख दुःख ही जान पड़ते हैं। (९२०) और वह मनुष्य ज्ञान की ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि उसे अपरोक्ष अनुभव होने के पूर्व ही केवल चिन्तन से ही तन्मयता हो जाती है। (२१) इसलिए मोक्ष का लाभ प्राप्त करने की जो मनुष्य इच्छा करता हो उसे स्वधर्म का आचरण उत्तम आस्थापूर्वक करना चाहिए। (२२)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अजी! अपना धर्म यद्यपि आचरण में कठिन हो तथापि परिणाम में जो फल होनेवाला है उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। (२३) हे धनञ्जय! यदि अपने सुख के लिए नीम ही उपयोगी है तो उसकी कड़वाहट से उकताना नहीं चाहिए। (२४) फलने के पूर्व

केले के वृक्ष को देखकर निराशा-सी होती है, पर उसी समय उसका त्याग कर देने से उसके मधुर फल कैसे मिलेंगे? (२५) उसी प्रकार स्वधर्म को कठिन जान कर दूर कर दिया जाय तो मनुष्य मोक्ष-सुख से वञ्चित रहेगा। (२६) अपनी माता यद्यपि कुब्जा हो तथापि जो प्रेम अपना जीवन है उसका वह प्रेम कुछ टेढ़ा नहीं है? (२७) अन्य जो रम्भा से भी सुन्दर स्त्रियाँ हैं उनसे बालक को क्या मतलब? (२८) अजी! जल की अपेक्षा घी में निश्चय से बहुतेरे गुण हैं, तथापि मछली क्या घी में रह सकती है? (२९) सम्पूर्ण जगत् के लिए जो विष है वही विष कीड़े के लिए अमृत है, और जगत् के लिए जो मधुर है वही वस्तु उस कीड़े के लिए मृत्युकारक होती है। (९३०) अतएव जिसके लिए जो कर्म विहित है [जिससे कि संसार का धरना छूटे,] वह कर्म यद्यपि कठिन हो तथापि उसे उसी का आचरण करना चाहिए। (३१) दूसरों के आचार का आश्रय करने से ऐसा हाल होगा जैसे कि पाँवों से चलने की क्रिया सिर से की जाय। (३२) इसलिए अपने जातिस्वभाव के अनुसार जो कर्म प्राप्त हो वही करो। उससे कर्म-बन्धन टूटेगा। (३३) और हे पाण्डव! यदि यह नियम न किया जाय कि स्वधर्म का पालन करना चाहिए और परधर्म का त्याग करना चाहिए (३४) तो जब तक आत्मा की प्रतीति नहीं होती तब तक कर्म करना क्या बन्द हो सकता है? और जहाँ कर्म है तहाँ उसके आचरण के कष्ट पहले हैं। (३५)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

और फिर यदि हर किसी कर्म के आरम्भ में कष्ट होते हैं तो स्वधर्म में ही क्या दोष है कहो? (३६) अजी! सीधे रास्ते से चलने से पाँवों को श्रम करना पड़ता है और आड़े-टेढ़े जङ्गली रास्ते से दौड़ने में भी उन्हीं को श्रम होता है। (३७) पत्थर बाँध ले जाओ अथवा कलेवा बाँध ले जाओ; बोझ दोनों वस्तुओं का पड़ता है, परन्तु जो विश्राम के लिए उपयोगी है वही वस्तु ले जानी चाहिए। (३८) धान्य तथा भुस के कूटने में समान ही श्रम होता है, पकाने का श्रम जितना कुत्ते के मांस के लिए होता है उतना ही हवि के लिए

भी होता है। (३९) हे ज्ञानी! दही हो या जल हो, मन्थन का श्रम दोनों में समान होता है। कोल्हू में तिली डाली जाय या रेत, दोनों वस्तुएँ समान ही पेली जाती हैं। (९४०) नित्य होम के लिए हो अथवा और किसी काम के लिए, आग सुलगाने के समय धुआँ सहने का कष्ट समान ही होता है (४१) धर्मपत्नी हो अथवा कोई व्यभिचारिणी स्त्री, दोनों के रखने में समान ही खर्च होता है, तो फिर धर्मपत्नी को छोड़ दूसरी स्त्री रखने की अपकीर्ति क्यों लेनी चाहिए? (४२) पीठ पर घाव लगने से यदि मृत्यु नहीं टलती तो शत्रु के घाव से मरना क्या अधिक कीर्तिकारक नहीं है? (४३) कुल-स्त्री दूसरे के घर में घुसे और फिर भी डण्डे की मार सहती रहे, तो उसने अपने पति को वृथा ही छोड़ दिया, (४४) वैसे, चाहे जो कर्म हो, यदि यह श्रम किये विना नहीं हो सकता तो यह क्योंकर कहा जा सकता है कि विहित कर्म ही कठिन है? (४५) और हे पाण्डुसुत। जिससे जीवन को अविनाशिता का लाभ होता है वह अमृत थोड़ा सा भी लेने के लिए यदि सर्वस्व खर्च हो जाय तो कुछ हानि नहीं। (४६) पर जिस विष से मृत्यु प्राप्त होती है और आत्म-हत्या का दोष लगता है उसे मोल लेकर क्यों पीना चाहिए? (४७) वैसे ही, इन्द्रियों को कष्ट दे सम्पूर्ण आयुष्य के दिन खर्च कर पापों का आचरण करने से दुःख के अतिरिक्त और क्या प्राप्त होना है? (४८) इसलिए स्वधर्म का अचरण [जो श्रम का परिहार करता है और उचित और श्रेष्ठ पुरुषार्थों के राजा मोक्ष को प्राप्त करा देता है] करना चाहिए। (४९) अतएव हे किरीटी! सङ्कट के समय जैसे सिद्धमन्त्र को न भूलना चाहिए; वैसे ही स्वधर्माचरण कभी न छोड़ना चाहिए; (९५०) अथवा समुद्र में जैसे नाव का त्याग न करना चाहिए; महारोग में जैसे दिव्य ओषधि को न त्यागना चाहिए, उसी प्रकार संसार में स्वकर्म न छोड़ना चाहिए। (५१) क्योंकि हे कपिध्वज! स्वकर्म करते रहने से ईश्वर स्वकर्म की महापूजा से सन्तुष्ट हो रज और तम को झड़ा कर (५२) अपनी वासना को सत्व के मार्ग पर ले आता है और यह प्रतीत करा देता है कि संसार और स्वर्ग दोनों कालकूट विष हैं; (५३) अधिक क्या कहें, पहले हमने वैराग्य नाम दे जिस संसिद्धि का वर्णन किया था वही पद प्राप्त करा देता है। (५४) अब यह भूमिका हस्तगत

कर लेने पर पुरुष सर्वत्र किस प्रकार रहता है, और पूर्ण होता हुआ क्या प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं। (५५)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥४९॥

जाली में जैसे वायु नहीं बाँधी जा सकती वैसे ही संसार में जो देह आदि जाल फैलाया है उसमें वह पुरुष नहीं उलझता। (५६) परिपाक के समय डण्ठल फल को नहीं सँभाल सकता अथवा फल जैसे डण्ठल को पकड़े नहीं रह सकता, वैसे ही उस पुरुष की आसक्ति सब विषयों के विषय में निर्बल हो जाती है। (५७) पुत्र, धन या कलत्र उसके अधीन हों तथापि जैसे कोई विष के पात्र का स्वामित्व स्वीकार नहीं करता वैसे ही वह उन्हें भी अपने नहीं कहता। (५८) इतना ही नहीं वरन् जैसे कोई हाथ के जलते ही उसे पीछे खींच लेता है वैसे ही वह बुद्धि को विषय-मात्र से पीछे पलटा कर हृदय के एकान्त में प्रवेश करता है। (५९) इस प्रकार, स्वामी के भय से जैसे दासी उसकी आज्ञा का अनादर नहीं करती वैसे ही उसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के विषय में उसकी शपथ नहीं तोड़ता, (९६०) तथा वह अपने चित्त की एकता को मुट्ठी में दे उसे आत्मा का चसका लगा देता है। (६१) उस समय, अग्नि को राख में दाब देने से जैसे धुआँ बन्द हो जाता है वैसे ही उसको इस लोक की और परलोक की इच्छा आप ही आप बन्द हो जाती है। (६२) इसी प्रकार मन का नियमन करने से वासना अपने आप नष्ट हो जाती है। बहुत क्या कहें, उसे उक्त भूमिका (स्टेज) प्राप्त होती है। (६३) हे पाण्डव! उसका सम्पूर्ण विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता तथा उसका अन्तःकरण केवल ज्ञान का ही आश्रय लेता है। (६४) जमा किया हुआ पानी जैसे खर्च करते-करते समाप्त हो जाता है वैसे ही वह प्रारब्ध का भोग भोगता रहता है और नया कर्म तो वह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। (६५) कर्म करने से जब इस प्रकार साम्य दशा हो जाती है तब हे वीरेश! उसे श्रीगुरु आप ही आप आ मिलते हैं। (६६) रात के चार पहर जाते ही जैसे नेत्रों को सूर्य का दर्शन होता है, (६७) अथवा फल आते ही जैसे केले के पेड़ की बाढ़ बन्द हो जाती है, वही बात मुमुक्षु को श्रीगुरु की भेंट होने पर होती है। (६८) चन्द्रमा जैसे

भी होता है। (३९) हे ज्ञानी ! दही हो या जल हो, मन्थन का श्रम दोनों में समान होता है। कोल्हू में तिली डाली जाय या रेत, दोनों वस्तुएँ समान ही पेली जाती हैं। (९४०) नित्य होम के लिए हो अथवा और किसी काम के लिए, आग सुलगाने के समय धुआँ सहने का कष्ट समान ही होता है (४१) धर्मपत्नी हो अथवा कोई व्यभिचारिणी स्त्री, दोनों के रखने में समान ही खर्च होता है, तो फिर धर्मपत्नी को छोड़ दूसरी स्त्री रखने की अपकीर्ति क्यों लेनी चाहिए ? (४२) पीठ पर घाव लगने से यदि मृत्यु नहीं टलती तो शत्रु के घाव से मरना क्या अधिक कीर्तिकारक नहीं है ? (४३) कुल-स्त्री दूसरे के घर में घुसे और फिर भी डण्डे की मार सहती रहे, तो उसने अपने पति को वृथा ही छोड़ दिया, (४४) वैसे, चाहे जो कर्म हो, यदि यह श्रम किये बिना नहीं हो सकता तो यह क्योंकर कहा जा सकता है कि विहित कर्म ही कठिन है ? (४५) और हे पाण्डुसुत ! जिससे जीवन को अविनाशिता का लाभ होता है वह अमृत थोड़ा सा भी लेने के लिए यदि सर्वस्व खर्च हो जाय तो कुछ हानि नहीं। (४६) पर जिस विष से मृत्यु प्राप्त होती है और आत्म-हत्या का दोष लगता है उसे मोल लेकर क्यों पीना चाहिए ? (४७) वैसे ही, इन्द्रियों को कष्ट दे सम्पूर्ण आयुष्य के दिन खर्च कर पापों का आचरण करने से दुःख के अतिरिक्त और क्या प्राप्त होता है ? (४८) इसलिए स्वधर्म का आचरण [जो श्रम का परिहार करता है और उचित और श्रेष्ठ पुरुषार्थों के राजा मोक्ष को प्राप्त करा देता है] करना चाहिए। (४९) अतएव हे किरीटी ! सङ्कट के समय जैसे सिद्धमन्त्र को न भूलना चाहिए; वैसे ही स्वधर्माचरण कभी न छोड़ना चाहिए, (९५०) अथवा समुद्र में जैसे नाव का त्याग न करना चाहिए; महारोग में जैसे दिव्य ओषधि को न त्यागना चाहिए, उसी प्रकार संसार में स्वकर्म न छोड़ना चाहिए। (५१) क्योंकि हे कपिध्वज ! स्वकर्म करते रहने से ईश्वर स्वकर्म की महापूजा से सन्तुष्ट हो रज और तम को झड़ा कर (५२) अपनी वासना को सत्व के मार्ग पर ले आता है और यह प्रतीत करा देता है कि संसार और स्वर्ग दोनों कालकूट विष हैं, (५३) अधिक क्या कहें, पहले हमने वैराग्य नाम दे जिस संसिद्ध का वर्णन किया था वही पद प्राप्त करा देता है। (५४) अब यह भूमिका हस्तगत

कर लेने पर पुरुष सर्वत्र किस प्रकार रहता है, और पूर्ण होता हुआ क्या प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं। (५५)

> असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
> नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥४९॥

जाली में जैसे वायु नहीं बाँधी जा सकती वैसे ही संसार में जो देह आदि जाल फैलाया है उसमें वह पुरुष नहीं उलझता। (५६) परिपाक के समय डण्ठल फल को नहीं सँभाल सकता अथवा फल जैसे डण्ठल को पकड़े नहीं रह सकता, वैसे ही उस पुरुष की आसक्ति सब विषयों के विषय में निर्बल हो जाती है। (५७) पुत्र, धन या कलत्र उसके अधीन हो तथापि जैसे कोई विष के पात्र का स्वामित्व स्वीकार नहीं करता वैसे ही वह उन्हें भी अपने नहीं कहता। (५८) इतना ही नहीं वरन् जैसे कोई हाथ के जलते ही उसे पीछे खींच लेता है वैसे ही वह बुद्धि को विषय-मात्र से पीछे पलटा कर हृदय के एकान्त में प्रवेश करता है। (५९) इस प्रकार, स्वामी के भय से जैसे दासी उसकी आज्ञा का अनादर नहीं करती वैसे ही उसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के विषय में उसकी शपथ नहीं तोड़ता, (९६०) तथा वह अपने चित्त को एकता की मुट्ठी में दे उसे आत्मा का चसका लगा देता है। (६१) उस समय, अग्नि को राख में दाब देने से जैसे धुआँ बन्द हो जाता है वैसे ही उसको इस लोक की और परलोक की इच्छा आप ही आप बन्द हो जाती है। (६२) इसी प्रकार मन का नियमन करने से वासना अपने आप नष्ट हो जाती है। बहुत क्या कहें, उसे उक्त भूमिका (स्टेज) प्राप्त होती है। (६३) हे पाण्डव! उसका सम्पूर्ण विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता तथा उसका अन्तःकरण केवल ज्ञान का ही आश्रय लेता है। (६४) जमा किया हुआ पानी जैसे खर्च करते-करते समाप्त हो जाता है वैसे ही वह प्रारब्ध का भोग भोगता रहता है और नया कर्म तो वह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। (६५) कर्म करने से जब इस प्रकार साम्य दशा हो जाती है तब हे वीरेश! उसे श्रीगुरु आप ही आप आ मिलते हैं। (६६) रात के चार पहर जाते ही जैसे नेत्रों को सूर्य का दर्शन होता है, (६७) अथवा फल आते ही जैसे केले के पेड़ की बाढ़ बन्द हो जाती है, वही बात मुमुक्षु को श्रीगुरु की भेंट होने पर होती है। (६८) चन्द्रमा जैसे

पूर्णमासी की भेंट होते ही अपनी न्यूनता छोड़ देता है वही स्थिति हे वीरोत्तम! गुरु-कृपा के बल उसकी हो जाती है। (६९) फिर जितना अज्ञान हो सब गुरु-कृपा से नष्ट हो जाता है, तथा रात्रि के सङ्ग जैसे अन्धकार का भी नाश हो जाता है। (९७०) वैसे ही अज्ञान के पेट में जो कर्म, कर्त्ता और कार्य-रूपी त्रिपुटी रहती है वह मानों गर्भिणी अवस्था में ही नष्ट हो जाती है। (७१) इस प्रकार अज्ञान के नाश के साथ सम्पूर्ण कर्म का नाश हो जाता है। अर्थात् मूल के साथ कर्म का त्याग करने से संन्यास सिद्ध होता है। (७२) इस मूल अज्ञान का संन्यास करने पर मनुष्य जहाँ देखे वहाँ स्वयं अपना ही स्वरूप देखता है। (७३) स्वप्न में यदि हम दह में गिरते हैं तो जाग पड़ने पर क्या हमें उस दह में से निकालना पड़ता है? (७४) वैसे ही उस मनुष्य का 'मैं अज्ञानी हूँ,' 'मैं अब सीखता हूँ' आदि दुःस्वप्न बन्द हो जाता है, और वह ज्ञाता या ज्ञेय के परे जाकर चिदाकार हो जाता है। (९५) हे वीरेश! जैसे दर्पण को मुख के प्रतिबिम्ब-सहित अलग करने से देखनेहारा बिना देखे ही रह जाता है (७६) वैसे ही अज्ञान चला जाता है तो उसके साथ ज्ञान भी नहीं रहता और फिर क्रिया-रहित ज्ञानस्वरूप ही शेष रह जाता है। (७७) उसकी स्वभावतः कोई क्रिया नहीं रहती इसलिए उसका नाम निष्क्रिय है। (७८) वह स्वयं भी अपना स्वरूप है, तथापि वह भी मिथ्या ही विलीन हो जाता है, जैसे वायु के बन्द होते ही तरङ्ग विलीन हो केवल समुद्र ही रह जाता है। (७९) इस प्रकार जो निष्कर्मता उत्पन्न होती है वही नैष्कर्म्यसिद्धि जानो। सब सिद्धियों में स्वभावतः श्रेष्ठ यही है। (९८०) मन्दिर के काम में जैसे कलश श्रेष्ठ है, गङ्गा के लिए जैसे समुद्र-प्रवेश श्रेष्ठ है, अथवा सुवर्ण-शुद्धि के विषय में जैसे सोलहवाँ कस श्रेष्ठ है, (८१) वैसे ही ज्ञान से अपना अज्ञान मिटा देना और फिर उस ज्ञान को भी लील बैठना—ऐसी दशा के (८२) अतिरिक्त और कुछ निष्पन्न नहीं हो सकता इसलिए उस दशा को परम सिद्धि कहते हैं। (८३) परन्तु जिस भाग्यवान् को श्रीगुरु कृपा-प्राप्ति-पूर्वक आत्मसिद्धि प्राप्त हो जाय उसे (८४)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

—सूर्य का उदय होते ही जैसे अन्धकार प्रकाशरूप हो जाता है, अथवा दीपक के संसर्ग से कपूर भी दीपरूप हो जाता है, (८५) लवण का कण जैसे जल में मिलते ही जलरूप हो रहता है, (८६) अथवा जगा देने पर जैसे सोये हुए मनुष्य की नींद का नाश स्वप्न-सहित हो जाता है और वह जैसे अपनी स्थिति को आ पहुँचता है, (८७) वैसे ही जिस किसी के भाग्य से गुरु-वाक्य-श्रवण के साथ ही द्वैत का नाश हो वृत्ति आप ही आप विश्राम पा जाती है (८८) उसे फिर कर्म करना शेष रह जाता है, यह कौन कह सकता है? आकाश क्या कहीं आता-जाता है? (८९) उसका निश्चय से कोई कर्तव्य नहीं रहता। परन्तु जिस किसी की ऐसी स्थिति नहीं होती (९९०) कि श्रवणों पर उपदेश-वचन पड़ते ही हे किरीटी! वह ब्रह्मस्वरूप हो जाय, (९१) परन्तु जिसने स्वकर्मरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म-रूपी ईंधन के रूप से प्रथम रज और तम दोनों को जला डाला है, (९२) पुत्र, वित्त और परलोक इन तीनों की इच्छा जिसके घर की दासी बन गई है, (९३) जो इन्द्रियाँ विषयों में स्वच्छन्द प्रवेश कर पापमय हो गई थीं उन्हें जिसने संयमरूपी तीर्थ में नहलाया है (९४) और सब स्वधर्मरूपी फल ईश्वर को अर्पण कर अटल वैराग्य-पद प्राप्त कर लिया है—(९५) इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में परिणत होने-वाला ज्ञान की उत्कर्ष दशा का लाभ करानेवाली सब सामग्री जिसने प्राप्त कर ली है, (९६) और उसी समय उसे सद्गुरु की भेंट हो गई है और उन्होंने भी उसे किसी बात से वञ्चित नहीं रक्खा (९७) [तथापि क्या औषधि लेने के साथ ही आरोग्य प्राप्ति हो सकती है? अथवा दिन निकलते ही क्या मध्याह्न हो सकता है? (९८) खेत अच्छा हो और धरती भीगी हुई हो तो उसमें यदि उत्तम बीज बोया जाय तो अटूट फल का लाभ होगा, परन्तु समय आने पर ही होगा. (९९) रास्ता सुगम हो और सङ्ग भी सज्जनों का मिले तो इष्ट स्थल को पहुँचेंगे अवश्य ही, परन्तु समय ही लगेगा] (१०००) हाँ, तो जिसे वैराग्य का लाभ और सद्गुरु की भी भेंट हो जाय और अन्तःकरण में विवेक का अंकुर फूटा हो (१) उसे इस बात की दृढ़ प्रतीति अवश्य हो जाती है कि ब्रह्म एक है और अन्य सब भ्रम है, (२) तथापि वास्तव में जो परब्रह्म सर्वात्मक और सर्वोत्तम है, जहाँ मोक्ष का कोई काम ही नहीं रहता, (३) हे किरीटी! जो ज्ञान संसार की तीनों अव-

(३४) अतः वह मुमुक्षु आत्मज्ञान के विषय में समर्थ हो जाता है, परन्तु योग की प्रक्रिया के सहाय से। (३५) हे धनञ्जय! गुदा और शिश्न के बीच में एड़ी दबा कर वह मूल-बन्ध सिद्ध करता है। (३६) अधोभाग संकुचित कर मूल-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और जालन्धर-बन्ध तीनों सिद्ध कर सब वायुओं को समान करता है। (३७) कुण्डलिनी को जागृत कर, सुषुम्ना का विकास कर आधार-चक्र से लेकर आज्ञा-चक्र तक सबका भेद करता है, (३८) फिर सहस्र-दल कमल-रूपी मेघ में से जो उत्तम अमृत की वर्षा होती है उसका प्रवाह मूलाधार चक्र तक ला छोड़ता है। (३९) और अनन्तर अग्नि-चक्ररूपी पुण्य-पर्वत पर नाचते हुए चैतन्यरूपी भैरव के भिक्षापात्र में मन और पवन-रूपी खिचड़ी भर देता है। (१०४०) इस प्रकार योग का बलिष्ठ समुदाय आगे कर उसके आसरे से वह ध्यान स्थिर करता है। (४१) और ध्यान और योग दोनों निर्विघ्नता के साथ आत्मतत्त्वज्ञान में प्रविष्ट हों, इसलिए वह पहले से ही (४२) वैराग्य जैसे मित्र को प्राप्त कर लेता है, जो कि सब भूमिकाओं में उसके सङ्ग ही रहता है। (४३) जो वस्तु देखनी है उसके दिखाई देने तक दीपक यदि दृष्टि का सङ्ग न छोड़े तो उस वस्तु के दिखाई देने में क्या अवकाश लगेगा? (४४) वैसे ही जो मोक्ष की ओर प्रवृत्त हुआ है उसकी वृत्ति के ब्रह्म में लीन होने तक वैराग्य उसका साथ देता है, तो फिर उसकी मोक्ष-प्राप्ति का भङ्ग कैसे हो सकता है? (४५) अतः वह भाग्यवान् वैराग्य-सहित ज्ञान का अभ्यास कर आत्मप्राप्ति के योग्य हो जाता है; (४६) एवं शरीर में वैराग्यरूपी वज्र-कवच पहन कर वह राजयोगरूपी घोड़े पर चढ़ता है। (४७) और बीच में जिस छोटी बड़ी वस्तु पर दृष्टि पड़े उसका संहार अपनी विवेकरूपी मुष्टि में धारण की हुई ध्यानरूपी जोरदार तलवार से करता है। (४८) इस प्रकार जैसे सूर्य अँधेरे में प्रवेश कर अँधेरे का नाश करता जाता है वैसा ही वह भी मोक्षरूपी विजयश्री का वर होने के हेतु इस संसार-रूपी रण में प्रवेश करता है। (४९)

> अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

वहाँ रास्ता रोकने के लिए आये हुए जिन दोषरूपी वैरियों को वह पछाड़ता है उनमें से पहला देहाभिमान है। (१०५०) जो मार कर

भी मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता, पैदा कर जीने नहीं देता, और केवल इस हड्डियों के ढाँचे में ठसाठस भर देता है। (५१) हे वीर! उस देहाभिमान का देहरूपी किला जो आसरा है उसी को वह मुमुक्षु तोड़ डालता है। दूसरा वैरी, जिसे वह मारता है, बल है (५२) जो विषयों के नाम से चौगुना बलवान् हो जाता है और जिसके कारण अन्यत्र सब जगह मरी ही छा जाती है। (५३) वह विषयरूपी विष का घर है, सम्पूर्ण दोषों का राजा है, परन्तु वह ध्यानरूपी खड्ग का घाव कैसे सह सकता है? (५४) उसी प्रकार प्रिय विषयों की प्राप्ति होने से जो सुख उत्पन्न होता है उसी का आच्छादन ले जो शरीर में प्रकट होता है, (५५) जो सन्मार्ग भुला देता है और अधर्म-रूपी जङ्गली रास्ते में डाल नरक इत्यादि-रूपी बाघों के वश करा देता है, (५६) उस दर्पनामक शत्रु को वह मुमुक्षु श्रद्धारूपी शस्त्र से मार उसका अन्त कर देता है। और तपस्वी जिससे भय खाते हैं, (५७) क्रोध-सरीखा महादोष जिसका परिणाम है, जिसकी जितनी ही पूर्त्ति की जाय उतना ही और अधिक रीता होता जाता है, (५८) उस काम को वह ऐसा अदृश्य कर डालता है कि वह फिर कभी दिखाई ही नहीं देता। वही स्थिति क्रोध की भी होती है। (५९) जड़ टूटना जैसे शाखाओं के नाश का हेतु हो जाता है वैसे ही काम के नाश से क्रोध का भी नाश हो जाता है। (१०६०) अतः जहाँ कामरूपी शत्रु ठिकाने लग गया वहाँ क्रोध का आवागमन भी बन्द हो गया समझना चाहिए। (६१) और राजा जैसे, प्रतिज्ञा से, जिसको बेड़ियाँ पहनानी हों उसी के सिर उनको ढुलवा ले जाता है, वैसे ही जो परिग्रह-भोग से और बलवान् हो (६२) सिर पर बैठता है, कई अवगुण लगा देता है, और अन्तःकरण के हाथ "यह मेरा है" ऐसा अभिमान का दण्ड धारण करवाता है, (६३) शिष्य-सम्प्रदाय-पद्धति के द्वारा और मठ इत्यादि या योगमुद्रा इत्यादि के मिस से निःसङ्ग भी जिसके फन्दे में आ जाते हैं, (६४) घर देखिए तो कुटुम्ब का त्याग किया है पर वन में जो वनसम्बन्धी विषयों में ममत्व-रूप से दिखाई देता है, जो नङ्गों के शरीर में भी सना हुआ है, (६५) ऐसा दुर्जय जो परिग्रह है उसका ठाँव मिटा कर जो मुमुक्षु संसार के विजयोत्सव का उपभोग लेता है, (६६) उसके समीप अमानित्व इत्यादि जो ज्ञान-गुणों के समुदाय हैं वे मानों मोक्ष देश के राजाओं की तरह आते हैं (६७) और उसे सम्यक्ज्ञान रूपी भेंट देकर स्वयं

भेदान्तरों का लोप हो जाता है। (९९) जागृति और स्वप्न ये दो अवस्थायें जो विपरीत ज्ञान का ग्रहण करती हैं उन्हें वह सुषुप्तिरूपी अज्ञान में लीन कर देता है। (११००) फिर ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों वह अव्यक्त भी घटता जाता है और पूर्ण ज्ञान होते ही सम्पूर्ण विलीन हो जाता है। (१) जैसे भोजन करते समय भूख धीरे धीरे बुझती जाती है और तृप्ति के समय सम्पूर्ण शान्त हो जाती है, (२) अथवा चलते चलते जैसे रास्ता कटता जाता है और इष्ट स्थान को पहुँचते ही समाप्त हो जाता है (३) अथवा ज्यों-ज्यों जागृति आती जाती है त्यों त्यों नींद छूटती जाती है और पूर्ण जागृत होने पर उसका पता ही नहीं रहता, (४) अथवा वृद्धि समाप्त होने पर जब चन्द्र अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो शुक्लपक्ष भी निःशेष समाप्त हो जाता है, (५) वैसे ही वह पुरुष जब ज्ञेय विषयों को लील कर ज्ञान के द्वारा मुझमें आ मिलता है तब सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाता है। (६) तब कल्पान्त के समय जैसे नदी या समुद्र की सीमा के टूट जाने से ब्रह्मलोक तक जल ही जल भर जाता है (७) अथवा घट या मठ का नाश होने पर जैसे एक आकाश ही सर्वत्र रहता है, अथवा लकड़ी जला कर जैसे अग्नि ही रह जाती है (८) अथवा जैसे अलङ्कारों को साँचे में डाल कर गलाने से उनके नाम और रूपों का नाश हो सोना ही रह जाता है, (९) यह भी रहने दो, जागने पर जैसे स्वप्न का नाश हो जाता और मनुष्य केवल आप ही रह जाता है (१११०) वैसे ही उस पुरुष को केवल एक मेरे अतिरिक्त स्वयं अपने समेत और कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार वह मेरी चौथी भक्ति प्राप्त करता है। (११) दूसरे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी जिन रीतियों से मेरी भक्ति करते हैं उनकी अपेक्षा से हम इसे चौथी भक्ति कहते हैं। (१२) अन्यथा यह न तीसरी है न चौथी है, न पहली है, न अन्तिम है। वास्तव में मेरी ब्रह्मरूपी स्थिति का ही नाम भक्ति है। (१३) जो मेरे अज्ञान को प्रकाशित कर, मुझे अन्यरूप से दिखा कर, सबको सब विषयों की रुचि लगा उनका ज्ञान करा देता है, (१४) जिस अखण्ड प्रकाश से जो जहाँ जिस वस्तु का देखना चाहे वह वस्तु उसे वहाँ वैसी ही दिखाई देती है (१५) स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है वैसे ही जिस प्रकाश से ही विश्व की उत्पत्ति या लय होता है, (१६) वह मेरा जो स्वाभाविक प्रकाश है उसी का

हे कपिध्वज! भक्ति कहते हैं। (१७) अतः आर्तों में यह भक्ति इच्छा-रूप हो जिस वस्तु की अपेक्षा करती है वह मैं ही हूँ। (१८) जिज्ञासु में भी हे वीरेश! यही भक्ति जिज्ञासारूप हो मुझे जिज्ञास्य रूप से प्रकट करती है। (१९) और हे अर्जुन! यही भक्ति अर्थप्राप्ति की इच्छा बन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगा मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है; (११२०) एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो तो वह मुझे सर्वसाक्षी को दृश्यरूप से बताती है। (२१) दर्पण में मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं; परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है उसका हेतु दर्पण है। (२२) दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा का ही ग्रहण करती है पर एक चन्द्र के जो दो दिखाई देते हैं वह नेत्र-रोग के कारण। (२३) वैसे ही हे धनञ्जय! वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज को ही देखता हूँ परन्तु जो मिथ्या दृश्य पदार्थ दिखाई देते हैं वह अज्ञान का कारण है। (२४) वह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है; और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझमें ही समा जाती है। (२५) सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता है तब भी सोना ही रहता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे वह शुद्ध रूप से शेष रहता है, (२६) अजो! पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या सावयव नहीं रहता; परन्तु जैसे उस दिन उसकी पूर्णता उससे आ मिलती है, (२७) वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूँ पर अज्ञान के कारण दृश्यरूप से और भिन्न दिखाई देता हूँ, और दृष्टत्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो जाती है। (२८) अतएव हे पार्थ! दृश्यपाथ के परे जो मेरा भक्तियोग है उसे मैंने चौथा कहा है। (२९)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

यह तुम सुन ही चुके हो कि इस ज्ञान-भक्ति से युक्त हो जो भक्त मुझसे एकरूप हो जाता है वह केवल मद्रूप है। (११३०) क्योंकि हे कपिध्वज! हम सातवें अध्याय में हाथ उठाकर कह चुके हैं कि ज्ञानी हमारा आत्मा है। (३१) इसी भक्ति के अत्यन्त उत्तम होने के कारण हमने कल्प के आरम्भ में श्रीभागवत के मिस से ब्रह्मदेव को उसका उपदेश किया। (३२) ज्ञानी इसे आत्मज्ञान कहते हैं, शिवोपासक

इसे शक्ति कहते हैं, और हम अपनी परमभक्ति कहते हैं। (३३) कर्मयोगियों को मद्रूप होते समय इस भक्ति-फल का लाभ हो जाता है जिससे उन्हें सम्पूर्ण जगत् केवल मुझसे ही भरा दिखाई देता है। (३४) उस समय वैराग्य और विवेक सहित बन्ध मोक्ष में लय पाता है और वृत्ति भी निवृत्ति-सहित विलीन हो जाती है। (३५) जब त्वं पद सहित तत्पद भी विलीन हो जाता है, तब जैसे आकाश अन्य चारों भूतों को लील कर स्वयं शेष रहता है, (३६) वैसे ही साध्य और साधन के परे शुद्ध स्वरूप जो मैं हूँ उस मुझसे एकरूप हो वह पुरुष मेरा उपभोग लेता है। (३७) जैसे गङ्गा समुद्र से मिलकर भी समुद्र में जुदी शोभा देती है उसी प्रकार वह मेरा उपभोग करता है; (३८) अथवा दर्पण को जैसे कोई साफ घिसा हुआ दर्पण दिखाया जाय वैसा ही उस उपभोग का सुख जान पड़ता है; (३९) अथवा जब दर्पण अलग करने से चेहरे का दिखाई देना बन्द हो जाता है तब जैसे देखनेहारा केवल अपने में ही दृष्टत्व सुख का अनुभव लेता है, (११४०) जागृत होने पर स्वप्न नहीं रहता और अपनी एकता ही दिखाई देती है उसका उपभोग जैसे द्वैत के विना ही लिया जाता है, (४१) [जो समझते हों कि एकरूप होने पर उस वस्तु का उपभोग नहीं हो सकता वे शब्द से ही शब्द का उच्चारण कैसे करते हैं? (४२) उनके गाँव में सूर्य को प्रकाशित करने के लिए दीपक का उपयोग करते हों, अथवा आकाश को धारण करने के लिये मण्डप खड़ा करते हों तो दूसरी बात है। (४३) अजी! राजत्व प्राप्त किये विना ही क्या कोई राजसुख का उपभोग ले सकता है? अन्धकार क्या सूर्य का आलिङ्गन कर सकता है? (४४) और जो आकाश नहीं हो जाता उसे आकाश की व्याप्ति क्या जान पड़ सकती है? घुँघुचियों के अलङ्कार रत्नों के अलङ्कारों की शोभा कहीं दे सकते हैं? (४५) अतएव जो मद्रूप नहीं होता उसे मेरा ज्ञान ही कहाँ होता है, फिर मेरी भक्ति का तो कहना ही क्या?] (४६) तरुणाक्षी जैसे तारुण्य का भोग लेती है वैसे ही वह कर्मयोगी मद्रूप हो मेरा उपभोग लेता है। (४७) तरङ्गें जैसे सर्वतः जल का चुम्बन करती हैं, प्रभा जैसे बिम्ब में सर्वत्र प्रकाशित होती है, अथवा अवकाश जैसे आकाश में सर्वत्र व्याप्त है (४८) वैसे ही वह पुरुष मत्स्वरूप होकर कोई क्रिया किये विना ही मेरा भजन करता है। सोने की घनता जैसे स्वभावतः सोने को ही

भजती है, (४९) अथवा चन्दन की सुगन्ध जैसे चन्दन का ही सेवन करती है, अथवा चन्द्रिका जैसे स्वभावत: चन्द्रमा में ही अनुरक्त रहती है (११५०) वैसे ही अद्वैतस्थिति में, वास्तव में कोई क्रिया न होते हुए भी, भक्ति हो सकती है। यह बात केवल अनुभव के ही योग्य है, शब्दों से कहने योग्य नहीं। (५१) अत: वह पुरुष प्रारब्धकर्मानुसार जो कुछ बोलता है उन शब्दों से वह मानों मुझे ही पुकारता है, और वही बोलना मेरा उत्तर देना है। (५२) जहाँ बोलनेहारे को केवल उसी बोलनेहारे की भेंट हो और दूसरा कोई न रहे वहाँ वास्तव में बोलने की क्रिया ही नहीं होती; ऐसा जो मौन है वही मेरा उत्तम स्तवन है। (५३) अतएव वह पुरुष जो कुछ बोलता है उससे मेरी [बोलने-हारे की] भेंट होते ही वह मौन हो जाता है, उसी मौनभाव से वह मेरी स्तुति करता है। (५४) उसी प्रकार हे किरीटी! वह बुद्धि से या दृष्टि से जो कुछ देखने की चेष्टा करता है वह दर्शनक्रिया दृश्य का लोप कर उसे देखनेहारे का ही स्वरूप बताती है। (५५) दर्पण में देखने के पूर्व जो देखनेहारे का स्वरूप है वही जैसे दर्पण में देखने से दिखाई देता है वैसे ही उस पुरुष का देखना देखनेहारे की प्राप्ति करा देता है। (५६) दृश्य का लोप होकर दृष्टत्व जब द्रष्टा में ही लीन हो जाता है तब केवल एकता रहने के कारण द्रष्टात्व भी नहीं रह सकता। (५७) तब, जैसे जागने पर स्वप्न में देखे हुए प्रिय जन को आलिङ्गन देने की चेष्टा करने के समय द्वैत न रह कर केवल आप ही अकेले रहते हैं, (५८) अथवा जैसे दो लकड़ियाँ घिसने से उनमें से जो अग्नि उठती है वह लकड़ी और अग्नि नामक द्वैत का नाम मिटा कर केवल आप ही बच रहती है, (५९) अथवा सूर्य अपने प्रतिबिम्ब को हाथ में ले तो जैसे उसकी प्रतिबिम्बापेक्षित बिम्बता चली जाती है, (११६०) वैसे ही देखनेहारा यदि सद्रूप होकर दृश्य देखने जाय तो वह दृष्टत्व-सहित विलीन हो जाता है। (६१) सूर्य अन्धकार को प्रकाशित करता है तब जैसे प्रकाश्य न रहने से उसकी प्रकाशकता भी नहीं रहती वैसे ही सद्रूप होने पर दृश्य-सम्बन्धी दृष्टत्व भी नहीं रहता। (६२) फिर देखना और न देखना ऐसी जो दशा होती है वह वास्तव में मेरा दर्शन है। (६३) हे किरीटी! उस दर्शन का उपभोग मेरा भक्त हर किसी पदार्थ की भेंट से, उसमें द्रष्टा या दृश्य के परे की दृष्टि द्वारा, सर्वकाल लेता है, (६४)

और आकाश जैसे आकाश के ही बोझ से नहीं डिगता वैसे ही उसकी स्थिति मुझ आत्मा के कारण हो जाती है। (६५) कल्प के अन्त में जैसे जल जल से ही प्रतिबद्ध हो जाता और उसका बहना बन्द हो जाता है वैसे वह एक मुझ आत्मा से ही भरा हुआ रहता है। (६६) पाँव निज को ही कैसे नाँघ सकता है? अग्नि निज को ही कैसे लग सकती है? जल स्वयं जल से स्नान करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है? (६७) अतः उसके सर्वत्र मद्रूप हो रहने के कारण उसका आवागमन जो बन्द हो जाता है वही मानों मुझ अद्वितीय की यात्रा करना है। (६८) जल की तरङ्ग यद्यपि अत्यन्त वेग से दौड़े तथापि उसे किसी भूमिभाग का आक्रमण नहीं करना पड़ता (६९) क्योंकि वह जिस वस्तु का ग्रहण करे या त्याग करे अथवा उसका चलना या चलने का मार्ग सब एक जल ही है; (११७०) एवं तरङ्ग कहीं जाय तथापि हे पाण्डुसुत! जल ही होने के कारण जैसे उसकी एकात्मता नहीं टूटती (७१) वैसे ही वह पुरुष—जो मुझसे सना हुआ रहता है--सब भावों से मुझमें आ पहुँचता है और इस प्रकार यात्रा करनेहारा बनता है। (७२) शरीर के स्वभाववश यदि वह कुछ कर्म करने जाय तो उसे मद्रूप समझ कर वह उसका अङ्गीकार करता है। (७३) उस समय हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता नहीं रहते बल्कि मैं ही निजरूप से निज को ही देखता हूँ। इस प्रकार वह केवल मद्रूप ही हो रहता है। (७४) दर्पण दर्पण को देखे तो जैसे वह देखना नहीं कहा जा सकता, सोने को सोने से ही ढाँकना ढाँकना नहीं कहा जा सकता, (७५) दीपक को दीपक से ही प्रकाशित करना प्रकाशित करना नहीं हो सकता, वैसे ही मेरा कर्म करना 'करना' कैसे कहा जा सकता है? (७६) कोई कर्म करता ही रहे परन्तु यदि ऐसा न कहा जा सके कि वह कर्म करता है तो उसका करना न करना ही है। (७७) सम्पूर्ण क्रियाएँ मद्रूप हो जाने के कारण जो अकर्तृत्व की घटना होती है उसी का नाम मेरी सांकेतिक पूजा है। (७८) अतः हे कपिध्वज! कर्म, जो किया जाने पर भी न किया सा होता है, उसमें वह पुरुष मेरी महापूजा करता है; (७९) एवं वह जो बोले सो मेरा स्तवन है, जो देखे सो मेरा दर्शन है, और जो चले सो मुझ अद्वितीय की यात्रा है। (११८०) वह जो करे सो मेरी पूजा है, वह जो कल्पना करे सो मेरा जप है, और उसका नींद लेना

ही मेरी समाधि है। (८१) कङ्कण जैसे सोने से अनन्य हो रहता है, वैसे ही वह भक्तियोग के द्वारा मुझमें अनन्य हो रहता है। (८२) जल में तरङ्ग, कपूर में सुगन्ध अथवा रत्न में प्रकाश जैसे अनन्य है (८३) किंबहुना, तन्तुओं से जैसा वस्त्र, मिट्टी से जैसा घट, वैसा ही मेरा भक्त मुझसे एकरूप हो रहता है। (८४) हे सुमति! इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वह आप ही सम्पूर्ण दृश्यमात्र में मुझ द्रष्टा को भरा हुआ देखता है। (८५) जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा उपाधि और उपाधियुक्त रूपों से, तथा भाव अभाव रूपों से, जो कुछ दृश्य प्रतीत होता है (८६) वह सब "मैं ही द्रष्टा हूँ" ऐसे ज्ञान के बीच, हे सुभट! आत्मानुभव के आनन्द से नाचता है। (८७) सर्प का आभास दिखाई देने के पश्चात् जब रस्सी दृष्टिगोचर हो जाती है तब जैसे यह निश्चय हो जाता है कि वह सर्प नहीं रस्सी ही थी, (८८) अलङ्कार गलाने पर जैसे यह निश्चय हो जाता है कि उसमें सोने के अतिरिक्त अलङ्कारत्व एक रत्ती-भर भी नहीं है, (८९) यह जान कर कि जल के अतिरिक्त तरङ्ग कोई वस्तु नहीं है जैसे उस आकार का ग्रहण नहीं किया जाता, (११९०) अथवा स्वप्न-विकार के अनन्तर जागृत हो देखने पर जैसे अपने सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता, (९१) वैसे ही उस पुरुष को ऐसा अनुभव होता है कि संसार में जो कुछ है वा नहीं है उस सबसे ज्ञेय वस्तु ही प्रकाशित होती है और वह जाननेहारा भी मैं ही हूँ; तथा वह उस अनुभव का उपभोग लेता है। (९२) वह जान लेता है कि मैं अजन्मा हूँ, जरा-रहित हूँ, मैं अविनाशी हूँ तथा अक्षर हूँ, मैं अपूर्व हूँ तथा अपार आनन्दरूप हूँ. (९३) मैं अचल हूँ तथा अच्युत हूँ, म अन्त-रहित हूँ तथा अद्वितीय हूँ, मैं आद्य हूँ तथा अव्यक्त और व्यक्त भी मैं ही हूँ; (९४) मैं ईश्य हूँ तथा मैं ही ईश्वर हूँ, मैं अनादि हूँ तथा अमर हूँ, मैं भयरहित हूँ तथा आधार और आधेय मैं ही हूँ, (९५) मैं सर्वदा सब का स्वामी हूँ, मैं सर्वदा स्वभावसिद्ध हूँ, मैं सर्वदा सर्वगत हूँ तथा सबके परे हूँ, (९६) मैं नूतन हूँ तथा पुराना हूँ, मैं शून्य हूँ तथा सम्पूर्ण हूँ, मैं सूक्ष्म हूँ तथा अणु से भिन्न जो कुछ है सो मैं ही हूँ, (९७) मैं क्रियारहित तथा एक हूँ, मैं सङ्गरहित तथा शोक-रहित हूँ, मैं व्याप्त हूँ तथा मैं व्यापक और पुरुषोत्तम हूँ; (९८) मैं शब्द-रहित तथा श्रवणरहित हूँ, अरूप तथा अगोत्र हूँ, मैं समान तथा

स्वतन्त्र और परब्रह्म हूँ। (९९) इस प्रकार वह मुझ अद्वितीय को आत्मरूप जान इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वस्तुतः जानता है और इस ज्ञान का ज्ञाता भी मुझे ही जानता है। (१२००) जागृत होने पर जैसे अपनी एकता ही शेष रहती है, और वह निज को निज में ही ज्ञात होती है, (१) अथवा सूर्योदय होने पर जैसे वही सूर्य अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, तथा अपने से अपने अभेद का द्योतक भी वही होता है, (२) वैसे ही ज्ञेय वस्तुओं का लय हो जाने पर जो केवल ज्ञाता शेष रहता है वही निज को जानता है, तथा यह ज्ञान भी जिसे होता है (३) उसे अपनी अद्वितीयता के कारण हे धनञ्जय! इस बात की प्रतीति हो जाती है कि जो ज्ञान कला है वह मैं ईश्वर ही हूँ। (४) फिर यह जानकर कि द्वैत और अद्वैत के परे निश्चय से एक मैं ही आत्मा शेष रहता हूँ, उसका ज्ञान आत्मानुभव में लीन हो जाता है। (५) तब जागृत होने पर जो हमारी एकता दिखाई देती है वह भी नष्ट हो जाय तो जैसे हमारा स्वरूप न जाने कैसा होगा, (६) अथवा अलङ्कार देखते ही जैसे उसे गलाये बिना ही उसके आकार तथा अलङ्कारत्व का नाश हो सुवर्ण का निश्चय हो जाता है, (७) अथवा लवण जल हो जाता है तब उसकी क्षारता जल-रूप से रहती है और उस जल के भी नाश होने पर जैसे उसका जलरूप होना भी नष्ट हो जाता है (८) वैसे ही वह पुरुष मद्रूपता के भाव से आत्मानुभव के आनन्द की एकता में मिलाकर मुझ में ही प्रवेश करता है (९) और जब तद्भाव का नाम ही नहीं रहता तब 'मैं' शब्द का प्रयोग किसके लिए हो सकता है? इस प्रकार वह न मैं न वह ऐसी स्थिति में हो मेरे स्वरूप में ही समा जाता है। (१२१०) तब जैसे कपूर जल चुकता है उसी समय अग्नि भी बुझ जाती है, और दोनों के परे की वस्तु आकाश शेष रहता है, (११) अथवा एक में से एक घटाने से जैसा शून्य शेष रहता है, वैसे ही सब भावाभाव का शेष मैं ही बच रहता हूँ। (१२) और ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि शब्दों की इच्छा ही नहीं रहती, तथा न बोलने के लिए भी वहाँ कुछ अवकाश नहीं रहता। (१३) उस स्थिति में निःशब्दता हो, बिना ही बोले, मुँह भरके बोली जाती है तथा ज्ञान और अज्ञान दोनों न जानने पर ज्ञान होता है। (१४) उसमें ज्ञान ही ज्ञान को जानता है। आनन्द ही आनन्द

ग्रहण करता है, सुख ही केवल सुख भोगता है, (१५) लाभ को ही लाभ प्राप्त होता है, प्रकाश ही प्रकाश का आलिङ्गन करता है, और विस्मय ही खड़ा-खड़ा आश्चर्य में डूब जाता है। (१६) उस स्थिति में शम शान्त हो जाता है, विश्रान्ति को विश्राम प्राप्त होता है और अनुभव अनुभूति के कारण बौरा जाता है। (१७) बहुत क्या कहें, इस प्रकार उस पुरुष को कर्मयोग की सुन्दर वेल की सेवा करने से केवल आत्मस्वरूपी फल प्राप्त होता है। (१८) हे किरीटी! मेरा भक्त निज को मुझे अर्पण कर, मैं जो कर्म-योगरूपी राजा के मुकुट में ज्ञानरूपी रत्न हूँ, वही बन जाता है; (१९) अथवा वह कर्मयोगरूपी मन्दिर का जो मोक्षरूपी कलश है उसके भी ऊपर का आकाशरूपी प्रसार बन जाता है। (१२२०) नहीं नहीं, संसार-रूपी जङ्गल में कर्मयोग एक सरल मार्ग है, उससे चलकर वह मेरी एकता-रूपी गाँव में पहुँच जाता है। (२१) यह भी रहने दो, कर्म-योगरूपी प्रवाह से उसकी भक्तिरूपी चिद्गङ्गा आत्मानन्दरूपी समुद्र में जा पहुँचती है। (२२) हे मर्मज्ञ! कर्मयोग की महिमा यहाँ तक है। अतः हम तुम्हें बार-बार इसी का उपदेश करते हैं। (२३) मैं ऐसा नहीं हूँ कि देश-काल-पदार्थ इत्यादि साधनों से मेरी प्राप्ति हो सके। मैं सबों का ही सर्वस्व बना-बनाया हूँ। (२४) इसलिए मेरे लिए कुछ आयास नहीं करना पड़ता। मैं इस कर्मयोग के उपाय से निश्चय से प्राप्त होता हूँ। (२५) एक शिष्य है और एक गुरु है, ऐसा जो व्यवहार जारी हुआ है वह केवल मेरी प्राप्ति की रीति जानने के हेतु से है। (२६) अजी हे किरीटी! पृथ्वी के पेट में द्रव्य तो सिद्ध ही है, काष्ठ में अग्नि सिद्ध ही है, थनों में दूध सिद्ध ही है। (२७) परन्तु इन सिद्ध वस्तुओं के पाने के लिए उपाय करने पड़ते हैं। वैसे ही मैं भी सिद्ध हूँ और उपायों से प्राप्त होता हूँ। (२८) यदि कोई पूछे कि देव! फल-प्राप्ति के वर्णन के अनन्तर फिर उपाय का प्रस्ताव क्यों करते हैं तो इसका अभिप्राय यह है (२९) कि गीतार्थ की उत्तमता सब मोक्ष-प्राप्ति के विषय में है। अन्य शास्त्रों के उपाय अनुभवसिद्ध नहीं हैं। (१२३०) वायु से मेघ हट जाते हैं पर उससे सूर्य की घटना नहीं होती, हाथ से सेवार अलग हो सकती है पर उससे जल नहीं बन सकता; (३१) वैसे ही शास्त्र से आत्मानुभव का प्रतिबन्धक जो अविद्यामल है उसका नाश होता है पर जो निर्मल आत्मा है उसे स्वयं

मैं ही प्रकाशित करता हूँ। (३२) अतः अविद्या का विनाश करने के लिए सब शास्त्र योग्य हैं, परन्तु वे आत्मानुभव के लिए समर्थ नहीं हैं। (३३) इन अध्यात्म शास्त्रों से जब सत्य का निर्णय पूछा जाय तब वे जिस स्थान का आश्रय करते हैं वह यह गीता है। (३४) सूर्य से विभूषित पूर्व दिशा के कारण जैसे सब दिशाएँ प्रकाशमयी दिखाई देती हैं, वैसे ही मानों इस गीतारूपी शास्त्रों के राजा से सब शास्त्र सनाथ हुए हैं। (३५) अस्तु, यद्यपि पिछले अध्यायों में इस शास्त्रराज ने आत्मा को करगत करने के उपाय का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है, (३६) तथापि यह सोचकर कि एक ही बार सुनने से वह अर्जुन की समझ में कदाचित् ही आवे श्रीकृष्ण कृपया (३७) वही सिद्धान्त शिष्य के हृदय में स्थिर करने के उद्देश्य से फिर एक बार संक्षेप से वर्णन करते हैं। (३८) और प्रसङ्गानुसार गीता भी समाप्त होने को आई, इसलिए आदि से अन्त तक गीता की एकार्थता भी बताते हैं। (३९) क्योंकि इस ग्रन्थ के मध्यभाग में अनेक अधिकार-वर्णन के समय अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया है, (१२४०) अतः कदाचित् कोई पूर्वापर सम्बन्ध न जानकर यह मान ले कि इस ग्रन्थ में उतने सब सिद्धान्तों का प्रस्ताव किया गया है (४१) इसलिए श्रीकृष्ण एक महासिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक सिद्धान्तों की श्रेणियों को इकट्ठी कर आरम्भित ग्रन्थ समाप्त करते हैं। (४२) अविद्या का नाश हो इस ग्रन्थ की भूमिका है मोक्ष सम्पादन हो उसका फल है, और इन दोनों का साधन ज्ञान है। (४३) इतनी ही बात जो अनेक प्रकार से इस ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है उसी का फिर संक्षेपतः वर्णन करने के (४४) उद्देश्य से, उपाय साध्य वस्तु प्राप्त होने पर भी, श्रीकृष्ण फिर उपाय वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। (४५)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

फिर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे उत्तम योद्धा! वह कर्मयोगी निष्ठा से मद्रूप होकर मुझमें मिल जाता है। (४६) स्वधर्मरूपी निर्मल फूलों से मेरी उत्तम पूजा कर वह मुझे प्रसन्न करता और ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करता है। (४७) जब वह ज्ञान-निष्ठा हाथ आती है तब मेरी परम भक्ति उल्लसित होती है जिससे कि वह मुझमें एकरूप

हो सुखी होता है। (४८) और जो विश्व को प्रकाशित करने-हारे मुझ निजात्मरूप को सर्वरूप जान भजता है, (४९) [लवण जैसे अपना प्रतिबन्ध छोड़ जल का आश्रय करता है, अथवा वायु जैसे सर्वत्र घूम कर फिर आकाश में निश्चल हो रहती है, (१२५०) वैसे ही जो बुद्धि से, काया से और वाणी से मेरा ही आश्रय कर रहता है] वह कदाचित् निषिद्ध कर्म भी करे (५१) तथापि जैसे गङ्गा में मिलने पर नाला या महानदी समान ही हैं वैसे ही उसे मेरा ज्ञान हो जाने के कारण शुभ और अशुभ कर्म समान ही हो जाते हैं। (५२) मलयगिरि चन्दन और सामान्य काष्ठ का भेद तभी तक हो सकता है जब तक उनसे अग्नि लिपट नहीं जाती, (५३) अथवा सोने के निकृष्ट या उत्तम होने के अपवाद तभी तक हैं जब तक पारस उन्हें स्पर्श कर एकरूप नहीं करता, (५४) वैसे ही पुण्य और पाप कर्मों का आभास तभी तक होता है जब तक सर्वत्र एक मैं ही नहीं दिखाई देता। (५५) अजी, रात और दिन का द्वैत अभी तक है जब तक सूर्य के प्रदेश में प्रवेश न किया जाय। (५६) अतः हे किरीटी! मेरी प्राप्ति से सब कर्मों का नाश हो जाने पर वह सायुज्यता के पद पर आरूढ़ होता है, (५७) एवं उसे मेरे अविनाशी पद का लाभ होता है जिसका देश, काल या स्वभाव से क्षय होना असम्भव है। (५८) किंबहुना, हे पाण्डुसुत! उसे मुझ आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है जिसकी प्राप्ति होने पर ऐसा कौन लाभ है जो प्राप्त नहीं हो सकता? (५९)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिए हे धनञ्जय! तुम्हें अपने सब कर्मों का मुझमें संन्यास करना चाहिए। (१२६०) परन्तु हे वीर! संन्यास केवल बाह्यतः मत करो। चित्तवृत्ति आत्मविचार में स्थिर रक्खो। (६१) उस विचार के बल से तुम स्वयं कर्म से भिन्न हो जाओगे और सब कर्म मेरे निर्मल स्वरूप में ही दिखाई देंगे (६२) और कर्म की जन्मभूमि जो प्रकृति है वह तुमसे अत्यन्त दूर दिखाई देगी। (६३) अनन्तर हे धनञ्जय! रूप के बिना जैसे छाया नहीं रह सकती, वैसे ही आत्मा के बिना प्रकृति भी नहीं रहती। (६४) इस प्रकार प्रकृति का नाश

होने पर अनायास ही कारण-सहित कर्मों का संन्यास हो जावेगा। (६५) फिर कर्मों का नाश होने पर मैं—केवल आत्मा—शेष रहता हूँ उस मुझमें बुद्धि को पतिव्रता स्त्री के समान स्थिर करनी चाहिए। (६६) ऐसी अनन्यता-पूर्वक जब बुद्धि मुझमें प्रवेश करती है तब चित्त सब विषयों का त्याग कर मेरा ही भजन करता है। (६७) इस प्रकार सर्वदा और शीघ्र ही ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि विषयों का त्याग कर चित्त मुझसे ही युक्त हो रहे। (६८)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

फिर इस अनन्य सेवा से जब चित्त मेरे स्वरूप से ही सन जावेगा तब समझना कि मेरा पूर्ण प्रसाद हुआ। (६९) उससे सब दुःख के स्थल जो जन्म-मृत्यु द्वारा भोगे जाते हैं वे दुर्गम होने पर भी तुम्हें सुगम हो जावेंगे। (१२७०) आँखें जब सूर्य-प्रकाश के सहाय से युक्त हो जाती हैं तब उनके सम्मुख अँधेरा क्या वस्तु है? (७१) वैसे ही मेरे प्रसाद से जिसका जीवांश नष्ट हो जाय वह संसार के हौवे से कैसे डर सकता है? (७२) अतएव हे धनञ्जय! तुम मेरे प्रसाद से इस संसार दुर्गति के पार हो जाओगे। (७३) परन्तु यदि अहङ्कार के वश हो तुम मेरा यह सम्पूर्ण उपदेश अपने कान या मन की हद में न आने दोगे (७४) तो तुम नित्य मुक्त और अव्यय होते हुए भी वृथा देह-सम्बन्ध के घाव सहते रहोगे। (७५) इस देह-सम्बन्ध से डग-डग पर आत्मघात ही होता है और भोगों से कभी विश्राम नहीं मिलता। (७६) यदि तुम मेरा उपदेश न सुनोगे तो तुम्हें इतनी दारुण, बिना मृत्यु की मृत्यु प्राप्त होगी। (७७)

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

पथ्य का द्वेष करनेहारा रोगी जैसे ज्वर की पुष्टि ही करता है अथवा दीपक का द्वेष करनेहारा जैसे अन्धकार को ही बढ़ाता है, वैसे ही विवेक के द्वेष से अहङ्कार को बढ़ाकर (७८) तुम अपने शरीर को अर्जुन, शत्रुओं को अपने स्वजन और इस संग्राम को मलिन पापाचरण, (७९) इस प्रकार अपने मतानुसार तीनों को तीन नाम देकर हे धनञ्जय! अपने हृदय में जो यह दृढ़ निश्चय करते हो कि युद्ध

न करना चाहिए सो तुम्हारे नैसर्गिक स्वभाव अर्थात् क्षात्रधर्म के सम्मुख वृथा है। (१२८०-८१) और मैं अर्जुन हूँ और ये मेरे आप्त-जन हैं, इनका वध करना पाप है आदि बातें क्या माया के अतिरिक्त तत्त्वत: कुछ सत्य हैं? (८२) तुम स्वभावत: योद्धा हो तो तुम्हें युद्ध करने के लिए शस्त्र उठाना चाहिए कि युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए? (८३) अत: तुम्हारा युद्ध न करने का निश्चय वृथा है, तथा लोक-दृष्टि से भी लोक-व्यवहार के योग्य नहीं माना जा सकता; (८४) एवं तुम यद्यपि मन में निश्चय कर रहे हो कि युद्ध न करेंगे तथापि प्रकृति तुमसे उसके विरुद्ध ही करावेगी। (८५)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुन्नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

पानी पूर्व की ओर बहता हो तो पश्चिम की ओर तैरना केवल हठ करना है, क्योंकि तैरनेहारे को पानी अपने प्रवाह की ओर ही खींचता है, (८६) अथवा धान का कण कहे कि मैं धानरूप से न उगूँ तो स्वभाव-धर्म के विपरीत होने के कारण क्या ऐसी बात हो सकती है? (८७) वैसे ही हे प्रबुद्ध! प्रकृति ने तुम्हें क्षात्र संस्कारों से युक्त रचा है, अत: तुम्हारा यह कहना कि हम युद्ध नहीं करते केवल एक व्यापार है; परन्तु तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा। (८८) हे पाण्डुसुत! प्रकृति ने तुम्हें जन्म से ही शूरता, तेज, दक्षता इत्यादि गुण दिये हैं। (८९) अत: हे धनञ्जय! उस गुण-समुदाय के अनुरूप कर्म न करके तुम चुपचाप नहीं बैठ सकते। (१२९०) अतएव हे कोदण्डपाणि! तुम तीन गुणों से तीनों ओर बँधे रहने के कारण अवश्य ही क्षात्रधर्म के मार्ग में प्रवृत होगे, (९१) अथवा यद्यपि तुम अपने जन्म के मूल का विचार न करते हुए केवल यही अटल निश्चय कर लो कि मैं युद्ध न करूँगा (९२) तथापि जिसे हाथ-पाँव बाँधकर रथ में बैठा रक्खा हो वह जैसे स्वयं न चल कर भी देशान्तर को चला जाता है (९३) वैसे ही तुम अपनी ओर से यह कहकर चुपचाप रहो कि मैं कुछ कर्म नहीं करता तथापि तुम्हें अवश्य ही करना पड़ेगा। (९४) गोग्रहण के समय जब राजा उत्तर युद्ध में से भागता था तब तुमने क्यों युद्ध किया? यही तुम्हारा क्षत्रिय-स्वभाव तुमसे अब भी युद्ध करावेगा। (९५) जिस स्वभाव-बल से ग्यारह अक्षौहिणी

सेना को तुमने अकेले ही युद्ध में पराजित किया वही स्वभाव है कोदण्डपाणि! तुम्हें अब भी लड़ावेगा। (९६) अजी! रोगी को क्या रोग की चाह रहती है, दरिद्री को क्या दरिद्रता की इच्छा रहती है, तथापि जिस बलिष्ठ प्रारब्धानुसार उन्हें रोग या दरिद्रता भोगनी ही पड़ती है (९७) वह प्रारब्ध ईश्वर के वश होने के कारण अन्यथा कभी नहीं होता। वह ईश्वर भी तुम्हारे हृदय में वसता है। (९८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

जो सब भूतों के भीतर रहनेहारे हृदय-रूपी महाकाश में ज्ञान वृत्ति-रूपी हजारों किरणों-सहित उदित हुआ है, (९९) और जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थारूपी तीनों लोकों को सम्पूर्ण प्रकाशित कर विपरीत ज्ञानवाले पथिकों को जागृत करता है, (१,००) जो वेद्य-रूपी जल के सरोवर में विषयरूपी कमलों के खिलते ही उन्हें इन्द्रियरूपी छः पाँववाले जीवरूपी भ्रमरों से चरवाता है—(१) अस्तु, रूपक जाने दो—वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के अहङ्कार से आवृत्त हो सर्वदा उल्लसित है। (२) निजमायारूपी परदे की आड़ में खड़ा हो वह अकेला डोरी हिलाता है और बाहर की ओर चौरासी लाख छायाचित्रों को सजाता (३) और ब्रह्मा से लेकर कीटक तक सब भूतों को उनके योग्यतानुसार देहाकार दिखाता है, (४) एवं जिसके सन्मुख, उसके योग्यतानुसार, जो देह रखता है उसे वह जीव समझता है कि यह मैं ही हूँ। इस बुद्धि से वह जीव उस देह पर आरूढ़ हो जाता है। (५) सूत सूत से ही लपेटा गया हो, घास घास से ही बाँधी गई हो, अथवा बालक जैसे जल में अपना प्रतिबिम्ब देख भ्रम में पड़े, (६) वैसे ही यह जान कर कि देहस्वरूप से दिखाई देनेहारा मैं ही हूँ, जीव आत्मबुद्धि प्रकट करता है। (७) इस प्रकार शरीर रूपी यन्त्रों पर जीवों को बैठाकर वह ईश्वर आप पूर्व कर्मरूपी सूत्र हिलाता है। (८) तब जिसके लिए जो कर्मसूत्र स्वतन्त्र रच रक्खा हो वह वैसी ही गति को पहुँचता है। (९) बहुत क्या कहें, हे धनुर्धर! वायु जैसे तिनकों को आकाश में घुमाती है वैसे ही ईश्वर प्राणियों को स्वर्ग और संसार में घुमाता है। (१३१०) चुम्बक के सङ्ग में लोहा जैसे चक्कर खाता है वैसे ही जीवगण ईश्वर

की सत्ता से व्यापार करते हैं। (११) हे धनञ्जय! जैसे समुद्र इत्यादि, एक चन्द्रमा के सान्निध्य से, अपने-अपने योग्यतानुरूप व्यापार करते हैं—(१२) समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, सोमकान्त मणि पसीजता है और कुमुद और चकोर पक्षी आनन्द प्रदर्शित करते हैं, (१३) वैसे ही मूलप्रकृति के वश अनेक जीवों को जो व्यापार में प्रवृत्त करता है वह एक ईश्वर तुम्हारे हृदय में है। (१४) हे पाण्डुसुत! अर्जुनत्व को छोड़ तुममें जो अहंवृत्ति उठती है वही उस ईश्वर का तात्त्विक स्वरूप है। (१५) इसलिए यह निश्चय जानो कि वह प्रकृति को प्रवृत्त करेगा, और यद्यपि तुम युद्ध न करो तथापि वह प्रकृति तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगी। (१६) तात्पर्य कि ईश्वर स्वामी है, वह प्रकृति का नियमन करता है और प्रकृति अपने इच्छानुसार इन्द्रियों से कर्म करवाती है। (१७) तुम्हें चाहिए कि करना न करना दोनों प्रकृति को सौंप कर प्रकृति भी जिस हृदयस्थ ईश्वर के अधीन है (१८)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परांशान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

—उसे अपना अहङ्कार, काया, वाचा और मन अर्पण कर, गङ्गाजल जैसे समुद्र की शरण में जाता है वैसे उसकी शरण में जाओ। (१९) उसके प्रसाद से तुम सब विषयों की उपशान्तिरूपी स्त्री के पति हो आत्मानन्द से निजरूप में ही रममाण होगे। (१३२०) और उत्पत्ति जहाँ से उत्पन्न होती है, विश्रान्ति जहाँ विश्राम पाती है, अनुभूति जिस अनुभव का अनुभव लेती है, (२१) लक्ष्मीनाथ कहते हैं हे पार्थ! इस अक्षय स्वात्मपद के तुम राजा बन जाओगे। (२२)

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

यह जो गीता नाम से प्रसिद्ध है, जो सब वेदों का सार है, जिससे आत्मा रत्न के समान करगत हो सकती है, (२३) वेदान्त ने ज्ञान नाम से जिसकी महिमा वर्णन की है, अतः सब संसार में जिसकी उत्तम कीर्ति फैल गई है, (२४) बुद्धि इत्यादि ज्ञान जिस ज्ञान के सन्मुख अन्धकाररूप हैं, जिसका उदय होते ही मैं सर्वद्रष्टा दिखाई देता हूँ, (२५) वह आत्मज्ञान मुझ सर्वगुण का भी गुप्त धन है, परन्तु तुम्हें पराया समझ कर मैं उस गुप्त धन का क्या करूँ? (२६) अतएव हे

पाण्डव ! मैंने कृपा से व्याप्त हो वह गुप्त धन तुम्हें दे दिया। (२७) जैसे प्रेम में भूली हुई माता बालक से प्रेम-युक्त वचन बोलती है मैंने केवल वैसा ही नहीं किया (२८) वरन् आकाश भी जैसे गलाया जाय, अमृत की भी छाल निकाली जाय, अथवा जो स्वयं दिव्य है उसे और दिव्य किया जाय, (२९) जिसके अङ्ग-प्रकाश से पाताल का भी परमाणु दिखाई दे सकता है उस सूर्य को भी जैसे अञ्जन लगाया जाय (१३३०) वैसे ही मुझ सर्वज्ञ ने भी सब बातों की छान-बीन कर निश्चय किया और हे धनञ्जय। जो तुम्हारे हित का था वही उपदेश किया। (३१) अब इस पर तुम्हें क्या करना चाहिए, इसका तुम भी विचार कर निश्चय करो और फिर जैसा चाहो वैसा करो। (३२) श्रीकृष्ण के ये वचन सुन कर अर्जुन चुपचाप हो रहा। तब देव ने कहा तुम वञ्चना करनेहारे नहीं हो। (३३) परोसनेहारी परोसती हो तथापि भूखा मनुष्य यदि लज्जा से कह दे कि मैं अघा गया तो वही भूख से व्याकुल होगा, अतः उसका दोष उसी पर है; (३४) वैसे ही सर्वज्ञ श्रीगुरु मिलने पर यदि शिष्य लज्जावश हो आत्मनिश्चय न पूछे (३५) तो वह निज की ही वञ्चना करता है, और उस वञ्चना का पाप भी लगता है तथा वह आत्मस्वरूप से अवश्य ही वञ्चित हो रहता है। (३६) परन्तु हे धनञ्जय ! तुम चुप रहे हो इसका अर्थ यही मालूम होता है कि हम एक बार फिर से उस ज्ञान का सार कह बतावें। (३७) तब अर्जुन ने कहा—हे गुरु ! आप मेरा अन्तःकरण जाननेहारे हो। पर इसमें कहना ही क्या है ? आपके अतिरिक्त क्या कोई दूसरा जाननेहारा है ? (३८) अन्य जो सम्पूर्ण वस्तुएँ हैं वे ज्ञेय हैं, आप ही एक स्वभावतः ज्ञाता हैं। अतः सूर्य को सूर्य कह कर स्तुति करने से क्या प्रयोजन है ? (३९) यह वचन सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा कि यह क्या थोड़ी स्तुति हुई ? यदि तुम जानना चाहते हो (१३४०)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

—तो खूब सावधान होकर एक बार और मेरे निर्मल वचन सुन लो। (४१) यह बात ऐसी नहीं है कि बोलने के योग्य हो और बोली जा सके, अथवा सुनने का विषय हो और सुनी जा सके। परन्तु तुम्हारा भाग्य अच्छा है। (४२) कछुवी के बच्चों के लिए हे

धनञ्जय! उसकी दृष्टि ही पन्हाती है, चातक के लिए आकाश ही पानी भर लाता है, (४३) जहाँ जो व्यवहार नहीं घटता वहाँ भाग्य-वशात् उसका फल ही प्राप्त हो जाता है; दैव अनुकूल हो तो कौनसा लाभ नहीं हो सकता? (४४) अन्यथा यह रहस्य, जिसका कि हम वर्णन करते हैं, ऐसा है कि उसका उपभोग द्वैतभाव को दूर कर एकता के घर में ही हो सकता है। (४५) और हे प्रियोत्तम! जो निष्काम प्रेम का विषय है वह दूसरा नहीं, आत्मा ही है। (४६) हे धनञ्जय! देखने के समय जो दर्पण साफ किया जाता है वह जैसे दर्पण के हेतु नहीं, अपने ही लिए किया जाता है (४७) वैसे ही हे पार्थ! मैं तुम्हारे मिस से केवल अपने लिए ही बोलता हूँ। हमारे-तुम्हारे बीच क्या कोई द्वैतभाव है? (४८) अतः मैं अपने जीवरूप तुम पर अपना अन्तर्गत रहस्य प्रकट करता हूँ। मुझे इस एकनिष्ठता का मानों व्यसन है। (४९) हे पाण्डुसुत! लवण अपना देह जल में अर्पण करते ही निज को भूल जाता है और सम्पूर्ण जलरूप होते हुए लज्जित नहीं होता, (१३५०) वैसे ही जब तुम मुझसे कुछ भी छिपाव नहीं रखते तो मैं भी तुमसे क्या गुप्त रख सकता हूँ? (५१) अतएव जिसके सन्मुख सम्पूर्ण गूढ़ बातें अत्यन्त प्रकट हो जाती हैं ऐसा हमारा गुह्य और निर्मल वचन सुनो। (५२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

हे वीर! अपने अन्तर्बाह्य सब व्यापारों का विषय मुझ व्यापक को ही बना दो। (५३) वायु जैसे पूर्णतः आकाश से मिली हुई रहती है वैसे ही तुम सब कर्मों के समय मुझसे ही मिले हुए रहो। (५४) बहुत क्या कहें, अपने मन के लिए मुझे ही एक स्थान बना लो और अपने श्रवण मेरे ही गुणश्रवण से भर लो। (५५) जो आत्मज्ञान से निर्मल हुए हैं तथा जो मेरे ही स्वरूप हैं उन सन्तों पर ही तुम्हारी दृष्टि पड़े, जैसे कि कामी मनुष्य की दृष्टि उसकी इष्ट स्त्री पर ही पड़ती है। (५६) मैं सब संसार का वसतिस्थान हूँ। मेरे जो शुद्ध नाम हैं उन्हें अन्तःकरण में आने के लिए वाचा के मार्ग से लगा दो। (५७) ऐसी चेष्टा करो कि हाथों का कर्म करना या पाँवों का चलना भी मेरे ही हेतु हो। (५८) हे पाण्डव! अपना हो या पराया

उस पर उपकाररूपी यज्ञ कर मेरे उत्तम याज्ञिक बनो। (५९) एक-एक बात क्या सिखाऊँ, अपनी ओर केवल सेवकोई रख अन्य सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो (१३६०) तथा भूत द्वेष छोड़ कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करने से तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रय का लाभ होगा, (६१) और इस भरे हुए संसार में तीसरे की वार्ता मिटकर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा। (६२) फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावत आनन्द की वृद्धि होगी। (६३) और हे अर्जुन! जब प्रतिबन्ध करनेवारी तीसरी वस्तु का नाश हो जावेगा तब तुम मद्रूप ही होने के कारण अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे। (६४) जल के प्रतिबिम्ब को, जल के नाश होने पर, बिम्ब में मिल जाने के लिए क्या कोई प्रतिबन्ध होता है? (६५) वायु को आकाश में मिलने के लिए, अथवा लहरों को समुद्र में मिलने के लिए किसका प्रतिबन्ध है? (६६) इसलिए तुम और हम रूपी द्वैत देहधर्म के कारण दिखाई देता है। देहधर्म के नाश के समय तुम मद्रूप हो जाओगे। (६७) इस बात में सन्देह मत करो। इसमें कुछ मिथ्या हो तो तुम्हारी ही शपथ। (६८) तुम्हारी शपथ उठाना आत्मस्वरूप को ही स्पर्श करना है, परन्तु प्रेम की जाति ही ऐसी है कि लज्जा का स्मरण नहीं होने देती। (६९) अन्यथा जिसके कारण प्रपञ्च-सहित यह विश्वाभास सत्य प्रतीत होता है, तथा जिसकी आज्ञा का प्रताप काल को भी जीतता है (१३७०) वह मैं सत्य-सङ्कल्प ईश्वर हूँ और जगत् का हितचिन्तक पिता हूँ, फिर मुझे शपथ खाने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए? (७१) परन्तु हे अर्जुन! तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने ईश्वरत्व के चिह्नों का त्याग कर दिया है। अजी! तुम्हारी पूर्णता के सम्मुख मैं अपूर्ण हो रहा हूँ, (७२) तथाच राजा जैसे अपने कार्य के हेतु अपनी ही शपथ लेता है वैसे ही इस ढङ्ग को भी समझो। (७३) इस पर अर्जुन ने कहा हे देव! ऐसे अद्भुत वचन न कहिए। वास्तव में हमारे सब कार्य केवल आपके एक नाम से ही सिद्ध हो जाते हैं, (७४) तिस पर आप स्वयं उपदेश कर रहे हैं, और उसमें शपथ भी खाते हैं! आपके इस विनोद का कहीं ठिकाना है? (७५) कमलों के वन को सूर्य की एक किरण प्रकाशित कर सकती है, परन्तु वह उसे सदा अपना सम्पूर्ण

प्रकाश दे देता है; (७६) पृथ्वी को शान्त कर जो सागर भी भर देती है वह वर्षा केवल एक चातक के मिस से ही होती है, (७७) वैसे ही हे दानियों के राजा, हे कृपानिधि! आपकी उदारता के लिए मैं एक निमित्त हुआ हूँ। (७८) तब श्रीकृष्ण ने कहा—ठहरो, ऐसा कहने का कोई अवसर नहीं है। यह सच है कि उपर्युक्त उपाय से तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे। (७९) हे धनञ्जय! जिस क्षण सैन्धव समुद्र में पड़ता है उसी क्षण वह गल जाता है, फिर शेष रहने का कारण ही कौन सा है? (१३८०) वैसे ही सब भावों से मेरी भक्ति करने से, सर्वत्र मुझे ही देखने से, सम्पूर्ण अहङ्कार का नाश हो जावेगा और तुम तत्त्वतः मद्रूप हो जाओगे। (८१) इस प्रकार कर्म से लेकर मेरी प्राप्ति तक उपायों का स्पष्ट रीति से वर्णन हो चुका (८२) अर्थात् हे पाण्डुसुत! प्रथम सब कर्मों को मुझे समर्पित कर सर्वतः मेरा प्रसाद प्राप्त करना चाहिए। (८३) अनन्तर मेरे प्रसाद से मेरा ज्ञान सिद्ध होता है, और उससे अवश्य ही मेरे स्वरूप की सायुज्यता प्राप्त हो सकती है। (८४) फिर हे पार्थ! उस समय साध्य और साधन नहीं रहते, अधिक क्या कहूँ कुछ भी शेष नहीं रहता। (८५) तुमने अपने सब कर्म सर्वदा मुझे समर्पित किये हैं, इसलिए आज मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ (८६) तथा इस प्रसन्नता के बल से मुक्त हो इस अपूर्व युद्ध के प्रतिबन्ध की परवाह न करके मैं एकदम तुम पर भूल गया हूँ। (८७) क्योंकि जिससे प्रपञ्च-सहित अज्ञान का नाश होता है, जिससे केवल मैं दृग्गोचर होता हूँ, जो गीतारूप है, उपपत्ति-पूर्वक ऐसे (८८) आत्मज्ञान का मैंने तुम्हें नाना प्रकार से उपदेश किया है जिससे कि तुम्हारे पाप-पुण्य-रूपी सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो चुका। (८९)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

आशा से जैसे दुःख, अथवा निन्दा से पाप, अथवा दुर्भाग्य से दरिद्रता उत्पन्न होती है, (१३९०) वैसे ही स्वर्ग और नरक की सूचना करनेवाले अज्ञान से धर्म इत्यादि उत्पन्न होते हैं। उस अज्ञान को इस ज्ञान के बल से निःशेष नष्ट कर डालो। (९१) रज्जु हाथ में लेने से जैसे सर्पाभास नष्ट हो जाता है, अथवा नींद से उठने पर जैसे

स्वप्न का प्रपञ्च नष्ट हो जाता है, (९२) अथवा पीलिया रोग की निवृत्ति होने पर जैसे चन्द्रमा का पीला दिखाई देना बन्द हो जाता है, अथवा रोग नष्ट होने पर जैसे मुँह का कड़ुवापन भी चला जाता है, (९३) अजी ! दिन के पीठ फेरते ही जैसे मृगजल भी अदृश्य हो जाता है, अथवा काठ का त्याग करने से जैसे उसमे रहनेहारी अग्नि का भी त्याग हो जाता है, (९४) वैसे ही जिससे धर्माधर्म का कोलाहल प्रतीत होता है उस मूल अज्ञान का त्याग कर सम्पूर्ण धर्म का त्याग करो। (९५) फिर अज्ञान मिट जाने पर स्वभावतः एक मै ही शेष रहता हूँ। जैसे निद्रा-सहित स्वप्न का नाश हो जाने पर मनुष्य आप ही अकेला रह जाता है (९६) वैसे ही केवल एक मेरे अतिरिक्त कोई भिन्न पदार्थ नहीं रहता। ऐसा जो मैं हूँ उनसे सोऽहं-ज्ञान द्वारा अनन्य हो रहो। (९७) निज को भिन्न न समझकर मेरी एकता जानना ही मेरी शरण में आना कहलाता है। (९८) जैसे घट के नाश से घटाकाश आकाश मे मिल जाता है वैसी ही एकता मेरी शरण में आकर होनी चाहिए। (९९) सुवर्ण मणि जैसे सोने में मिल जाता है, तरङ्ग जैसे पानी मे मिल जाती है, वैसे ही हे धनञ्जय। तुम मेरी शरण में आओ। (१४००) अन्यथा हे किरीटो। वड़वाग्नि भी समुद्र के पेट की शरण मे है तथापि वह जुदी ही जलती रहती है वैसी सब बातें छोड़ दो। (१) मेरी शरण मे आना और फिर जीवाभिमान रखना ! धिक्कार है ! ऐसा कहते हुए लोगों को लज्जा नहीं आती ? (२) अजी हे धनञ्जय ! सामान्य राजा का भी सम्बन्ध करने से उसकी दासी भी उसकी बराबरी की हो जाती है। (३) फिर मुझ विश्वेश्वर की भेंट हो और जीवदशा न छूटे ! इन अभद्र शब्दों को सुनना भी न चाहिए। (४) अब ऐसा करो कि जिससे मद्रूपता प्राप्त हो जाय और मेरी सेवा सहज में हो सके। ज्ञान से यह बात हाथ आती है। (५) फिर जैसे मट्ठे से निकाला हुआ माखन फिर मट्ठे में डालने से उसमें, चाहे कुछ भी क्यों न करो, नहीं मिलता, (६) वैसे ही अद्वैत भाव से मेरी शरण मे आने पर स्वभावत धर्माधर्म भी तुम्हें स्पर्श न करेंगे। (७) निरे लोहे पर जङ्ग चढ़ता है, पर पारस के सङ्ग से जब वह लोहा सोना हो जाता है तब उस पर कोई मैल नहीं बैठ सकता, (८) अथवा अगर काठ को रगड़ कर अग्नि निकाली जाय तो वह फिर से काठ मे बन्द नहीं हो

सकती। (९) हे अर्जुन! सूर्य क्या कभी अँधेरा देखता है! अथवा जागृत होने पर क्या स्वप्न का भ्रम दिखाई दे सकता है? (१४१०) वैसे ही मुझसे एकरूप होने पर मेरे स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ क्योंकर शेष रह सकता है? (११) अतएव इसकी तुम अपने मन में कुछ चिन्ता न करो। तुम्हारा सब पाप-पुण्य मैं ही हो जाऊँगा। (१२) फिर सब बन्ध-चिह्नों सहित पाप का भिन्न रह जाना, मेरे ज्ञान के कारण, मिथ्या हो जावेगा। (१३) जल में लवण डाला जाय तो उसका सर्वत्र जल ही हो रहता है वैसे ही हे ज्ञानी! अनन्य रीति से मेरी शरण में आने पर तुम्हें सर्वत्र मत्स्व-रूप ही प्रतीत होगा। (१४) इस प्रकार हे धनञ्जय! तुम आप ही आप मुक्त हो जाओगे। मुझे जान लो तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। (१५) अतः मुक्ति की चिन्ता मत करो। हे सुमति! केवल मुझ अद्वितीय को जान कर मेरी शरण में आओ। (१६) सब रूपों के रूप, सब नेत्रों के नेत्र, सब स्थानों के निवासस्थान श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले, (१७) और अपना कङ्कण-युक्त और श्यामल दाहिना बाहु फैला कर उन्होंने शरणागत भक्तराज अर्जुन को हृदय से लगा लिया। (१८) जिसकी प्राप्ति न होने के कारण वाणी, बुद्धि को बगल में दबा कर, पीछे हटती है; (१९) ऐसी जो वस्तु है, जो वाचा और बुद्धि को अप्राप्य है, वह अर्जुन को देने के लिए श्रीकृष्ण ने मानों आलिङ्गन का बहाना किया। (१४२०) उनका हृदय से हृदय मिल गया। इस हृदय की वस्तु उस हृदय में भर दी गई। इस प्रकार द्वैत का नाश न करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना जैसा बना लिया। (२१) वह आलिङ्गन ऐसा हुआ मानो दीपक से दीपक लगाया गया हो। इस प्रकार द्वैत न मिटा कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निजस्वरूप कर डाला। (२२) तब अर्जुन को जो आनन्द की बाढ़ आई उसमें श्रीकृष्ण भी—जो इतने श्रेष्ठ थे—डूब रहे। (२३) समुद्र यदि समुद्र को मिलने जाय तो मिलना तो अलग रहा वही दूना हो जाता है और ऊपर से आकाश भी सहायक हो जाता है, (२४) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन का मिलाप था। वह आनन्द दोनों से सँभाला नहीं सँभलता था, तो उसे जान कौन सकता है? बहुत क्या कहें, सम्पूर्ण विश्व श्रीकृष्ण-मय हो गया। (२५) इस प्रकार यह गीता-शास्त्र वेदों का मूलसूत्र है। यही एक ऐसी पवित्र वस्तु है जिसके विषय में सबों को अधिकार है।

इस गीता-शास्त्र को श्रीकृष्ण ने प्रकट किया है। (२६) यदि आप कहें कि यह कैसे जाना जाय कि गीता वेदों का मूल है तो सुनिए। हम इसकी एक प्रसिद्ध उपपत्ति वर्णन करते हैं। (२७) जिसके श्वासोच्छ्वासों से वेदों का जन्म हुआ है उसी सत्यसङ्कल्प भगवान् ने प्रतिज्ञा पूर्वक अपने ही मुख से इस गीता का निरूपण किया है। (२८) इसलिए 'गीता वेदों का मूल है' यह कहना उचित ही है। इस विषय में और भी एक उपपत्ति है। (२९) अर्थात् जो अपने स्वरूप से नष्ट न होते हुए भी किसी अन्य वस्तु का विस्तार निज में लीन रखता है, वह संसार में उस वस्तु का बीज कहाता है। (१४३०) उसी प्रकार जैसे बीज में वृक्ष समाविष्ट है वैसे ही गीता में भी कर्म, उपासना और ज्ञानरूपी सम्पूर्ण वेद समाया हुआ है। (३१) इसलिए मुझे गीता वेदों का बीज दिखाई देती है। और वैसे भी यही बात प्रतीत हो रही है। (३२) क्योंकि जैसे सब शरीर अलङ्कार और रत्नों से सुशोभित किया जाय वैसे ही गीता में वेद के तीनों भाग शोभा दे रहे हैं। (३३) वे कर्म इत्यादि तीनों काण्ड गीता के किन किन स्थानों में हैं सो हम दिखाते हैं, सुनो। (३४) गीता का पहला अध्याय शास्त्र-निरूपण की प्रस्तावना है। दूसरे अध्याय में सांख्यशास्त्र का तात्पर्य प्रकाशित किया गया है। (३५) इसी अध्याय में यह भी प्रस्तार किया है कि यह ज्ञान-प्रधान शास्त्र स्वतन्त्रत: मोक्षदायक है। (३६) फिर तीसरे अध्याय में अज्ञान से बद्ध लोगों को मोक्षपद प्राप्त कराने के लिए साधन का आरम्भ कहा है। (३७) देहाभिमानरूपी बन्धन और निषिद्ध कर्मों को छोड़ विहित कर्म करना कभी न भूलना चाहिए, (३८) अर्थात् सद्भावपूर्वक कर्म करना चाहिए, ऐसा जो निर्णय श्रीकृष्ण ने तीसरे अध्याय में किया है उसे कर्मकाण्ड समझो। (३९) और वही नित्य नैमित्तिक अज्ञानात्मक परन्तु आवश्यक कर्म किस प्रकार मोक्ष के हेतु हो जाते हैं (१४४०) यह जानने की इच्छा हो, अर्थात् बद्ध मनुष्य मुमुक्षु दशा को प्राप्त हो, तो उसके लिए श्रीकृष्ण ने ब्रह्मार्पण-पूर्वक कर्म करने का उपदेश किया है (४१) और कहा है कि काया, वाचा और मन से जो विहित कर्म किया जाय वह एक ईश्वर के ही उद्देश्य से किया जाना चाहिए। (४२) यह कर्मयोग-पूर्वक ईश्वर की भजन-कथा का वर्णन चतुर्थ अध्याय के अंत में आरम्भ किया गया है (४३) और जहाँ विश्वरूपात्मक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त होता है

वहाँ तक यही निरूपण चला गया है कि कर्म के द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिए। (४४) आठवें अध्याय में तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यहाँ गीताशास्त्र बिना ओट या परदे के देवताकाण्ड का ही प्रतिपादन करता है। (४५) और उसी ईश्वर के प्रसाद से श्रीगुरु-सम्प्रदाय से प्राप्त होनेवाला जो कोमल और सत्यज्ञान उत्पन्न होता है (४६) वह बारहवें अध्याय के "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादि श्लोकों में, अथवा तेरहवें अध्याय के "अमानित्वमदंभित्व" इत्यादि श्लोकों में भी विस्तार-पूर्वक कहा है इसलिए इस बारहवें अध्याय की गणना ज्ञानकाण्ड में करते हैं। (४७) उस बारहवें अध्याय से लेकर पन्द्रहवें अध्याय के अन्त तक ज्ञानरूपी फल की परिपाकसिद्धि का निरूपण किया गया है। (४८) इसलिए जिनके अन्त में "ऊर्ध्वमूलमधःशाखं" इत्यादि श्लोकवाला पन्द्रहवाँ अध्याय है उन चारों अध्यायों में ज्ञान-काण्ड का वर्णन है। (४९) इस प्रकार यह एक काण्डत्रयरूपिणी छोटी-सी श्रुति ही है जो गीता के पद्यरूपी रत्नों के अलङ्कार पहने हुए है। (१४५०) अस्तु, काण्डत्रयात्मक श्रुति जो गर्जना कर कहती है कि एक मोक्षरूपी फल ही अवश्य प्राप्तव्य है; (५१) उस फल के साधन ज्ञान से जो प्रतिदिन वैर करता है उस अज्ञानवर्ग का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है, (५२) तथा सत्रहवें अध्याय में यह सन्देशा है कि शास्त्र की सहायता लेकर उस वैरी को जीतना चाहिए। (५३) इस प्रकार पहले से ले सत्रहवें तक श्रीकृष्ण ने वेदों का ही तात्पर्य कहा है। (५४) और जिसमें उन सब अर्थों के अभिप्राय का विचार किया है वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है। (५५) इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान के समुद्र श्रीकृष्ण ने अत्यन्त उदार हो भगवद्गीता ग्रन्थरूप से मानों मूर्त्तिमान् वेद ही रचा है। (५६) वेद स्वयं सम्पन्न है, परन्तु उस जैसा कृपण भी दूसरा नहीं है। क्योंकि उसे तीन ही वर्ण सुन सकते हैं। (५७) अन्य—स्त्री, शूद्र इत्यादि—प्राणियों को, संसार-दुख होते हुए भी वेदों से लाभ उठाने का अधिकार नहीं। (५८) अतः मैं समझता हूँ कि श्रीकृष्ण ने इस पूर्व त्रुटि की पूर्त्ति करने के लिए ही वेदों को गीता रूप से रच दिया जिसमें हर कोई उसका सेवन कर सके; (५९) अथवा मन में उसका अर्थ समझना, कानों से सुनना, अथवा जप के मिस से मुख में रखना, (१४६०) जो इस गीता का पाठ करना जानता है उसको

सहाय के लिए गीता को पुस्तक रूप से लिखना और लिये फिरना (६१) इत्यादि मिस से संसार के चौरास्ते पर वेद ने मानों मोक्ष-सुख का उत्तम सदावर्त बैठाया है। (६२) आकाश में बसने के लिए, पृथ्वी पर बैठने के लिए, सूर्य-प्रकाश में व्यवहार करने के लिए, अथवा आकाश में अहाता घेरने के लिए किसी को प्रतिबन्ध नहीं होता, (६३) वैसे ही इसे कोई भी सेवन करे, यह नहीं पूछता कि तुम उत्तम वर्ण के हो या अधम वर्ण के। यह सब संसार को मोक्ष देकर समान ही सुख देता है। (६४) इससे जान पड़ता है कि वेद पिछली निन्दा से डर कर गीता के गर्भ में आकर अब उत्तम कीर्त्ति का पात्र हुआ है। (६५) अतः हे पाण्डुसुत! वेदों का रूप, हर किसी के सेवन करने योग्य, यह मूर्त्तिमती गीता ही है जिसका श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश किया। (६६) बछड़े के प्रेम से गाय का पनहाना घर भर के लिए दूध दिलाता है; वैसे ही पाण्डव के मिस से श्रीकृष्ण ने सब जगत् का उद्धार किया है। (६७) मेघ चातक पर दया कर, जल भर कर दौड़ आते हैं पर उससे जैसे सम्पूर्ण चराचर की शान्ति होती है, (६८) अथवा सूर्य केवल एकनिष्ठ कमलों के लिए ही बार-बार उदित होता है पर उससे जैसे त्रिभुवन के नेत्रों को सुख होता है, (६९) वैसे ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मिस से गीता प्रकाशित कर जगत् का प्रपञ्च सरीखा भारी बोझा हटा दिया। (१४७०) ये श्रीकृष्ण नहीं, निजस्वरूपी आकाश के तीनों जगतों में सकल शास्त्ररूपी रत्नप्रभा प्रकाशित करनेहारे सूर्य ही हैं। (७१) उस कुल को अत्यन्त पवित्र समझना चाहिए जिसमें इस ज्ञान का पात्र अर्जुन उत्पन्न हुआ और जिसने संसार के लिए गीतारूपी एक स्वतन्त्र बाड़ी बना दी। (७२) अस्तु, अर्जुन जो श्रीकृष्ण से एक-रूप हो गया था उसे श्रीकृष्ण फिर द्वैतभाव पर ले आये (७३) और बोले—हे पाण्डव! इस शास्त्र का तुम्हें ठीक परिज्ञान हुआ या नहीं? अर्जुन ने कहा—हे देव! आपकी कृपा से। (७४) फिर देव कहते हैं—हे धनञ्जय! द्रव्य का लाभ चाहे भले ही भाग्य में बदा हो पर सम्पादित धन का उपभोग होना कदाचित् ही होता है। (७५) क्षीरसागर सरीखे बिना जमे हुए दूध के पात्र की प्राप्ति होने पर भी उसे मन्थन करने में देवताओं और राक्षसों को कितने कष्ट उठाने पड़े! (७६) तथापि उस श्रम का भी फल हुआ, अर्थात् अमृत आँखों से दिखाई दिया। परन्तु अन-

न्तर उन्होंने उसका जतन करने में भूल की। (७७) इससे सन्मुख जो अमरत्व परोसा गया वही राहु के मरण का हेतु हो गया। उपभोग लेना न आता हो तो सम्पत्ति का फल ऐसा होता है। (७८) नहुष स्वर्ग का अधिपति हो गया परन्तु उसके अनुरूप वर्ताव करना भूल गया, इससे उसका जन्म सर्प का हुआ—यह बात क्या तुम नहीं जानते? (७९) अतएव हे धनञ्जय! तुमने बहुत पुण्य किये हैं जिससे आज तुम इस गीता-शास्त्र के अधिकारी हुए हो। [तुम्हारी ही वजह से गीता का कथन किया गया।] (१४८०) परन्तु अब इसी शास्त्र के सम्प्रदाय के अनुसार इस शास्त्रार्थ का उत्तम अनुष्ठान करो। (८१) नहीं तो हे अर्जुन! यदि सम्प्रदाय के अतिरिक्त अनुष्ठान की चेष्टा करोगे तो अमृत-मन्थन की कथा के समान हाल होगा। (८२) हे किरीटी! उत्तम और निर्दोष गाय प्राप्त हो तो भी अपने अनुरूप दूध वह तभी देगी जब कोई उसे दुहने की युक्ति जानता हो; (८३) वैसे ही श्रीगुरु प्रसन्न भी हो जायँ और शिष्य को विद्या भी प्राप्त हो गई हो परन्तु वह सम्प्रदाय-द्वारा उपासना करने से ही फलती है। (८४) इसलिए इस शास्त्र में जो उचित सम्प्रदाय है वह अब अत्यन्त आस्थापूर्वक सुनो। (८५)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

हे पार्थ! यह गीता शास्त्र तुम्हें आस्थाद्वारा प्राप्त हुआ है इसे तपोहीन मनुष्य से कभी न कहना चाहिए; (८६) अथवा, तपस्वी भी हो परन्तु गुरुभक्ति में शिथिल हो तो उसे भी ऐसे तज दो जैसे वेद शूद्रों का त्याग करता है; (८७) अथवा, यज्ञ का शेष पुरोडाश जैसे वृद्ध कौए को भी नहीं दिया जाता वैसे ही गीता भी गुरुभक्ति-हीन तपस्वी को न देनी चाहिए; (८८) अथवा जिसने शरीर से तप भी किया हो और जो गुरु और देव की भक्ति भी करता हो, परन्तु श्रवण करने की इच्छा नहीं रखता, (८९) वह उपर्युक्त दोनों अंगों से संसार में उत्तम गिना जाय तथापि गीता-श्रवण के लिए योग्य नहीं है। (१४९०) मोती चाहे जैसा हो परन्तु यदि उसमें छेद नहीं है तो क्या उसमें डोरी पोही जा सकती है? (९१) समुद्र गम्भीर होता है यह कौन नहीं कहता परन्तु वहाँ वर्षा हो तो वह वृथा ही जाती है।

(९२) अफरे हुए को मिष्ठान्न परोस कर वृथा खोने की अपेक्षा वह उदारता क्षुधित के प्रति क्यों न दिखानी चाहिए ? (९३) अतः कोई चाहे जितना योग्य हो परन्तु यदि उसे सुनने की इच्छा न हो तो यह गीता उसे कभी कौतुक से भी न सुनाओ। (९४) नेत्र रूप देखनेहारा है तथापि उसे क्या सुगन्ध सुँघाना योग्य है ? जहाँ जैसा करना योग्य हो वहाँ वैसा ही करना चाहिए। (९५) इसलिए हे सुभद्रापति ! तपस्वी हों, भक्त हों, पर शास्त्र-श्रवण में इच्छा रखनेहारे न हों तो उन्हे छोड़ देना चाहिए, (९६) अथवा तप है, भक्ति है, श्रवण करने की इच्छा है, ऐसी सामग्री भी दिखाई दे (९७) परन्तु गीता-शास्त्र को रचना करनेहारा और सकल लोकों का शासन करनेहारा जो मैं हूँ उसके विषय मे जो सामान्य शब्दों से बोले (९८) [मेरे और मेरे भक्तों के विषय मे निन्दासूचक शब्दों से बोलनेवाले बहुत से हैं] उन्हे इस गीता के उपदेश के योग्य मत समझो। (९९) उनकी अन्य सामग्री ऐसी समझो जैसे रात के समय बिना चिराग का कोई चिरागदान रक्खा हो। (१५००) देह गोरा हो, और अवस्था तरुण हो, तथा अलङ्कार भी पहने हो, परन्तु उसमें से जैसे एक प्राण ही निकल गया हो, (१) घर सुन्दर सोने सरीखा बना हो, परन्तु उसका द्वार जैसे कोई नागिन रोके हुए हो; (२) उत्तम पक्वान्न बना हुआ हो, पर उसमें जैसे कालकूट विष मिलाया हुआ हो; मित्रता हो, पर वह जैसे भीतर कपट से भरी हो (३) वैसे ही, हे प्रबुद्ध ! मेरी या मेरे भक्तों की निन्दा करनेवाले के तप, भक्ति वा सद्बुद्धि को भी जानो। (४) इसलिए हे धनञ्जय ! वह भक्त हो, बुद्धिमान् हो, और तपस्वी हो तथापि उसे इस शास्त्र का स्पर्श न करने दो। (५) बहुत क्या कहूँ, निन्दक यदि ब्रह्मदेव के समान भी योग्य हो तथापि उसे यह गीताशास्त्र कुतूहल से भी न देना चाहिए। (६) अतएव हे धनुर्धर ! जो तपरूपी नींव पर पूर्ण गुरुभक्तिरूपी मन्दिर बना है, (७) और जिसका श्रवणेच्छारूपी सामने का दरवाजा सर्वदा खुला रहता है, और जिस पर अनिन्दारूपी रत्न का उत्तम कलश चढ़ा हुआ है (८)

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

—ऐसे निर्मल भक्तरूपी मन्दिर पर इस गीतारत्नेश्वर की प्रतिष्ठा करो। ऐसा करने से तुम मेरी साम्यता पाने के योग्य हो जाओगे। (९) क्योंकि जो प्रणव एक 'ओं' अक्षर के रूप से अकार, उकार और मकाररूपी तीन मात्राओं के पेट में गर्भवास में अटका पड़ा था (१५१०) वह वेदरूपी बीज गीता-रूपी टहनियों-द्वारा विस्तृत हुआ है, और गीता के श्लोक उसके गायत्री-रूप फूल और फल हैं। (११) जो कोई ऐसी इस गुप्त मन्त्ररूपी गीता को मेरे भक्त को प्राप्त करा देता है, अनन्यगति बालक को जैसे माता आ मिले (१२) वैसे जो प्रेम से मेरे भक्तों को गीता की भेंट करा देता है, वह इस देह के पश्चात् मुझसे एकरूप ही हो जाता है। (१३)

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

और जब वह देहरूपी अलङ्कार धारण किये हुए जुदा रहता है तब भी मुझे वह प्राणों से और जी से प्यारा रहता है। (१४) ज्ञानी, कर्मठ और तपस्वी इन सब संकेतयुक्त मनुष्यों में जितना प्रिय मुझे वह है (१५) उतना हे पाण्डव! पृथ्वी में दूसरा नहीं दिखाई देता। जो भक्त-जनों के समुदाय में गीता का निरूपण करता है, (१६) मुझ ईश्वर पर प्रेम रख जो स्थिर चित्त से गीता का निरूपण करता हुआ सन्तों की सभा का भूषण बनता है, (१७) श्रोताओं को वृक्ष के नये निकले हुए पल्लवों के समान जो रोमाञ्चित करता है, मन्द वायु के समान कँपाता है, फूलों के बहते हुए जल [मधु] के समान आनन्दाश्रु बहवाता है, (१८) कोयल की मधुर वाणी के समान गद्गद वचन कहवाता है, इस प्रकार जो मेरे भक्तरूपी बगीचे में मानों वसन्तरूप हो प्रवेश करता है, (१९) अथवा आकाश में चन्द्रमा दिखाई देते ही जैसे चकोरों का जन्म सफल हो जाता है, अथवा मोर के गरजते ही जैसे नूतन मेघ मानों उसकी टेर सुन हूँका देता हुआ आ पहुँचता है, (१५२०) वैसे ही जो सज्जनों की समाज में, मेरे स्वरूप की ओर दृष्टि रखता हुआ, गीतापद्यरूपी रत्नों की अटूट वर्षा करता है (२१) उसके समान प्यारा मुझे कोई नहीं है, न पहले कभी था और न आगे होगा। (२२) हे अर्जुन! सन्तों को गीतार्थ की पहुनई करने-हारे को मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ। (२३)

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

उसी प्रकार तुम्हारे-हमारे समागम की जो यह कथा है जिसमें मोक्षधर्म भी पराजित हो गया है, (२४) उस सम्पूर्ण अर्थप्रद संवाद का—पदों का अर्थ न करके भी—जो केवल पाठ ही करेगा (७५) वह मानों ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर उसमें मूल अविद्या की आहुति दे मुझ परमात्मा को सन्तुष्ट कर लेगा। (७६) हे बुद्धिमान्! ज्ञानी जिस गीतार्थ को खोज कर प्राप्त करता है वही उस पाठ करनेहारे को भी प्राप्त हो जाता है। (७७) अत गीतापाठक को अर्थज्ञानी के समान ही फल मिलता है। गीता माता के पास ऐसा भेद नहीं है कि यह ज्ञानी बालक है और यह अज्ञानी बालक। (७८)

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

और जो सब तरह से, निन्दा छोड़कर, शुद्ध आस्थापूर्वक गीता श्रवण में श्रद्धा रखता है (२९) उसके कानों मे गीता के अक्षर प्रविष्ट नहीं होने पाते कि उसका पाप एकदम भाग जाता है। (१०३०) जङ्गल में जब दावाग्नि लगती है तब जैसे पशु-पक्षी इत्यादि परली तरफ भागते हैं (३१) अथवा उदयाचल पर्वत पर चमकते हुए सूर्य के दिखाई देते ही जैसे अन्धकार आकाश में विलीन हो जाता है, (३२) वैसे ही जब श्रवणरूपी महाद्वार मे गीतारूपी गर्जना होती है तब सृष्टि के आरम्भ तक के पाप भाग जाते हैं। (३३) वंशावली इस प्रकार शुद्ध और पुण्यरूप हो जाती है, तथा उसे और एक बड़ा फल मिलता है—(३४) वह यह कि गीता के जितने अक्षर कान में जा पड़ें मानों उतने ही वह अश्वमेध यज्ञ कर चुका। (३५) अत गीता श्रवण से पापों का नाश होता, तथा धर्म की उन्नति होती है जिससे अन्त में स्वर्गरूपी सम्पत्ति प्राप्त होती है। (३६) वास्तव में गीता श्रवण करनेहारा, मेरे पास पहुँचने के लिए, स्वर्ग का पहला मुक़ाम करता है। पश्चात् चाहे जब मेरा उपभोग लेता और अनन्तर मुझमें ही मिल जाता है, (३७) इस प्रकार हे धनञ्जय! पठन करनेहारे को और सुननेहारे को गीता महा आनन्दरूपी फल देती

है। और अधिक क्या कहूँ। (३८) इसलिए बस। परन्तु जिसके पीछे हमने इस शास्त्र का विस्तार किया उस तुम्हारे कार्य के विषय में अब तुमसे पूछते हैं। (३९)

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

तो कहो हे पाण्डव! यह सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त तुम, सन्देह-रहित होकर, समझ चुके या नहीं? (१५४०) हमने जो सिद्धान्त जिस रीति से तुम्हारे श्रवणों के हवाले किया उसे उन्होंने वैसा ही तुम्हारे अन्तःकरण में पहुँचा दिया, (४१) अथवा बीच ही में बखेर दिया? अथवा उपेक्षा कर छोड़ दिया? (४२) हमने जैसा निरूपण किया यदि वैसा ही तुम्हारे अन्तःकरण में जम गया हो तो जो कुछ हम पूछते हैं उसका शीघ्र उत्तर दो। (४३) पहले जिस अज्ञानजनित मोह में तुम भूले हुए थे वह अब शेष रहा है या नहीं? (४४) अधिक क्या पूछना है, यही बताओ कि क्या तुम्हें अपने में कर्म या अकर्म कुछ दिखाई देते हैं? (४५) इस प्रश्न के मिस से श्रीकृष्ण पार्थ को आत्मानन्द की सम-रसता में निमग्न हो जाने योग्य भेदबुद्धि की स्थिति पर ले आये। (४६) अर्जुन यदि पूर्णब्रह्म हो जाय तो अगले कार्यार्थ की सिद्धि न हो सकेगी, अतः श्रीकृष्णनाथ ने उसे भेद दशा की मर्यादा को नाँघने देना न चाहा। (४७) अन्यथा वे सर्वज्ञ क्या अपनी ही कृति न जानते थे। परन्तु उन्होंने उपर्युक्त हेतु से ही प्रश्न किया, (४८) एवं ऐसा प्रश्न कर उन्होंने अर्जुन से उसके नाश पाये हुए अर्जुनत्व को उसे लौटाकर, अपनी पूर्णता का वर्णन करवाया। (४९) फिर पूर्ण चन्द्रमा जैसे वास्तव में क्षीर समुद्र से भिन्न न होकर भी उसे छोड़ आकाश में एक तेजोगोल रूप से दिखाई देता है (१५५०) वैसे ही अर्जुन अहंब्रह्मता भूल गया और फिर सब जगत् को ब्रह्म से भरा हुआ समझने लगा। फिर उसने उस बुद्धि को भी छोड़ दिया जिससे उसके ब्रह्मत्व का ही लोप हो गया। (५१) इस प्रकार ब्रह्मरूपता का मण्डन या लोप करते हुए वह कष्ट के साथ 'मैं अर्जुन हूँ' एवं रूप प्रतीति सहित देहस्थिति पर जा पहुँचा। (५२) फिर अपने कँपते हुए हाथों से शरीर के रोमाञ्च मिटाता हुआ, स्वेदजल के बिन्दु पोंछता हुआ, (५३)

प्राणों की क्षुब्धता से डोलते हुए देह को सँभालकर स्तब्ध रहता हुआ, और हलचल करना भूलता हुआ, (५४) आँखों के अश्रुप्रवाह से उभराती हुई आनन्दामृत की बाढ़ को रोकता हुआ, (५५) अनेक उत्सुकताओं के समुदाय से जो अत्यन्त कण्ठ भर आया था उसे फिर हृदय में दबाता हुआ, (५६) वाणी की घिग्घी बँध गई थी उसे तथा प्राणों को सँभालता हुआ, अनियमित श्वासोच्छ्वासों को पूर्वस्थिति पर लाता हुआ (५७)

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

—अर्जुन बोला,—हे देव ! आप क्या यह पूछते हैं कि मुझे अभी तक मोह हो रहा है या नहीं ? तो महाराज ! वह तो अपने कुटुम्ब-सहित अपना डेरा-डण्डा उठाकर चलता बना। (५८) सूर्य किसी के पास आवे और फिर उससे पूछे कि क्या तुम्हें अँधेरा दिखाई देता है ! ऐसा कहीं हुआ है ? (५९) वैसे ही हे श्रीकृष्णराज ! जब आप हमारे नेत्रों के सन्मुख हैं तब कौन सी बात असम्भव हो सकती है ? (१५६०) इस पर भी आपने माता से भी अधिक प्रेम के साथ विस्तारपूर्वक ऐसे ज्ञान का उपदेश किया है जो और किसी उपाय से ज्ञात नहीं हो सकता। (६१) फिर अब आप कैसे पूछते हैं कि मेरा मोह शेष है या चला गया ? महाराज ! मैं आपकी कृपा से कृतार्थ हो चुका। (६२) मैं अर्जुनत्व में उलझा हुआ था सो आपरूप हो मुक्त हो गया। अब पूछना या उत्तर देना दोनों बातें नहीं रहीं। (६३) आपकी कृपा से जो आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है वह मोह को जड़ों का बचने ही नहीं देता। (६४) अब कर्म करना या न करना जिस द्वैत के कारण उत्पन्न होता है वह सर्वत्र आपके अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। (६५) इस विषय में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं रहा। मैं निश्चय से वह वस्तु हूँ जहाँ कर्म का अस्तित्व ही नहीं है। (६६) आपकी कृपा से मुझे निजत्व की प्राप्ति हो गई तथा मेरे कर्म का नाश हो गया है। अब आपकी आज्ञा के अतिरिक्त मुझे कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा। (६७) क्योंकि जिसे देखने से अन्य दृश्य का नाश हो जाता है, जिस द्वैत से अन्य द्वैत का लोप हो जाता है, जो एक ही है

पर सर्वत्र बसता है, (६८) जिसके सम्बन्ध से बन्ध मिट जाता है, जिसकी आशा से अन्य आशाएँ टूट जाती हैं, जिसकी भेंट होने से सर्वत्र आत्मस्वरूप की ही भेंट होती है (६९) वही आपकी गुरुमूर्ति जो मुझ अकेले की सहकारिणी है [वह गुरु-मूर्ति कैसी है ? कि] जिसके लिए अद्वैत ज्ञान के परे जाना पड़ता है, (१५७०) प्रथम स्वयं ब्रह्म होकर कर्तव्याकर्तव्य का नाश कर फिर जिसकी निःसीम सेवा हो सकती है, (७१) समुद्र को पहुँचते ही जैसे गङ्गा समुद्र-रूप हो जाती है वैसे ही जो भक्तों को निजपद का उत्तमोत्तम लाभ प्राप्त करा देती है, (७२) ऐसी जो आपकी निरुपाधिक सद्गुरुमूर्ति है वह, हे श्रीकृष्ण ! मुझे सेवनीय है। अतः ब्रह्मत्व का मैं इतना ही उपकार मानता हूँ (७३) कि आपमें और मुझमें जो भेद का प्रतिबन्ध था उसे मिटा कर उसने आपको सेवा का सुख और भी अधिक मधुर कर दिया। (७४) अतः हे सकल देवों के अधिदेवराज ! अब मैं आपकी जो आज्ञा होगी सो करूँगा। आप चाहे जो आज्ञा करें। (७५) अर्जुन के ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण आनन्द में भूले हुए नाचने लगे और कहने लगे कि मुझ विश्वफल को अर्जुनरूपी एक फल और उत्पन्न हुआ है। (७६) क्षीरसागर क्या अपने पुत्र चन्द्रमा को पूर्ण कलाओं से युक्त देखकर मर्यादा नहीं नाँघता ? (७७) इस प्रकार संवादरूपी विवाहभूमि पर दोनों के अन्तःकरणों का विवाह होता देखकर सञ्जय आनन्द में निमग्न हो गया। (७८) इस प्रकार सुखी हो सञ्जय ने कहा कि श्रीकृष्ण अत्यन्त कृपानिधि हैं जो उन्होंने अर्जुन को अपने हृदय की बात बताई। (७९) उस आनन्द में सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि महाराज श्रीव्यास ने हम दोनों की खूब रक्षा की। (१५८०) आपके तो चर्मचक्षु भी नहीं हैं तथापि आपको ज्ञानदृष्टि का व्यवहार करने की शक्ति प्राप्त करा दी (८१) और केवल घोड़ों की परीक्षा करने के लिए ही रथ पर चढ़नेवाले मुझको भी ये बातें मालूम हो गईं। (८२) इधर युद्धरूपी घोर और कठिन अवसर है, दोनों में से किसी की भी हार हो तथापि अपनी ही हार के बराबर है, (८३) ऐसे सङ्कट के विद्यमान रहते भी श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द का उपभोग करवाते हैं यह उनका कितना बड़ा अनुग्रह है ? (८४) सञ्जय ने इतना कहा तथापि पत्थर पर चन्द्रकिरण पड़ें तो जैसे वह नहीं पसीजता है वैसे ही धृतराष्ट्र भी न पसीज कर चुप हो रहा। (८५) राजा की ऐसी स्थिति देखकर सञ्जय ने वह बात

छोड दी परन्तु आनन्द से बौराया हुआ वह फिर बोलने लगा। (८६) वह हर्षवेग में भूला हुआ था, इसी लिए धृतराष्ट्र से बोला अन्यथा वह जानता था कि ये वचन धृतराष्ट्र के सुनने योग्य नहीं हैं। (८७)

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

उसने कहा—हे कुरुराज! आपके भ्रातृपुत्र अर्जुन ने उपर्युक्त वचन कहे जिनसे श्रीकृष्ण को बहुत आनन्द हुआ। (८८) अजी, समुद्र पूर्व में भी है और पश्चिम में भी, बस इतने से ही भिन्नता हुई है, अन्यथा सब जल एक ही है, (८९) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन शरीर से ही जुदे-जुदे दिखाई देते हैं, अन्यथा इस संवाद के समय तो कुछ भेद नहीं जान पडता। (१५९०) यदि दर्पण से भी स्वच्छ दो वस्तुएँ एक-दूसरी के सन्मुख की जायें तो जैसे वे एक-दूसरी में अपना ही स्वरूप देखेंगी, (९१) वैसे ही श्रीकृष्ण में अर्जुन, श्रीकृष्णसहित निज को देखने लगा तथा श्रीकृष्ण अर्जुन में, अर्जुनसहित, निज को देखने लगे। (९२) देव अपने स्वरूप में जहाँ निज को और अर्जुन को देखते हैं उसी भाग में अर्जुन भी दोनों को देखने लगा। (९३) द्वैतभाव है ही नहीं, इसलिए वे क्या करें—दोनों एकरूप ही रहे। (९४) फिर यदि भेद चला जाय तो प्रश्न और उत्तर कैसे हो सकते हैं? तथा भेद बना रहे तो संवादसुख कैसे हो सकता है? (९५) अत यद्यपि वे द्वैतरूप से बोलते थे तथापि संवाद सुख का अनुभव लेते हुए द्वैत का नाश करते थे। ऐसा दोनों का सम्भाषण मैंने सुना। (९६) दो दर्पण घिस कर आमने-सामने रक्खे जायँ तो कौन किसे देखता समझा जाय? (९७) अथवा दीपक के सामने दीपक रखिए तो कौन किसका प्रकाशक कहा जा सकता है? (९८) नहीं नहीं, सूर्य के सन्मुख और कोई सूर्य उदित हो तो प्रकाशक कौन है और प्रकाश्य कौन है? (९९) इसका निश्चय करने की चेष्टा करने से निश्चय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार वे दोनों संवाद करते हुए एकरूप हो गये थे। (१६००) अजी! दो ओर से जल के प्रवाह आ मिलें और उनका प्रतिबन्ध करने के लिए बीच में लवण डाला जाय तो वह भी जैसे क्षणभर में उसी रूप का हो जाता है, (१) उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ वह भी मुझे वैसा ही प्रतीत

होता है। (२) सञ्जय इन शब्दों को पूरा पूरा मुख से निकाल भी न पाया था कि अष्ट सात्विक भाव, उसकी सञ्जयत्व की स्मृति को, न जाने कहाँ हर ले गये। (३) ज्यों-ज्यों इसके रोमाञ्च खड़े होते त्यों-त्यों शरीर सङ्कोच पाता था। फिर स्तब्धता और स्वेद को जीत कर कम्प अकेला प्रकट होता था। (४) अद्वैत के आनन्द-स्पर्श से दृष्टि रसभरी हो गई थी। नेत्रों से बहता हुआ जल आँसू नहीं मानों केवल द्रवत्व ही था। (५) आनन्द से उसका हृदय फूला नहीं समाता था। कण्ठ में न जाने क्या अटकता-सा जान पड़ता था और श्वासोच्छ्वास शब्दार्थ से गले मिलते जाते थे। (६) बहुत क्या कहें, आठों सात्विक भावों से सञ्जय की अत्यन्त घिग्घी बँध गई। इस प्रकार वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद-सुख का चौराहा बन गया। (७) उस सुख का जाति-धर्म ही ऐसा है कि उससे आप ही आप शान्ति प्राप्त होती है। तदनन्तर सञ्जय को फिर से देह की स्मृति हुई। (८)

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥७५॥

तब आनन्द की बाढ़ के उतरने पर सञ्जय ने कहा कि महाराज मैंने श्रीव्यास की कृपा से आज वह बात सुनी जो उपनिषद् भी नहीं जानते। (९) यह संवाद सुनते ही मैंने ब्रह्मत्व को भेंट लिया। हम-तुम-भाव-सहित मेरी विषयदृष्टि जाती रही। (१६१०) सम्पूर्ण योग-रूपी मार्ग जिस स्थान को जा पहुँचते हैं उस श्रीकृष्ण के वचन मुझे व्यासजी ने सुलभ कर दिये। (११) अजी! श्रीकृष्ण ने वास्तव में अर्जुन-रूप से निज को ही दूसरा भेष दे निज को ही जो कुछ उपदेश किया (१२) उसे सुनने के लिए मेरे कानों को भी योग्यता प्राप्त हो गई। श्री गुरु की सामर्थ्य स्वतंन्त्र है। उसका क्या वर्णन करूँ! (१३)

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥७६॥

राजा से ये वचन कहते हुए सञ्जय विस्मित होता और जैसे रत्न की कान्ति कभी हिलोरें लेती और कभी रत्न में लीन हो जाती है वैसे, आप भी उस संवाद में लीन हो जाता था। (१४) जैसे

हिमालय के सरोवर, चन्द्रोदय होने के साथ स्फटिक हो जाते और सूर्योदय होते ही फिर जलरूप हो जाते हैं, (१५) वैसे ही शरीर की स्मृति होते ही सञ्जय चित्त में उस संवाद की स्मृति करता और फिर तद्रूप हो जाता था। (१६)

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

फिर सञ्जय उठा और बोला—हे राजा! श्रीहरि का विश्वरूप देखकर आप कैसे चुप बैठे रह सकते हैं? (१७) न देखते भी जो दिखाई देता है, जो अभावरूप में ही विद्यमान है, विस्मृति करने से भी जिसका स्मरण होता है वह कैसे टाला जा सकता है? (१८) इतना भी तो अवकाश नहीं कि उसे देखकर आश्चर्य किया जाय। यह आनन्द की बाढ़, मेरे सहित, सब कुछ बहाये लिये जा रही है। (१९) इस प्रकार सञ्जय ने श्रीकृष्णार्जुन-संवाद-रूपी सङ्गम में स्नान कर अपनी अहंता पर तिलाञ्जलि छोड़ी, (१६२०) और उस अटल आनन्द में वह असाधारण रूप से साँसें भरता और बार बार गद्गद वाणी से श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण कहता था। (२१) धृतराष्ट्र को इस अवस्था का स्पर्श भी न था। अतः ज्यों ही राजा उसकी कुछ कल्पना करने लगा (२२) त्यों ही सञ्जय ने अपने सुखलाभ को आप ही आप स्थिर कर अपना सात्त्विक अहङ्कार छोड़ दिया। (२३) तब वास्तव में जिस बात का उपक्रम होना चाहिए था उसे छोड़ राजा ने कहा—हे सञ्जय! तुम्हारी यह बात क्या है? (२४) तुम्हें व्यासजी ने यहाँ किस उद्देश से बैठाया है और तुम बीच में न जाने क्या अप्रासङ्गिक बात कह रहे हो? (२५) जङ्गल में रहनेहारे को यदि किसी महल में रक्खा जाय तो उसे दसों दिशाएँ सूनी प्रतीत होती हैं, अथवा इधर दिन निकलता है तो निशाचर उसे अपनी रात समझता है; (२६) इस प्रकार जो जिस विषय का महत्त्व नहीं जानता उसे वह भयकारक जान पड़ता है। इसलिए उस विषय की वार्ता राजा के लिए अप्रासङ्गिक ही समझनी चाहिए। (२७) फिर राजा ने कहा—सम्प्रति यह कहो कि यह जो युद्ध हो रहा है उसमें अन्त में जीत किसकी होगी? (२८) साधारणतः हमारे मन में तो प्रायः यही आता है कि दुर्योधन ही अधिक प्रतापशाली है (२९) और पाण्डवों की सेना से उसकी सेना भी ड्योढ़ी है; अतः क्या

उसी की जीत न होगी ? (१६३०) हम तो यही समझते हैं; पर न जाने तुम्हारे ज्योतिष में क्या आता हो ? इसलिए हे सञ्जय ! जैसा हो वैसा कहो। (३१)

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इस पर सञ्जय ने कहा—महाराज ! इनकी जय होगी या उनकी, यह मैं नहीं जानता। पर इतना सच है कि जहाँ आयु शेष है वहाँ जीवन विद्यमान रहता है। (३२) जहाँ चन्द्रमा वहीं चन्द्रिका, जहाँ शङ्कर वहीं पार्वती, तथा जहाँ सन्त वहीं विवेक की बस्ती रहती है। (३३) जहाँ राजा वहीं उसकी सेना, जहाँ सुजनता वहीं मित्रता, जहाँ अग्नि वहीं जलाने की सामर्थ्य रहती है। (३४) जहाँ दया तहाँ धर्म, जहाँ धर्म तहाँ सुख की प्राप्ति, और जहाँ सुख वहीं पुरुषोत्तम का निवास है। (३५) जहाँ वसन्त वहीं वन-शोभा प्रकट होती है, जहाँ वन की बहार हो वहीं फूल खिलते हैं, और जहाँ फूल खिले हों वहीं भ्रमरों के समुदाय इकट्ठे होते हैं। (३६) जहाँ गुरु हों वहीं ज्ञान विद्यमान है। जहाँ ज्ञान हो तहाँ आत्मदर्शन होता है, तथा जहाँ आत्मानुभव हो वहीं समाधान होता है। (३७) जहाँ सौभाग्य हो वहीं सुखोपभोग प्राप्त होते हैं, जहाँ सुख वहीं आनन्द होता है, तथा जहाँ सूर्य वहीं प्रकाश रहता है। (३८) वैसे ही हे स्वामी ! जिनके सब पुरुषार्थ सनाथ हुए हैं वे श्रीकृष्णराज जहाँ हों वहीं लक्ष्मी रहती है; (३९) और वह जगदम्बा लक्ष्मी जिस अपने पति के पास हो, क्या अणिमा इत्यादि सिद्धियाँ उसकी दासियाँ नहीं हो जातीं ? (१६४०) श्रीकृष्ण स्वयं विजयस्वरूप हैं, अतः वे जिस ओर हों उधर ही जय भी समझो। (४१) अर्जुन विजय नाम से प्रसिद्ध हैं, और श्रीकृष्णनाथ विजयस्वरूप हैं, इसलिए लक्ष्मी-सहित विजय भी निश्चय से वहीं है। (४२) जिसके ऐसे श्रेष्ठ माता-पिता हैं उसके देश के वृक्ष कल्पवृक्ष को भी क्यों न मात करें ? (४३) वहाँ के पत्थर भी चिन्तामणि क्यों न बन जायँ ? वहाँ की भूमि सुवर्ण क्यों न हो जाय ? (४४) उसके गाँव की नदियों में अमृत बहे तो हे महाराज ! क्या आश्चर्य है ? आप ही विचार देखिए। (४५) उसके मुख से निकले हुए अव्यवस्थित शब्दों को वेद कहा जा सकता है, एवं

वे मूर्तिमान्सच्चिदानन्द क्यों न हों ? (४६) तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण जिसके पिता और लक्ष्मी जिसकी माता है उसके अधीन स्वर्ग और मोक्ष दोनों पद हैं। (४७) अतएव वे लक्ष्मीकान्त जिस पक्ष में खड़े हैं वहाँ सब सिद्धियाँ आप ही आप उपस्थित होती हैं। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता। (४८) और मेघ समुद्र से उत्पन्न होता है पर उपयोग में उससे श्रेष्ठ होता है, वही सम्बन्ध आज अर्जुन और श्रीकृष्ण का हो रहा है। (४९) लोहे को सुवर्णत्व की दीक्षा देनेहारा गुरु पारस है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु जगत् के पोषण करने का व्यवहार सुवर्ण ही जानता है। (१६५०) इससे कोई यह न समझे कि गुरुत्व कुछ न्यून है। दीपकरूप से अग्नि ही अपने प्रकाश को प्रकाशित करती है; (५१) वैसे ही श्रीकृष्ण की शक्ति द्वारा ही अर्जुन श्रीकृष्ण से अधिक प्रतीत होता है। इस स्तुति से श्रीकृष्ण की महिमा का ही वर्णन होता है। (५२) पिता की यही इच्छा रहती है कि मेरी अपेक्षा मेरा पुत्र सब गुण-सम्पन्न और बढ़ कर निकले। श्रीकृष्ण की यह इच्छा सफल हो चुकी। (५३) बहुत क्या कहूँ, हे नृप ! अर्जुन इस प्रकार श्रीकृष्ण की कृपा से युक्त हो रहा है। वह जिस ओर का पक्ष ले रहा है (५४) वहाँ विजय का ठौर है, इसमें तुम्हें सन्देह ही क्यों है ? वहाँ विजय न हो तो विजय की विजयता वृथा हो जावेगी। (५५) अत: जहाँ लक्ष्मी वहाँ श्रीमान् रहते हैं, वैसे ही जहाँ पाण्डुसुत अर्जुन हो वहाँ सम्पूर्ण विजय और वहाँ अभ्युदय रहेगा। (५६) यदि आप व्यासजी की बात पर विश्वास रखते हों तो इन वचनों को निश्चय से सत्य मानिए। (५७) जहाँ श्रीपति श्रीकृष्ण हों वहाँ उनका भक्तसमुदाय रहता है, और वहीं सुख और कल्याण का लाभ होता है। (५८) ये वचन यदि अन्यथा हों तो मुझे श्रीव्यास का शिष्य न कहिए। इस प्रकार सञ्जय ने हाथ उठा कर गर्जना कर कहा। (५९) उसने सम्पूर्ण महाभारत का सार एक श्लोक में लाकर धृतराष्ट्र के हाथ पर रख दिया। (१६६०) जैसे अग्नि न जाने कितनी रहती है, परन्तु सूर्य की अनुपस्थिति की त्रुटि पूर्ण करने के लिए उसे दत्ती के अग्रभाग पर रख कर लाते हैं, (६१) वैसे ही वेद अनन्त हैं, वही सवा लाख श्लोक-युक्त महाभारत में प्रकट हैं, और महाभारत का सर्वस्व गीता के सात सौ श्लोकों में कहा है। (६२) उन सात ही सौ श्लोकों का पूर्ण अभिप्राय इस अन्तिम श्लोक में कहा है जो कि व्यास-शिष्य-सञ्जय का

पूर्णोद्‌गार है। (६३) जो इसी एक श्लोक से सम्पन्न हो जायगा वह सम्पूर्ण अविद्या को भली भाँति जीत लेगा। (६४) इस प्रकार गीता के सात सौ श्लोक मानों उसके पद [पैर] ही हैं जो स्वयं चल रहे हैं, अथवा इन्हें पद कहूँ कि गीतारूपी आकाश से गिरी हुई परमामृत की वर्षा कहूँ! (६५) अथवा, ये श्लोक मुझे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों आत्मारूपी राजा के सभा-मन्दिररूप गीता के खम्भे हों; (६६) अथवा, गीता मानों सप्तशत मन्त्रों से पूजन करने योग्य देवी है जो मोहरूपी महिषासुर को मार कर आनन्दित हुई है। (६७) अतएव जो काया, वाचा और मन से इसकी सेवा करता है उसे यह स्वानन्द-साम्राज्य का राजा बना देती है; (६८) अथवा, श्रीकृष्णराज ने गीता के मिस से ऐसे श्लोक-रूपी सूर्य प्रकाशित किये हैं जो अविद्या का नाश करने में, अन्धकार का नाश करनेहारे सूर्य को सरासर मात करते हैं; (६९) अथवा, संसार-मार्ग में थके हुए पथिकों की विश्रान्ति के लिए गीता मानों श्लोकाक्षर-रूपी द्राक्षलता से युक्त एक मण्डप बनाई गई है; (१६७०) अथवा, यह गीता श्रीकृष्ण नामक सरोवर में फैली हुई है, जिसके श्लोक-रूपी कमलों की सुगन्ध भाग्यवान् सन्तरूपी भ्रमर सेवन करते हैं; (७१) अथवा, ये श्लोक नहीं—बड़े-बड़े भाटों के समान गीता की महिमा वर्णन करनेहारे कोई हैं; (७२) अथवा, सब शास्त्र गीतारूपी नगर में इन श्लोकों की सुन्दर बाड़ी बनाकर उसमें बसने के लिए आये हैं; (७३) अथवा ये श्लोक नहीं, गीता ने अपने पति आत्मा को प्रेम से आलिङ्गन देने के लिए ये अपनी बाँहें फैलाई हैं; (७४) अथवा ये गीतारूपी कमल के भृङ्ग हैं, वा गीता-समुद्र की लहरें हैं, वा श्रीहरि के गीतारूपी रथ के घोड़े हैं; (७५) अथवा अर्जुन-रूपी सिंहस्थ प्राप्त हुआ है, इसलिए श्लोकरूपी सब तीर्थसमुदाय श्रीगीतारूपी गङ्गा के समीप प्राप्त हुए हैं; (७६) अथवा, ये श्लोकमाला नहीं—चिन्तारहित पुरुषों के चित्त के लिए एक चिन्तामणि हैं, किंवा निर्विकल्पों के लिए मानों कल्पवृक्ष ही लगाये गये हैं। (७७) इस प्रकार ये सात सौ श्लोक हैं, जो कि एक से एक बढ़ कर हैं। अतः किसका विशेष वर्णन किया जाय? (७८) कामधेनु की ओर दृष्टि दे जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह पड़िया है और यह दुधैल है, (७९) दीपक अगला या पिछला, सूर्य छोटा या बड़ा, अमृत का समुद्र गहरा या उथला—कैसे कहा

जा सकता है ? (१६८०) वैसे ही गीता के श्लोकों में भी यों नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथम है और यह अन्तिम। पारिजात का फूल क्या नया-पुराना कहा जा सकता है ? (८१) और श्लोक अनुपम हैं, इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या है ? यहाँ वाच्य और वाचक का भेद भी नहीं है, (८२) क्योंकि इस प्रसिद्ध बात को हर कोई जानता है कि इस शास्त्र में एक श्रीकृष्ण ही वाच्य और वही वाचक हैं। (८३) इसमें जो लाभ अर्थ से होता है वही पाठ से भी होता है, अतः यह शास्त्र निश्चय से वाच्य और वाचक की एकता सिद्ध करता है। (८४) इसलिए ऐसी कोई बात ही नहीं बची जिसका मैं समर्थन करूँ। इस गीता को श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति समझो। (८५) शास्त्र जब वाच्य और अर्थप्राप्ति-द्वारा फलरूप होता है तब उसका शास्त्ररूप मिट जाता है। परन्तु गीता वैसा शास्त्र नहीं है। वह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है। (८६) देखिए, श्रीकृष्ण ने किस तरह अर्जुन को निमित्त बना, सब जगत् पर दया कर, यह महानन्द सुलभ रूप से प्रकट किया! (८७) जैसे कलावान् चन्द्रमा, चकोर के निमित्त से, तीनों सन्तप्त भुवनों को शान्ति पहुँचाता है, (८८) अथवा जैसे शङ्कर ने, गौतम के मिस से, कलिरूपी कालज्वर से पीड़ित लोगों के हेतु गङ्गा का *प्रवाह बहाया है (८९) वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गाय ने पार्थ को वत्स बना यह गीता रूपी दूध सम्पूर्ण जगत् के लिए दे रक्खा है। (१६९०) इसमें यदि जीव-भाव से नहाओगे तो तद्रूप ही हो जाओगे, अथवा यदि पाठ के बहाने इससे जिह्वा लगाओगे (९१) तो भी [जैसे लोहे का एक अंश भी पारस का स्पर्श करे तो अन्य सब लोहा आप ही आप सोना बन जाता है (९२) वैसे ही पाठरूपी कटोरी में रख श्लोक का एक ही चरण ओठों से लगाया नहीं कि] शरीर में ब्रह्मत्व की पुष्टि भर जायगी (९३) अथवा, इसकी ओर टेढ़ा मुँह करके करवट लेने पर भी यदि ये श्लोक कान में जा पड़ें तो भी वही फल होगा। (९४) क्योंकि जैसे कोई श्रीमान् दाता किसी को 'ना' नहीं कहता, वैसे ही गीता भी श्रवण करने से, पाठ करने से, या अर्थ करने से किसी को मोक्ष से कम कोई फल ही नहीं देती। (९५) इसलिए ज्ञानप्राप्ति के निमित्त गीता की ही सेवा करो। अन्य सब शास्त्रों का क्या करोगे ? (९६) श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ उसे श्रीव्यास ने हथेली में

लेने योग्य सुलभ कर दिया है। (९७) अत्यन्त प्रेम के साथ माता जब बालक को भोजन कराने बैठती है तो ऐसे कौर बनाती है कि वह खा सके; (९८) अथवा, जैसे पङ्खा निर्मित कर चतुर मनुष्य ने अपार वायु को भी अधीन कर लिया है, (९९) वैसे ही जो शब्द से प्राप्तव्य नहीं है उसी वेद को श्रीव्यास ने अनुष्टुप छन्द में रच कर स्त्री, शूद्र इत्यादि की बुद्धि में समाविष्ट होने योग्य बना दिया है। (१७००) स्वाती के जल से यदि मोती न बनते तो क्या वे सुन्दर स्त्रियों के शरीरों को सुशोभित कर सकते थे? (१) नादब्रह्म यदि वाद्य में न आ बसता तो क्या वह हमें गोचर हो सकता था? फूल उत्पन्न न होते तो सुगन्ध कैसे ली जा सकती? (२) पक्वान्न मधुर न होते तो वे रसना को कैसे भा सकते? दर्पण न हो तो क्या नेत्र निज को ही देख सकते हैं? (३) निराकार श्रीगुरु-मूर्ति ने यदि साकारता न स्वीकारी होती तो वे उपासकों की सेवा कैसे ग्रहण करते? (४) वैसे ही ब्रह्म [जो असंख्यात है] यदि सात सौ श्लोक-संख्यागत न होता तो संसार में उसकी प्राप्ति किसे हो सकती थी? (५) मेघ समुद्र का जल भर लाते हैं पर संसार उन्हीं की ओर दृष्टि लगाये रहता है, क्योंकि जो वस्तु अपरिमित है वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकती, (६) वैसे ही यदि ये सुन्दर श्लोक न होते तो यह कैसे सम्भव हो सकता कि जो वस्तु वाचा से प्राप्तव्य नहीं है वह हमारे कानों को और मुख को प्राप्त हो जाती! (७) अतएव श्रीव्यास ने जो श्रीकृष्ण के सम्भाषण को ग्रंथ का आकार दिया यह उनका संसार पर बड़ा उपकार हुआ है। (८) और उसी को मैंने भी, श्रीव्यास के पद देख-देखकर, भाषा में श्रवण करने योग्य बना दिया है। (९) जहाँ व्यास आदि मुनियों की बुद्धियाँ शङ्कित हो व्यवहृत होती हैं वहाँ मुझ जैसे एक रङ्क ने भी कुछ बकबक की है! (१७१०) परन्तु गीतारूपी ईश्वर अत्यन्त भोला है। वह व्यासोक्ति-रूपी पुष्पों की माला धारण करता है, तथापि मेरे दूर्वाङ्कुरों के लिए भी 'न' नहीं कहता। (११) क्षीरसमुद्र के तट पर पानी पीने के लिए हाथियों के समुदाय आते हैं, तथापि क्या वह मच्छर को कभी मना करता है? (१२) नूतन पङ्ख फूटे हुए पखेरू उड़ नहीं सकते तथापि आकाश में ही स्थिर रहते हैं, और गगन का पार करनेवाला गरुड़ भी उसी आकाश में रहता है; (१३) राजहंस की मन्द गति संसार में उत्तम गिनी जाती

है इसलिए क्या और किसी को चलना ही न चाहिए? (१४) अपनी सामर्थ्य के अनुसार गगरी बहुत सा जल रख सकती है तो क्या चुल्लू में चुल्लू के परिमाण भर जल नहीं भरा जा सकता? (१५) मशाल बड़ी होती है, अतः उसका प्रकाश भी बहुत होता है, परन्तु एक बत्ती भी अपने अनुरूप प्रकाश देती ही है या नहीं? (१६) अजी, समुद्र में आकाश समुद्र विस्तार के अनुरूप प्रतिबिम्बित होता है, डबरे में डबरे के अनुरूप प्रतिबिम्बित होता है, पर होता है अवश्य; (१७) वैसे ही यह बात युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ती कि व्यास इत्यादि महाज्ञानी इस ग्रन्थ पर विचार करते हैं इसलिए हम चुप हो रहें। (१८) जिस समुद्र में मन्दराचल के समान जलचर सञ्चार करते हैं वहाँ, उन जलचरों के सामने, क्या मछलियाँ तैरने के योग्य नहीं होतीं? (१९) अरुण सूर्य के अत्यन्त पास रहनेहारा है इसलिए वह सूर्य को देखता है, तो क्या पृथ्वी पर की चिउँटी उसे नहीं देख सकती? (१७२०) अतएव इस अनुचित उक्ति का कुछ प्रयोजन नहीं है कि हम प्राकृत जनों के लिए भाषा में गीतार्थ करना मना है। (२१) बाप आगे चलता है, उसी के पाँवों की ओर दृष्टि दे बालक चले तो क्या वह पाँव न चला सकेगा? (२२) वैसे ही व्यासजी के पीछे-पीछे भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य से मार्ग पूछकर चलता हुआ मैं, यद्यपि अयोग्य हूँ तथापि, इष्ट स्थल को न पहुँचूँगा तो कहाँ जाऊँगा? (२३) और जिसके क्षमागुण के कारण पृथ्वी स्थावर-जङ्गम पदार्थों को धारण करती हुई नहीं ऊबती, जिसके अमृत गुण के द्वारा चन्द्रमा संसार को शीतलता पहुँचाता है, (२४) जिसके अङ्ग के तेज की प्राप्ति से सूर्य अन्धकार के परिणामों का नाश करता है, (२५) समुद्र ने जहा से जलता प्राप्त की है, जल ने जहाँ से मधुरता प्राप्त की है, और जिसके कारण मधुरता को सौन्दर्य प्राप्त है, (२६) पवन को जिसका बल है, आकाश जिससे विस्तृत है, और ज्ञान जिससे उज्ज्वल और चक्रवर्ती राजा के समान श्रेष्ठ हुआ है, (२७) जिसके कारण वेदों को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई है, सुख जिससे उल्लसित होता है, अथवा सब जगत् ने जिसके कारण रूप धारण किया है (२८) वह सब पर उपकार करनेहारा समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे हृदय में भी प्रविष्ट हो व्यापार कर रहा है, (२९) तो फिर मैं आप ही आप संसार में भाषा में गीता कहने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसमें आश्चर्य

की बात ही क्या है ? (१७३०) श्रीगुरु के नाम से पहाड़ पर एक [एकलव्य नामक] कोली ने मिट्टी की ही मूर्त्ति बनाकर तीनों जगतों को अपनी कीर्ति से एक कर डाला था। (३१) चन्दन के पड़ोस में रहनेहारे वृक्ष चन्दन की ही योग्यता के हो जाते हैं। वसिष्ठ का आश्रय पाकर उनके डुपट्टे ने भी सूर्य की बराबरी की थी। (३२) फिर मैं तो सचेतन हूँ, और श्रीगुरु जैसे मेरे स्वामी हैं जो दृष्टि-मात्र से ही अपना पद दे देते हैं। (३३) एक तो पहले ही दृष्टि उत्तम हो और उस पर सूर्य के प्रकाश का सहाय मिले, फिर दिखाई न दे ऐसा कैसे हो सकता है ? (३४) अतः मेरे श्वासोच्छ्वास ही नित्य नूतन प्रबन्ध हो सकते हैं। ज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीगुरु-कृपा से क्या नहीं हो सकता ? (३५) अतः मैंने गीता का अर्थ सब लोगों की दृष्टि को गोचर होने योग्य भाषा में किया है। (३६) यह भाषा की वाणी प्रेम से गाई जा सकती है, परन्तु गानेहारे की अपेक्षा होने के कारण वह कुछ अपूर्ण नहीं है। (३७) अतः यदि गीता गाना चाहो तो यह भाषा उस गीता को शोभा देती है, अथवा वैसे ही पढ़ो तो गीता को भी मात करती है। (३८) सुन्दर अङ्ग में अलङ्कार न पहने हों तो वह सादगी भी शोभा देती है, अथवा अलङ्कार पहने हों तब तो खूब ही शोभा होती है। (३९) अथवा जैसे मोतियों का गुण है कि वे सोने को शोभा देते हैं, अथवा जैसे मोतियों की लड़ी अलग भी स्वयं सुन्दर दिखाई देती है, (१७४०) अथवा जैसे वसन्त के आरम्भ की मोगरे की कलियाँ, गुँथी हुई हों या मुक्त हों, सुगन्ध में न्यून नहीं होतीं (४१) वैसा ही मैंने ओवी छन्द में यह प्रबन्ध ऐसा लाभदायक रचा है कि जो गीत में भी बहार देता है और गीत के बिना भी शोभा देता है। (४२) इसमें छोटों से लेकर बड़ों तक सबके समझने योग्य, ब्रह्मरस के सुस्वाद से युक्त अक्षर ओवी प्रबन्ध में गूँथे गये हैं। (४३) सुगन्ध के लिए जैसे चन्दन के वृक्ष में फूल लगने की बाट नहीं जोहनी पड़ती, (४४) वैसे ही यह प्रबन्ध, कान में पड़ते ही, समाधि प्राप्त करा देता है, फिर इसका व्याख्यान सुनने से क्या इसकी चाट न लग जावेगी ? (४५) इसका पाठ करने के निमित्त से जो पाण्डित्य प्रकट होता है उसके सन्मुख अमृत भी प्राप्त हो तो तुच्छ जान पड़ेगा। (४६) इस प्रकार यह प्रबन्ध आप ही आप कवित्व का

विश्रान्तिस्थान बन गया है, और इसके श्रवण ने मनन और निदिध्यासन को जीत लिया है। (४७) यह प्रबन्ध हर किसी को आत्मानन्दभोग की प्राप्ति करा देगा और श्रवण के द्वारा सब इन्द्रियों को तृप्त करेगा। (४८) चकोर अपनी शक्ति से चन्द्रमा का उपभोग लेने में प्रसिद्ध है, तथापि जैसे चाँदनी हर किसी को प्राप्त है (४९) वैसे ही इस अध्यात्मशास्त्र से अन्तःकरण तो अधिकारियों का ही सुखी होगा परन्तु वाक्चातुर्य से प्राकृत जन भी सुखी होंगे। (१७५०) इस प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथ की महिमा है। यह ग्रन्थ नहीं, उन्हीं की कृपा का वैभव है। (५१) क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशङ्कर ने पार्वती के कानों में न जाने कब एक बार जो उपदेश किया (५२) वह क्षीरसमुद्र की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में जो मत्स्येन्द्रनाथ गुप्त थे उनके हाथ लगा। (५३) वे मत्स्येन्द्रनाथ सप्तशृङ्ग पर्वत पर चौरङ्गीनाथ से मिले जिनके कि हाथ-पाँव लूले थे। मिलते ही चौरङ्गीनाथ पूर्णाङ्ग हो गये। (५४) तदनन्तर अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उस मुद्रा का उपदेश गोरक्षनाथ को किया। (५५) उससे मानों उन्होंने योगरूप कमलिनी के सरोवर, विषयों का विध्वंस करनेहारे एक ही वीर सर्वेश्वर शङ्कर हैं उन्हीं को उस पद पर अभिषिक्त किया। (५६) श्रीशङ्कर से प्राप्त किया हुआ यह अद्वैतानन्द सुख फिर उनसे सम्पूर्णतः श्रीगैनीनाथ ने सम्पादन किया। (५७) वे सब प्राणियों को कलिकाल में ग्रस्त देखकर दौड़ आये और उन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी (५८) कि आदिगुरु शङ्कर से लेकर शिष्य-परम्परानुसार हमें जो ज्ञान की निधि प्राप्त हुई है, (५९) उस सबको लेकर तुम दौड़ जाओ और कलि के बलि होते हुए इन जीवों की सब प्रकार से शीघ्र रक्षा करो। (१७६०) श्रीनिवृत्तिनाथ पहले ही कृपालु थे, उस पर गुरु की आज्ञा के वचन ऐसे हुए मानो वर्षाकाल में मेघ घिर आये हों। (६१) फिर पीड़ित जनों के प्रेम से गीतार्थनिरूपण के मिस से उन्होंने जो शान्त रस की वर्षा की वही यह ग्रन्थ है। (६२) वहाँ मैं एक चातक इस रस की इच्छा से बैठा हुआ था परन्तु इतने में ही मैं इस यश को प्राप्त हुआ हूँ; (६३) एवं मेरे स्वामी ने गुरुपरम्परा से प्राप्त जो उनका समाधिधन था वही मुझे इस ग्रन्थ के द्वारा उपदेश कर दे दिया। (६४) अन्यथा मैं तो न

कहीं सीखा हूँ न पढ़ा हूँ और स्वामी की सेवा भी नहीं जानता फिर मुझको ग्रन्थ रचने की योग्यता कैसे हो सकती है? (६५) परन्तु यह सत्य जानो कि श्रीगुरुनाथ ने मेरा निमित्त कर इस प्रबन्ध के द्वारा संसार की रक्षा की है। (६६) तथापि पुरोहित की रीति से मैंने आपके सन्मुख जो कुछ थोड़ा-बहुत कहा हो उसे आप सन्तजन माता के समान क्षमा करें। (६७) शब्द की रचना कैसे की जाती है, सिद्धान्त कैसे स्थापित किया जाता है, अलङ्कार किसे कहते हैं, इत्यादि मैं कुछ नहीं जानता। (६८) परन्तु डोरी की गति के अनुसार जैसे कठपुतली चलती है वैसे ही मेरे स्वामी ने जो कुछ बताया वही मैंने कहा है। (६९) इसलिए मैं इस ग्रन्थ के गुण-दोषों के विषय में विशेष क्षमा नहीं माँगता क्योंकि साद्यन्त यह ग्रन्थ मुझसे आचार्य ने ही कहवाया है। (१७७०) और आप सन्तों की सभा में जो कमी आ पड़े वह यदि पूर्ण न हुई तो मैं सप्रेम आप पर ही कोप करूँगा। (७१) पारस का स्पर्श होने पर भी यदि लोहे की लोहत्वरूपी निकृष्ट स्थिति न छूटे तो दोष किसका है? (७२) नाले का काम इतना ही है कि वह गङ्गा से जा मिले, परन्तु तिस पर भी यदि वह गङ्गारूप न हो तो उसका क्या कसूर? (७३) अतः बड़े भाग्य से मुझे आप सन्तों के चरण प्राप्त हुए हैं, अब जगत् में मुझे किस बात की कमी है? (७४) अजी! मेरे स्वामी ने मुझे आप सन्तों का लाभ करा दिया है; इससे मेरे सब मनोरथ परिपूर्ण हो चुके। (७५) देखिए, मुझे आप जैसा नैहर अर्थात् सर्वसाधन प्राप्त स्थान मिला इससे ग्रन्थ रचने का मेरा हठ भली भाँति पूरा हुआ। (७६) अजी! सम्पूर्ण पृथ्वीतल सोने का ढाला जा सकेगा, चिन्तामणियों के पर्वत बनाये जा सकेंगे, (७७) सातों समुद्रों को अमृत से भर देना सुलभ है, तारागणों को चन्द्र बना देना कुछ कठिन नहीं है, (७८) कल्पवृक्षों का बगीचा लगाना कुछ दुर्घट नहीं है, परन्तु गीतार्थ के मर्म की ज्ञान नहीं की जा सकती। (७९) सब तरह से गूँगा होने पर भी मैंने जो भाषा में इसका ऐसा वर्णन कर दिया है कि जो सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखाई दे, (१७८०) इतने बड़े ग्रन्थसागर के पार उतरकर मैं जो कीर्तिरूपी विजय की पताका फहरा रहा हूँ, (८१) प्राकार और कलश-सहित गीतार्थरूपी मन्दिर की रचना कर उसमें जो मैं श्रीगुरुमूर्ति की पूजा कर सका हूँ, (८२)

गीता-रूपी निष्कपटी माता को भूलकर जो बालक वृथा घूम रहा था उसे उस माता की जो भेंट हो गई है वह सब आपकी ही बदौलत। (८३) मैं आप सज्जनों की कृति की ओर दृष्टि देकर कह रहा हूँ। ज्ञानदेव कहते हैं कि आपके उपकार अल्प नहीं हैं। (८४) बहुत क्या कहूँ, आपने जो यह ग्रन्थ-सिद्धि का आनन्द दिखाया वह मानों मेरे सम्पूर्ण जन्मों का फल प्राप्त करा दिया है। (८५) मैंने जो-जो आशायें आपसे की थीं उन सबको पूर्ण कर आपने मुझे बड़ा सुख दिया। (८६) हे स्वामी! मेरे लिए आपने जो यह ग्रन्थरूपी दूसरी सृष्टि ही रची है उसे देख मैं विश्वामित्र की सृष्टि पर हँसता हूँ। (८७) क्योंकि वह नाश होनेवाली सृष्टि त्रिशङ्कु के लिए और ब्रह्मदेव को न्यून ठहराने के लिए बनाई गई थी। परन्तु यह रचना वैसी नहीं है। (८८) शङ्कर ने भी उपमन्यु के प्रेम के वश क्षीर-सागर की रचना की है परन्तु वह भी इसकी उपमा के योग्य नहीं है, क्योंकि उसके गर्भ में विष है। (८९) यह सत्य है कि अन्धकाररूपी राक्षस से ग्रस्त चराचर की रक्षा करने के लिए सूर्य दौड़ आये परन्तु वे भी उष्णता पहुँचाते हुए रक्षा करते हैं। (१७९०) सन्तप्त जगत् के लिए चन्द्रमा अपनी चाँदनी खर्च करता है, परन्तु उस सकलङ्क चन्द्र के समान यह ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है? (९१) अतएव आप सन्तों ने, संसार में मुझ पर जो यह ग्रन्थरूपी उपकार किया है वह निश्चय से निरुपम है। (९२) किंबहुना, यह ग्रन्थ क्या मानों आपका धर्म-कीर्तन ही पूर्ण हुआ है। इसमें मेरी ओर केवल आपकी सेवकाई ही शेष रही है। (९३) अब मेरे विश्वरूप गुरुदेव इस वाग्यज्ञ से सन्तुष्ट हों और सन्तोष के साथ मुझे यह प्रसाद दें (९४) कि दुष्टों की कुटिलता छूटे और उन्हें सत्कर्म में प्रेम उत्पन्न हो, प्राणियों में परस्पर अन्तःकरणयुक्त मित्रता रहे, (९५) पापरूपी अन्धकार का नाश हो, संसार में स्वधर्मरूपी सूर्य प्रकाशित हो, प्राणिमात्र की इच्छायें पूर्ण हों, (९६) सकल मङ्गल की वर्षा करते हुए भगवज्जनों के समुदाय [जो मानों करोड़ों चलते हुए कल्पवृक्षों के समूह हैं, जीवित चिन्तामणियों के गाँव हैं, अथवा अमृत के बोलते हुए समुद्र हैं] प्राणियों को संसार में निरन्तर मिलते रहें। (९७-९८) जो कलङ्करहित चन्द्रमा हैं अथवा ताप-रहित सूर्य हैं उन सज्जनों से सब लोग सदा सम्बन्ध रक्खें। (९९) बहुत क्या कहें, तीनों लोकों में सब लोग सब सुखों से पूर्ण

हो आदिपुरुष का अखण्ड भजन किया करें, (१८००) और विशेषत: जो इस लोक में इस ग्रन्थ पर ही जीवन धारण करते हैं उन्हें इस लोक का और परलोक का सुख प्राप्त हो। (१) इतना सुनकर श्रीगुरु ने कहा कि ठीक है, यह दानप्रसाद दिया जावेगा। इस वर से ज्ञानदेव सुखी हुए। (२) कलियुग में महाराष्ट्र देश में श्रीगोदावरी के दक्षिण तीर पर (३) त्रिभुवन में पवित्र रूप पञ्चक्रोश क्षेत्र है, जहाँ जगत् के जीवनसूत्र श्रीमोहनीराज हैं; (४) वहाँ यादव वंश को शोभा देनेहारा, सकल कलाओं में प्रवीण, न्याय का पालन करनेहारा, श्रीरामचन्द्र नामक राजा था। (५) वहाँ श्रीशङ्कर-परम्परोत्पन्न श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को भाषा के अलङ्कार पहनाये। (६) निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि इस प्रकार, महाभारतरूपी नगर में भीष्मनामक प्रसिद्ध पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो उत्तम संवाद वर्णन किया गया है, (७) जो उपनिषदों का सार है, जो सब शास्त्रों का आकार है, परमहंसरूपी हंस जिस सरोवर का सेवन करते हैं, (८) उसी गीता का कलश यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हो चुका। (९) उत्तरोत्तर काल में सब प्राणिगण इस ग्रन्थ की पुण्य-सम्पत्ति के द्वारा सब सुखों से सम्पूर्ण हों। (१८१०) यह टीका ज्ञानेश्वर ने शक १२७२ में रची और इसे सच्चिदानन्द बाबा ने लिखा। (१८११)

इति श्रीज्ञानदेवकृतभावार्थदीपिकायामष्टादशोऽध्याय:।

श्रीशक १५१२ में तारण नाम संवत्सर में जनार्दन महाराज के शिष्य एकनाथ ने गीता ज्ञानेश्वरी का संशोधन किया। (१) ग्रन्थ पहले से अतिशुद्ध था, किन्तु पीछे से वह शुद्ध ग्रन्थ पाठ-भेदों के कारण असम्बद्ध हो गया था। उसका संशोधन कर ज्ञानेश्वरी शुद्ध की गई है। (२) मैं उन ज्ञानेश्वर महाराज को नमस्कार करता हूँ जिनकी गीता को पढ़ अतिभावुक ग्रन्थार्थियों को ज्ञान-प्राप्ति हो जाती है। (३) बहुत काल के अनन्तर प्राप्त होनेवाले इस भाद्रपद मास के कपिला षष्ठी के उत्तम पर्व के समय, गोदावरी के तीर पैठन क्षेत्र में, यह लेखनकार्य समाप्त हुआ। (४) जो कोई भाषा में ओंवी* बना कर ज्ञानेश्वरी के पाठ में मिलाने की चेष्टा करेगा वह मानों अमृत की थाली में नरेली ही रक्खेगा। (५)

ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका टीका समाप्ता।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

नमः परमात्मने

मङ्गलम्

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥ १॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥ २॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ ३॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥ ४॥

---

* मराठी-वृत्त विशेष।